TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180458

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—67—11-1-68—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83 S25A Accession No. P.G. H1540

Author शास्त्री, चतुरसेन

Title आत्मदाह

This book should be returned on or before the date last marked below.

प्रकाशक—
चौधरी एण्ड सन्स
मीरीबाग, बनारस सिटी।

मुद्रक—
गोपाल प्रेस,
जालिपादेवी रोड, बनारस सिटी

आत्मदाह

लेखक—

हृदय की प्यास, नीलमणि, नबाब ननकू, हृदय की परख,
अमर लालसा, हिन्दू राष्ट्र का नव निर्माण, धर्म के
नाम पर, आरोग्य शास्त्र आदि पुस्तकों के
रचयिता

आचार्य चतुरसेन शास्त्री

BOOK POCKET

प्रकाशक—

चौधरी एण्ड कम्पनी

द्वितीय संस्करण

मूल्य ४॥)

अन्तस्तल में सुनकर ही हँस रही थी। वह अपनी वृद्धा सास को और प्राणाधिक पति को अपनी आँखों के सामने चिन्तित और शोकातुर नहीं देखना चाहती थी, यह उसके आत्म-संयम और आत्म-बलिदान की अन्तिम सीमा थी। उसके बादही तो उसकी संज्ञा और चेष्टा में अन्तर पड़ता गया।"सुधीन्द्र ने सिर हिला दिया। उनके नेत्रों में आँसू उमड़ आये। वे बोल न सके।

माता ने कहा—गत दस-बारह दिन से वह श्वसुरजी को अपने पास बैठाकर भोजन कराती थी। इस हठ के सामने किसी की भी न चली। जिसने चौदह वर्ष के दीर्घ काल में श्वसुर को कण्ठ-स्वर तो एक ओर, पैर का तलुआ भी देखने का अवसर न दिया, वह अनायास ही उनसे कैसी बातें करती थी! क्षण-क्षण में 'पिताजी'-शब्द उसके मुख से निकलता—मानों वह उन्हीं की सगी बेटी थी। वह उन्हीं के हाथों दवा पीती, उन्हें निकट बैठाती, और न-जाने क्या-क्या लाड़ करती थी। क्या वह वीराङ्गना अपने अन्तर्नाद को सुनकर ही महाप्रस्थान की यह तैयारियाँ नहीं कर रही थीं?

सुधीन्द्र की आँख से टप टप आँसू गिरने लगे। माता ने फिर कहना शुरू किया—"ये बच्चे क्या मेरे रह गये? कहने को देवर थे, जवान और घर-बार के; परन्तु उसी के बेटे थे। वह उन्हें सदा गाली देकर बुलाती, पर उसकी गाली थी केवल 'पागल'-शब्द। यह शब्द यदि कभी लड़के न सुनते, तो समझते, भाभी नाराज़ होगई है। उसे बिना मनाये और अपनी गाली सुने न स्वयं खाते, और न खाने देते।

विधाता ने उसकी कोख को बन्द रखा, पर उसके-जैसी माता कौन है; मूर्तिमती माता थी वह।"

इतना कहकर माता चुप होगई। सुधीन्द्र चुपचाप सिर नीचा किये सुन रहे थे। माता को एकाएक चुप देख, उन्होंने उनकी ओर सिर उठाकर देखा, वे धीरे-धीरे बेहोश हो रही थीं। जब तक सुधीन्द्र सम्हले, वे धड़ाम-से धरती पर जा गिरीं। सुधीन्द्र घबड़ाकर उनके उपचार में लग गये।

२

थोड़े ही उपचार से माता की मूर्छा तो भङ्ग हो गई परन्तु उनकी संज्ञा का ठीक उदय नहीं हुआ। सुधीन्द्र ने अब समझा कि माता एक प्रबल अन्तर्युद्ध में परास्त हुई। वे जिस अस्वाभाविक गाम्भीर्य और विवेचना से बेटेको सान्त्वना देने आकर अपनी बहू के गुण-गान में मग्न होकर अन्त में आत्म-विस्मृति में डूबीं, यह सुधीन्द्र ने समझा। वे चिन्तित हो, तत्परता से माता के उपचार में लगे। मूर्छा भङ्ग होते ही उन्होंने एक' हाय' की, और आँखें फाड़-फाड़कर चारों तरफ देखा। अभी थोड़ीही देर पूर्व जो धैर्यशील वृद्धा गम्भीर वचनों से विवेक का उदय कर रही थी, वह अब असहाय गाय की तरह डकराने और चिल्लाने लगी। वह घर के कोने-कोने से, गली, बज़ार, नगर

बन और संसार-आकाश-पाताल सभी ठौरों से अपनी बहू को ढूँढ़ लाने के लिये उठकर दौड़ने की चेष्टा करने लगीं। उन्होंने चोट खाई, मूर्छित भी हुईं, परन्तु तत्क्षण ही उठकर फिर प्रलाप करने लगीं। निरुपाय हो, सुधीन्द्र वैद्यजी को बुलाने दौड़े। वैद्यजी आये, औषध दी, और सान्त्वना देने, तथा आराम करने की व्यवस्था कर गये।

धीरे-धीरे प्रलाप में शिथिलता आगई। वृद्ध शरीर, भयानक गर्मी, तिसपर भी जल की बूँद तक २-३ दिन से मुख में नहीं गई थी। इतने पर भी शरीर और मन का संताप। वे शीघ्र ही अत्यन्त शिथिल हो गईं, और पड़े-पड़े मन्द स्वर में अस्तव्यस्त प्रलाप करने, कभी रोने, कभी मूर्छित होने और कभी सिर धुनने लगीं। वे कभी अपनी निस्तेज धुन्ध-भरी आँखों से दिवंगत वधू की छाया मानों प्रत्यक्ष देखतीं, एक-टक कल्पना छाया को लक्ष्य करके बीच-बीच में विद्रूप से हँकर बहू को घर के किसी धन्धे के करने की आज्ञा देतीं, कभी व्यग्र कोप करतीं, और कभी लाड़-प्यार भी करने लगतीं।

रात्रि धीरे-धीरे ढलने लगी, और सुधीन्द्र चुपचाप माता की शैया के पास बैठे, एक-टक निरुपाय दग्ध मातृ-हृदय की वेदना देख रहे थे। माया को चिता में रखकर वे अभी यह सोचने लगे थे, कि माया को रखकर उन्होंने जीवन में क्या खोया? अभी उन्हें जीवन की सम्हाल करने की फुर्सत ही नहीं मिली थी। वे रो भी न सके थे। सुधीन्द्र-जैसों को रोने के लिये जिस एकान्त और निस्तब्धता की आवश्यकता थी, वह उन्हें अभी मिली न थी। माया के अन्तिम श्वास चलने तक वे औषधोपचार में रहे, मरने पर वे उसे यथाविधि अग्निदेव के सुपर्द कर आये। अब घर आकर वे ज़रा एकान्त में बैठकर

अपने हृदय के घाव को देखने की सोच ही रहे थे, कि माता ने बीच में ही अपने हाहाकार से उन्हें विचलित कर दिया। वे सोचने लगे—मैं मूर्ख समझता था, माया के बिना जीवित न रह सकूँगा। अब देखता हूँ, कि मैं तो सौ बार जीवित रह सकता हूँ। माया के जीवन के साथ जिसका वास्तविक जीवन-सम्बन्ध है, वह तो जीता है। ओह! मैंने तो इतना कभी सोचा भी न था।

वे सोचने लगे। मैं सदैव परेशानी में रहा, और माया सदैव मेरे साथ रही। जब-जब मैंने उसे माता के साथ रखने की चेष्टा की, उन्होंने मधुर फटकार बताई और उसे मेरे साथ कर दिया; मानों माया घर की बहू नहीं, मेरी परछाँई थी। मैं जब-जब उसे एकाध महीने को माता के पास छोड़कर बाहर जाने के लिये माता से कहता, तो वे सदा यही कहतीं—ना भैया! अपनी बहू को साथ रखो, रानीजी के मिजाज़ मैं कहाँ उठाऊँगी। मैं माया का तिरस्कार करता। मैं सोचता, माया गर्वीली है। वह माता की सेवा नहीं करती। माया फूल जाती, पर कुछ न कहती। मगर मुझे छोड़कर कहीं रहने की उसकी इच्छा भी न थी। माया से इस प्रश्न को लेकर कितनी बार वाक्-युद्ध, कोप-युद्ध, मौन-युद्ध हो चुके थे। परन्तु माया और माता दोनों ही के हृदय का भेद तो अब खुला। यह सब मेरा स्नेह था। जिसे माया और दोनों ही इतने यत्न से सदा छिपाकर रखतीं रहीं। उन्होंने आत्म-बलिदान के इस अभ्यास को कितना बढ़ा लिया था क्या अब बिना मायाके जीवित रहेगी? ओह! माता को इतना प्यार करती थी, यह तो मैंने कभी सोचा भी न था।

सुधीन्द्र की आँखों से टप-टप आँसू टपक पड़े। वे सोचने

लगे—माया को अब लाऊँ कहाँ से? और बिना उसे लाये माता को रखूँ कैसे? क्या अब कहीं से किसी भी तरह माया को ले आना सम्भव है? जिसका शरीर भक-से जल गया, वह अब आवेगी कहाँ से? सुधीन्द्र दोनों हाथों से मुँह ढाँककर चुपचाप अपनी अन्तर्ज्वाला को शान्त करने लगा।

एकाएक अपने शरीर पर स्पर्शपाकर वे चौंक उठे। पलटकर देखा—माता उनके शरीर पर हाथ फेर रही हैं। उन्होंने झट-पट माता का हाथ पकड़कर आँखों से लगा लिया। वे पलंग से उतरकर धरती पर बैठ गये। फिर उन्होंने माता के मुख को हाथों से पकड़कर अपनी ओर फेरकर कहा—"अम्मा! तुम तो बड़ी छलिया निकलीं। जब तक बहू जीती रही, तुम्हें एक आँख भी न भाई, अब मैं उसे लाऊँ कहाँ से? अब इतना क्यों विकल होती हो?" वृद्धा थर-थर काँपने लगी। उनके होठ और दाँत भी काँपने लगे। वे चेष्टा करने पर भी न बोल सकीं। वे एकटक पुत्र को देखती रहीं।

सुधीन्द्र ने अपना मुख माता की छाती में छिपाकर कहा—"अम्मा! तुम उसे इतना प्यार करतीं थीं?"

"मेरे बेटे, उसने मेरे राजा बेटे को प्राण और शरीर अर्पण किया। वह पराई बेटी होकर मेरे बेटे के लिये जीई और मरी, उसने मेरे बच्चों को अपने बच्चों की तरह छातीसे लगाया। उसने मुझे सब चिन्ताओं से छुट्टी दी, उसे मैं प्यार न करूँ?"

सुधीन्द्र ने गद्‌गद् कण्ठ से कहा—"परन्तु माँ! तुम तो उसे कभी पास भी न रखतीं थीं, उसने तुम्हारी कभी सेवा भी तो न की थी।"

"मेरी सेवा की उसे फुर्सत कब थी? वह मेरे बच्चों की

जीवन-मूल थी, मैं उसे बच्चों से छुड़ाकर अपने पास रखकर करती क्या ?"

सुधीन्द्र ने साहसपूर्वक कहा—

"अम्मा ! वह चाहे भी कहीं हो, मैं उसे ले आऊँगा। और नहीं तो मैं उसके पास जाऊँगा; तब सास-बहूओं में घुटेगी। तब वह तुम्हारे मतलब की न रहेगी।"

सुधीन्द्र ने देखा, उसके वाक्यों में असम्बद्धता आ रही है। वे बात फेरने के लिये उठे, और दूध लाकर धीरे-धीरे माता के मुख में डाल दिया। दूध पीकर वृद्धा आँख बन्द करके चुपचाप पड़ गई।

सुधीर ने धीरे-से पुकारा—

"अम्मा !"

वृद्धा ने आँख उठाकर जिज्ञासा की दृष्टि से पुत्र को देखा। सुधीर ने कहा—

"बन्नो के व्याह का क्या होगा ?"

"व्याह ! यह क्या व्याह का अवसर है ?"

"अम्मा, चढ़ी लग्न टल कैसे सकती है ?"

"पर बेटे, इस वक्त व्याह भी कहीं हो सकता है ?"

"यदि तुम धीरज धरो, तो क्या मुश्किल है ?" सुधीर ने कठिनाई से रोना रोककर कहा।

वृद्धा रो उठी। उसने कहा।

"मेरी लाड़ो की तो अभी चिता भी ठण्डी नहीं हुई, और व्याह के गाजे-बाजे भी इस घर में बजेंगे ?"

"अम्मा, परसों उसने लग्न का सब सामान अपने सामने मँगावाकर सजवाया था। साड़ी पर कैतून कैसी लगेगी, ब्लाउज का कट क्या होगा, यह सब बताया था। उसने ज़िद करके

लग्न चढ़वाई थी, अब उसकी इच्छा के विरुद्ध व्याह क्यों रुके ?"

वृद्धा चुप रही। सुधीन्द्र कहते गये—

'अम्मा, यह संसार है, दुःख, सुख, रंज ग़म तो जीवन के साथ लगे-ही रहते हैं—जो होना था, होगया, अब इस तरह तो न चलेगा।"

वृद्धा का मुँह पीला पड़ गया। वह पथराई आँखों से बेटे को देखने लगी। सुधीन्द्र ने ज़रा करारे स्वर में कहा—

"और अम्मा ! इस व्याह से निबटकर और भी कारज करने हैं; मरनेवाले के साथ मरा थोड़े ही जाता है ? जितना संस्कार जिसके साथ था, उतना पूरा हो गया।" सुधीन्द्र का स्वर ज़रा काँपा, पर उन्होंने दृष्टि दूसरी ओर फेर ली।

वृद्धा का शरीर एक बार हिला, फिर वह निस्तब्ध, थोड़ी देर पुत्र के मुख की भाव-भंगी देखती रहीं। सुधीन्द्र ने हृदय की आँधी को-दबाकर ज़रा मुस्करा दिया, माता ने पुत्र का हाथ पकड़ लिया। वह तकिये के सहारे उठ बैठी। उसने कहा—

'बेटे ! हिम्मत न हारना, मैं इसी साइत में बहू लादूंगी। मेरे बेटे के लिये सौ बहू तैयार हैं। पर बेटे ! बन्नो का व्याह अब कैसे हो सकता है ?"

"क्यों ? उसके तो अभी ६ दिन बाकी हैं।"

"पर बहू के क्रिया-कर्म भी अभी नहीं भुगते।"

"उसके संस्कार तो दाह के बाद ही समाप्त हो गये, हृदय के दाग़ तो धीरे-धीरे मिटेंगे।"

"व्याह में राव-रँग देखकर मेरी छाती फट जायगी।"

"क्यों अम्मा.बन्नो की बह क्या तुम्हें अच्छी नहीं लगेगी ?"

"पर ब्याह फिर देखा जायगा, लिख दो।

"वहाँ सब तैयारियाँ होगई हैं। न्योते बँट गये हैं।"

वृद्धा चुपचाप सोचने लगी। उसने कहा—"मेरे शेर बेटे! तुम्हारी शेर की छाती है। जो ठीक समझो करो, पर मुझसे कुछ होना-हुवाना नहीं है।" यह कहकर वृद्धा फिर लेट गई, और आँखें बन्द करलीं। सुधीन्द्र धीरे-से वहाँ से उठे। वहाँ बैठकर संयत रहना उनके लिये अशक्य था। वे अपनी कोठरी मे आकर धरती पर गिरकर लोटने लगे। पर कैसे आश्चर्य की बात थी कि वे जितना खुलकर रोना चाहते थे, उतना रो नहीं सकते थे। पूरी चेष्टा करने पर भी उनकी आँखों से आँसू नहीं निकले। उनका रोम-रोम ज्वाला मे जलने लगा। उनके सोचने का एक-ही विषय था। वह थी—अम्मा।

३

तीन दिन में माया के सभी कृत्य समाप्त करके घर के लोगों मे माया को छुट्टी दी। चौथे दिन प्रभात ही से द्वार पर नौबत बजने लगी। बन्दनवार बँध गये, और महल्ले और कुटुम्ब की स्त्रियाँ, जो अभी उस दिन आकाश फाड़ रुदन का अभिनय कर गई थीं—अब ढोलकी पर चुटकी देकर पंचम तान पर कोकिला-विनिन्दित स्वर में कूक उठीं। द्वार पर मर्दों का झुर-कुट जाजम बिछाकर बैठा था। वृद्ध गृह-पति—सुधीन्द्र के पिता—गम्भीर मुख-मुद्रा बनाये, विविध पुरुषों को विविध

आदेश कर रहे थे। निमन्त्रण पत्र लिखे जा रहे थे। एक अनजान पुरुष ने आकर पूछा—"क्यों साहेब! ये चिट्ठियाँ ग़मी की लिखी जा रही हैं, या शादी की?" सुधीन्द्र के कलेजे में तीर सा लगा—कम तीखा व्यङ्ग न था, पर कहने वाले सज्जन ने सीधे स्वभाव ही से कहा था। वृद्ध पिता ने कहा—"चिट्ठियाँ तो शादी की हैं, अब चढ़ी लग्न कैसे जा सकती थी।"

ज्यौनार का दिन भी आ गया। नाना प्रकारके पकवान बना-बनाकर हलवाई थालों में सजा रहे थे, परिचायकगण थाल ले लेकर पारस में रखने तथा दूसरों पर हुक्म चलाने और शोर शब्द मचाने में व्यस्त थे। मेहमानों का ताँता लग रहा था, लोग हैरान थे—वे किस भाव से घर में घुसे—शोक प्रदर्शित करने को मुँह लटकाये, और रूमाल से आँखें पोंछते हुए, या हँसते-हँसते मुबारकबादी देते हुए? पर जब दावत का न्योता पाकर ही आये हैं, तो फिर शोक का अभिनय कैसा? तिसपर एक बात थी—द्वार ही पर सुधीन्द्र नंगे बदन, सिर्फ एक धोती पहने, खड़े हँस हँसकर सब की आव-भगत कर रहे थे। उनके हास्य को देख कर ही बहुतों ने धीरे से कहा—"आदमी नहीं, पत्थर है, घरवाली मर गई है, मगर जैसे कुछ हुआ ही नहीं। यह नहीं कि सुधीन्द्र के कानों में ये बातें न आई हों—पर वे अविचल रूप से अपना काम करते रहे। यही दशा घर में वृद्धा गृहिणी का था। घर में और तो कोई सगा था नहीं, यों मिठाई खाने और आगे पीछे हाथ मारने को बहुत सी स्त्रियाँ चाची, ताई, दादी कहकर इकट्ठी हो गई थीं—पर गृहिणी को सब कुछ स्वयं सञ्चालन करना पड़ रहा था। गानेवालियाँ आई हैं, वे हठ करके दूने पैसे और बताशे माँग रही हैं, भावजों और बहनों ने अपने नेगों

का रेट चौगुना कर दिया है, कहारिन ने अठन्नी की अलग हठ पकड़ी है; नाइन ने बगैर चुकता नेग लिये काम से ही हाथ खींच लिया है। गृहिणी इन सब को सन्तुष्ट कर रही थीं,—डराकर, धमकाकर, प्यार से, कोप से और दान दक्षिणा से, परन्तु एक अद्‌भुत बात थी। सुधीन्द्र जब घर में जाते, वे वहाँ से हट जातीं। सुधीन्द्र भी माता के सम्मुख पड़ने का साहस न कर सकते थे। दोनों ही एक दूसरे से भय खा रहे थे, दोनों के हृदय में करारा घाव था, पर वे उसे छिपाकर दुनियादारी दिखा रहे थे। पर, माँ बेटे की और बेटा माँ की वेदना को ठीक समझता था। दोनों चाहे संसार को भुलावा दे सकते थे। पर माँ बेटे परस्पर नहीं भुला सकते थे। यही कारण था कि दोनों, दोनों से आँख बचाते थे।

इस ब्याह के कर्ता-धर्ता ये दोनों ही तो थे। माया के साथ दोनों ही माँ-बेटे घंटों ब्याह के प्रश्न पर तरह-तरह की सलाह-मश्विराद किया करते। माया दोनों की मध्यस्थ बनी रोगशैया पर पड़ी रहती। परन्तु बहू के मरने के बाद माता बेटे को भोजन के लिये पूछने का भी साहस नहीं कर सकती थी, और सुधीन्द्र चुपके से माता से मुँह छिपाकर दो कवर मुँह में डाल आते थे।

दिन-भर दोनों काम में व्यस्त रहते, और रात-भर अपनी मूक वेदना में तड़पते। रात को बेटे को सोता समझकर माता चुपके से जाकर उसके सिरपर हाथ फेरती। कदाचित् दो आँसू बहुत चुपके से गिराती, और ओढ़ने का वस्त्र ठीक करके अपनी खटिया पर आ बैठती। सुधीन्द्र जागते हुए भी सोने का बहना करते, पर माता का स्नेह-स्पर्श पाकर वे अपना रुदन नहीं रोक सकते थे। परन्तु निःशब्द रात्रि में, निःशब्द रोने में उन्हें बहुत

संयम और आत्म-संवरण करना पड़ता था।

विवाह सम्पन्न हुआ। सुधीन्द्र ने बरातियों के मनोरञ्जन में कोर-कसर न की। बरात में उन्होंने एक हारमोनियम खींच कर गाया भी था। उनके हास्य और आह्लाद को देखकर किसी मित्र को भी यह साहस न होता था, कि वे उनसे माया की चर्चा करें।

नव-वधू ने गाजे-बाजे के साथ घर में प्रवेश किया। वृद्ध-गृहिणी ने चुपके-से उसे घर में लाकर बैठा दिया। उसे मिष्ठान्न दिया और उठकर द्वार की ओर देखने लगी। सुधीन्द्र घर में घुसे ही नहीं। वे बाहर बाज़ार में एक मित्र के पास बैठकर कुछ सोचने लगे। चेष्टा करने पर भी वे इस समय हँस न सके और न विनोद ही कर सके। अब तो माता से साक्षात् करना ही होगा, उनका चिन्तनीय विषय था, क्या उसे देखकर हँसू?—कहूँ, अम्मा तेरे लिए मैं बहू ले आया। ओह! यह असम्भव है। क्या वह मेरी हँसी देखकर हँस पड़ेगी? ना-ना जरूर ही विकल होकर रो पड़ेगी, या मूर्छित होजायगी। कैसे घर में प्रवेश करूँ, जिससे माता का रुदन रुके? सुधीन्द्र अधीर हो गए।

पर उन्हें घर तो आना ही पड़ा, देखा—माता द्वार पर उन्हीं की प्रतीक्षा में खड़ी है। वृद्धा के मुख पर मुर्दनी छा रही थी। वह स्थिर आँखों से बेटे को देख रही थी। सुधीन्द्र ने चुपचाप माता के चरण छुए, और कहा—"अम्मा! रास्ते में भीग गया था, सिर में दर्द हो रहा है। अब कुछ काम न हो,तो मैं ज़रा सो जाऊँ।"

वृद्धा से न रह गया। उन्होंने उनको छाती से लगा लिया माथे पर हाथ रखकर देखा, और कहा—"तब चलो भैया सो

रहो।" सुधीन्द्र ने मानो गढ़ फतह कर लिया। वे सोने का बहाना करके पड़े रहे।

यह विवाहोत्सव का कोलाहल, उनके ऊपर से वायु-तरंगों में उतराने लगा, और वे समाधि-मग्न-से उसमें डूब गए।

४

सुधीन्द्र के पिता एक साधारण जमींदार थे। वे पढ़े-लिखे भी नाम-मात्र के ही थे। परन्तु पुत्रों को पढ़ाने का उनको बड़ा शौक़ था। वे ऋषि दयानन्द का वचनामृत पान कर चुके थे। उनकी सेवा का भी सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ था। वे अपने यौवन के प्रारम्भ ही से आर्य-समाजी थे। पड़ोसी गाँव के युवक जमींदार की अकपट मित्रता उन्हें प्राप्त थी, दोनों मित्रों ने उस नए जोश में अपनी नवाविष्कृत शैली में न जाने कितना आर्य-समाज का प्रचार किया था। वह नवाविष्कृत शैली क्या थी—सुनिये। सैकड़ों मन्दिरों, मठों और स्थानों से महादेव, आदि चामुण्डा, भैरव आदि की मूर्तियाँ रातोंरात चुराकर गंगा में या निकट के तालब में फेंक देना। जहाँ किसी देवता के स्थान पर बहुधा स्त्रियाँ आती जातीं—वहाँ भूत बनकर उन्हें डरा देना कि फिर उधर जाने का नाम भी न लें, कहीं विवाह आदि कृत्य पौराणिक रीति से हो तो आप झट एक आर्य समाजी पण्डित को लेकर जा धमकते और कभी-कभी तो फौज-

दारी करके उसी के कृत्य कराते। लाठी के धनी थे। लाठी हाथ में होने पर १००-५० को भारी थे। डील-डौल में विशाल, सुर्ख सिंदूरिया रंग, घनी काली दाढ़ी, मज़बूत सोटा हाथ में, नालदार चमरोधे का जूता, बस, ज़मींदार साहब और आप गाँव-गाँव घूमना और उपरोक्त अद्भुत रीतियोंसे आर्य-समाज की रीति-नीति प्रचलित करना। सिर्फ नमस्ते कहलाने पर एक दो बार फौज़दारी होगई। लाठियाँ चल गईं। दीन-दुखियों की सेवा और सहायता के लिये मानो उधार खाये बैठे थे। जहाँ किसी ने कहा—अमुक ने मुझे तकलीफ दी है बस ले डंडा चढ़ दौड़े, और दुरुस्त कर दिया।

दिनचया यह थी, ४ बजे।प्रातःकाल उठना, भैसों, और गायों की सानी कर देना, फिर एक चिलम हुक्का पीना और साथ ही कपास ओटने बैठ जाना। जब तक हुक्का ख़तम हो, निकाल लिये २० सेर बिनौले, और डाल दिये भैंसों के आगे। शौच से आये तो धार में जुट गये, तब कहीं दिन निकला। उस समय एक लोटा ताज़ा मट्ठा और १॥ पाव मक्खन डाल-कर चढ़ा गये। नहा धो, सन्ध्याकर,तिलक छाप लगा निकले, खेती का एक चक्कर लगाया। कमेरों को काम की हिदायतें कीं, और चल दिये दोस्त के पास। बस, एक दो गावों में अपनी रीति पर प्रचार किया, और दोपहर को आये। सीधा सादा भोजन, दाल और मोटी मोटी रोटियाँ, साथ में आधा सेर घी। आम की फ़सल आई और अपने पेड़ों पर जाकर निशान लगा दिये। बस, फिर क्या मजाल उस पेड़ का आम कोई आस-पासके गाँववाला छू भी जाय। जब मौज आई प्रातःकाल बाग़ में जा पहुँचे। माली को आम उतारने का हुक्म दिया और शौचादि से निवृत्त होकर तालाब के किनारे जा डटे।

माली ने दो टोकरे भर आम वहाँ पहुचा दिये। डेढ़ मन से तो कम नहीं, दो मन भी हो सकते हैं। आपने एक झटका टोकरों की तालाब में दिया और चूसना शुरू किया, एक चुस्की से ज्यादा लेना तो क़सम थी, पर क्या मजाल कि रस एक बूँद रह जाय। चूसा और फेंका, दो घण्टे में साफ़। अब आप उतरे तालाब में, तैरना जो शुरू किया, बारह गज गये, एक बार सूरज की ओर देखा, पानी से निकले, धोती बदली, और क्रम से झूमते गाँव में चले, रास्ते में जो मिला उसी से एक विनोद-वाक्य छेड़ दिया, मगर क्या मजाल जो कोई बहू बेटी मार्ग में दीख जाय, यदि कोई दीख गई तो उसदिन उसके घर-वालों की खैर नहीं, सीधे घर पहुँचे, घर के स्वामी को बुलाया, और दो चार दर्जन गालियाँ सुना दीं। यदि अपराध की पुनरा-वृत्ति हुई तो फिर दस-पांच जूते। गाँव की स्त्रियां उनके भय से सूर्योदय से बहुत प्रथम ही शौचादि से निवृत्त हो आती थीं। द्वार पर पड़ा रहता था काठ, गाँव में किसी से लड़ाई झगड़ा किया—उठाकर काठ में पाँव दे दिया। अस्तु अपने घर में दूध तैयार, जिसपर दो अँगुल मोटी मलाई। चढ़ा गये २॥ सेर पक्का। और तानकर जो सोये, तो ४ बजे उठे, हाथ मुँह धोया, जरा बाहर आए, द्वार पर छिड़काव होगया। पलंग और मोढ़े पड़ गए, दर्बार जुड़ने लगा। कुछ वृद्ध कुछ जवान आये, बैठे, हुक्के गुड़गुड़ाने लगे, गपोचली, सभा में आर्यसमाजी ढीठ, खूब कट्टर, जिसमें न रियायत न संशोधन, आस-पास के दस-पाँच गाँवों की चर्चा हो गई, पचासों आदमियों की आत-ङ्कता हो गई। मित्र जिमींदार दादा आ धमके तो—फिर जोर-जोर से चली स्कीमें जिनका अन्तिम ध्रुव है, माता-चामुण्डा, मूर्ति-पूजा, पुराण श्राद्ध कैसे उठाये जायँ। दूसरे, बालिका और

बच्चों को कैसे और कहाँ शिक्षा दी जाय। ऐसे पिता की गोद में सुधीन्द्र खेले और बड़े हुए।

माता का परिचय किस तरह दिया जाय? वे ममता की प्रतिमूर्ति थीं। त्याग, स्नेह और सहिष्णुता को मिलाकर जो एक श्रद्धा और आदेश की देवी की कल्पना की जा सकती है, सुधीन्द्र की माता वही देवी थीं। जगत् में कितने भाग्यवानों को ऐसी माता की कोख मिलती है।—वे पढ़ी-लिखी नहीं थीं। वे असली हीरे की कनी थीं, प्रकृति ने उन्हें जो लोकोत्तर आभा दी थी, उसपर कृत्रिम चमक करने का किसी कारीगर को अवसर ही नहीं मिला था। और उसकी आवश्यकता ही नहीं हुई। सुधीन्द्र के जन्म-समय उनकी आयु १२ वर्ष और पिता की आयु २१ वर्ष की थी। पिता का जैसा लोहे का शरीर था, माता का भी वैसा ही था। वे नित्य प्रातःकाल ऊषा उदय होने के पूर्व ही उठकर एकदम ही घर के कामों में लग जातीं। नौकरों से घर के काम कराने की उनके समय में परिपाटी ही न थी। वे उठकर सर्व-प्रथम तमाम गाय, भैंस और उनके बच्चों को एक बार प्यार पुचकार आतीं, उनपर हाथ फेरतीं, और प्रत्येक का नाम ले लेकर एक दो बातें कहतीं। इसके बाद वे शौच से निवृत्त होते ही दूध चलाने बैठतीं। घर-भर में गम्भीर नाद गूँज उठता। पाँच-सात गाय-भैंसों के दूध को वे अनायास ही अपने बलिष्ठ भुजदण्डों से बिलो डालतीं। इसके बाद वे घर आँगन बुहारकर, ताज़े गोबर से लीपकर निवृत्त होतीं, इतने पर कहीं दिन निकलता। यह उनकी दिनचर्या थी। अपने और पति के वस्त्र वे स्वयं सीतीं, स्वयं धोतीं, भोजन बनाकर वे कातने बैठतीं। सिर के बाल के समान बारीक सूत निकालना उनका काम था। उनके

सूत की बड़ी तारीफ़ थी। भोजन के समय सब से प्रथम गाय और उसके बच्चों को एक-एक रोटी मिलती। फिर मिलती गाँव भर के कुत्तों को। गाँव की कोई कुतिया ब्याती तो उसके लिए आठ दिन तक घी गुड़ का हलुआ बनता, गाँव के लड़के लड़कियाँ बड़े चाव से आकर कहते—चाची, काली व्या गई है। हलुआ बना दो। चाची हँसती हुई हलुआ बनाती और बच्चों को देती। गाँव में बेर, गाजर, मूली या कोई और फल बिकने आते, तो वे बहुतायत से खरीदकर रख लेतीं। ये दिन भर बच्चों को बँटते रहते। बच्चों के न्याय वहीं होते। कोई कहते चाची, कनछिद ने मेरे मुँह पर तमाचा मार दिया। कनछिद कहता, इसने मेरा कुर्त्ता जो फाड़ दिया था। चाची दोनों को क्षण भर देखती, दोनों को हरजाना में थोड़े-थोड़े बतासे देतीं, और मेल करा देतीं। कभी किसी ने उन्हें लड़ते देखा नहीं, जोर से बोलते देखा नहीं, उदास देखा नहीं, रोगी और चिन्तित देखा नहीं। ऐसा कोई देखता क्यों? उन्हें चिन्ता और सोच-फिकर क्या था? सीधा-साधा गाँव का जीवन, आवश्यकता से अधिक खाद्य-सामग्री घर में भरी रहती। घी-दूध की घर में रेसे, हाथ पैरों में निरालाप बल, सेवा, त्याग और प्रेम के साथ औदार्य का सम्मिश्रण। वे क्यों उदास रहें, क्यों चिन्तित रहें, क्यों किसी से लड़ें। मोहल्ले-भर की स्त्रियों का घर में ताँता रहता। छिद्दू मिस्सर की बहू आती—चाचीजी, ज़रा-सा गुड़ तो दे दो। पाजी रामू तो मानता ही नहीं, रो-रोकर घर सिर पर उठा रक्खा है। कहता है, गुड़ से रोटी खाऊँगा। चाची हँसकर उठतीं, एक दो मीठी मीठी बात कहतीं, एक गुड़ का डला और एक लोटा घी उठाकर हाथ पर रख देतीं। बहू हँसती-

हँसती जल्दी-जल्दी आँचल से ढाँपकर घर ले जाती। बन्शी की माँ आती, ऐ बड़ी बहू, ज़रा-सा मट्ठा तो दे दो। उनको बिना मट्ठे के खानाही अच्छा नहीं लगता। बड़ी बहू उठकर पैरों पड़ती, पीढ़े पर बैठती, दो चार बात करती, फिर एक लोटा ताज़ा मट्ठा और एक लौंदा मक्खन उसमें डालकर बन्शी की माँ के हाथ देती। घर की बूढ़ी भंगन कमाने आती, तब यह गृह-लक्ष्मी सौ काम छोड़कर दूर ही से उसे दादी कहकर पैरों पड़ती। वह टोकरी झाड़ एक ओर रख द्वार पर बैठ जाती। सौ-सौ आसीसें देती, गृहिणी बहुत सा अन्न और खाद्य सामगी उसके पल्लेमें डालकर बिदा करतीं। सुकिया चमारी आती, बहूजी, अच्छी हो। लाओ छत लीप जाऊँ। 'अरी सुकिया, तू तो कभी दीखती ही नहीं। छत तो मैंने लीप ली।' अच्छी तो हूँ, पर तुम्हारे जेठ (उसका पति) बड़ा दुःख देते हैं। देखो लहँगा झीर-झीर हो गया है, कपड़ा लाकर ही नहीं देते। अच्छी बात है, उन्हें (पति) आने दो, कसी फटकार लगवाती हूँ। इसके बाद अपना पुराना लहँगा उठाकर उसे दे देती। ले सुकिया अभी छः महीने तो यह हिलेगा भी नहीं। सुकिया बलैया लेती, सौ-सौ आसीसें देती चल देती। अब आती रामदेई। आँखों से आँसू पोंछती, और सुबकियाँ लेती। गृहणी सौ काम छोड़ उससे लिपट जाती। क्या है री रामदेई, क्या हुआ है, क्यों रो रही है ? बता तो, अरी बावली, क्या हुआ ? रामदेई आँसू पोंछकर कहती :— चाचीजी, क्या कहूँ, वह डाढ़ीजार काबुली द्वार पर धरना दिये बैठा है। चार रुपल्ली की तो बात है, सौ सौ गाली दे रहा है, मोटा लठ लिये। हटता ही नहीं। वे घर में छिपे बैठे हैं। क्या करूँ चाचीजी, उस दिन तुमने रुपये दिये थे, वे अभी पटे ही

नहीं। अब किस मुँह से तुमसे कहूँ चाचीजी, यह हँसली रख लो,चार रुपये दे दो। मैं अमावस तक रुपये चुका दूंगी अच्छा। चाची, उन्होंने हाथ जोड़कर कह दिया है। चाची कहती, बावली कहीं की हँसली पहन गले में, खबरदार जो उसे छुआ, नङ्गी गर्दन बुरी लगती है, ठहर मैं उनसे कहकर कैसा ठीक कराती हूँ। इसके बाद वे चुपचाप चार रुपये लाकर रामदेई के हाथ पर रख देतीं, रामदेई उनके पैरों में लोट जाती, और वे उसे उठा छाती से लगा, प्यार कर विदा करतीं।

मिहमानों का ताँता उस घर में सदा लगा रहता। समय-कुसमय, रात-आधीरात जो घर में आजाता, उसी समय बिना भोजन बनाये.खिलाये उन्हें चैन कहाँ? चाहे महीनों रहें,—क्या मजाल, मन में मैल लावें। तन-मन से अतिथियों की सेवा करना स्वभाव था, निरालस्यता उनका अभ्यास था, और कर्मष्ठता उनका नित्य जीवन था। ऐसी माता की कोख में सुधीन्द्र ने जन्म लिया। दोनों, माता और पिता वर्तमान सभ्यता, शिक्षा, रहन सहन की शैली से सर्वथा दूर, अपने जीवन के मध्य भाग को व्यतीत कर रहे थे। वह जीवन-प्रवाह क्या सुन्दर न था—आकर्षक न था? क्या पुरुषत्व की पूर्ण प्रतिभा उस नर रत्न में न थी? और स्त्रीत्व का सम्पूर्ण आलोक क्या उस देवी में न था? क्या शिक्षा के अभाव ने उनके मनुष्यत्व में तनिक भी अपूर्णता का लेश रहने दिया था?

सुधीन्द्र बचपन में पूर्ण स्वस्थ और खूब हृष्ट पुष्ट थे। वे एक स्वस्थ माता पिता की पहलौठी की सन्तान थे। इसलिये स्वास्थ्य उनकी बपौती थी। उनका रंग बिल्कुल गुलाबी, बदन मक्खन की भाँति कोमल और सुघड़, तथा अङ्ग-प्रत्यङ्ग माँसल

थे। वे बचपन में ज़रा सी बात पर खिलखिलाकर हँस देते; रोते कभी उन्हें देखा नहीं। दोपहर-बाद मोहल्ले भर की स्त्रियों का जमाव यहाँ होता। सुधीन्द्र की माता बनती उनकी प्रधाना, और फिर चलते सुधीन्द्र के लाड़-प्यार। जो स्त्रियाँ हर तरह गृहिणी की उपकृत, उनके प्यार में डूबी हुई, उनके सरल स्वभाव पर मस्तानी थीं, वे उनके सुन्दर और स्वस्थ बच्चों को न प्यार करतीं? बहुधा सुधीन्द्र को लेकर स्त्रियों में खूब वाक्-युद्ध होता। वे सब नवेलियाँ उसे खिलाने को, अपनी अपनी गोद में लेने को, झगड़तीं—'चलो हटो, ख़बरदार जो छोरे को छुआ!' एक नवेली कहती—'अहा लाला मुझे देखकर कैसा खुलकर हँसता है। अच्छा आ!' वह उसे गोद में लेने को लपकती। उधर से दूसरी वृद्धा होंठों में हँसकर कहती—'चल हठ, लुच्ची! तेरी आंखों में राई नोन, लौंडे को नज़र लगायेगी।' इसपर नवेली व्याजकोप से कहती—'देखो ताईजी बात, बिना बात गाली देती हैं।' इस पर दो चार धक्के उसे और मिलते, और फिर सब खिलखिलाकर हंस पड़तीं। एक वृद्धा ज़रा फटकार कर गृहिणी से कहती—'क्यों री बहू, छोरे को कैसे फ़कीर के से कपड़े पहना रखे हैं। ला रेशम का कुर्ता, लो देखोरी लुगाइयो! मेरा राजा बेटा कैसा बना रखा है।' गृहिणी कहती—'दादीजी, जाने भी दो, इस सुअर पाजी को यों ही रहने दो। दिन-भर में दसबार कौन इसके कपड़े बदले?' दादीजी दो चार मीठी गालियाँ सुनातीं, ज़रूरत पड़ने पर एक दो धौल जमातीं, घर में घुस जातीं, रेशमी कुर्ता निकालकर लातीं, पहनाकर बड़ी सावधानी से मुँह आँखें, गीले कपड़े से पोंछतीं, और फिर बड़ी सावधानी से स्याही लगाकर उसके दो चार चुम्मे ले डालतीं। सुधीन्द्र बात बात पर हँसते,

अङ्ग—सञ्चालन करते, और कभी-कभी अस्फुट शब्दोचारण करते, जिसके अनेक अर्थ निकाले जाते।

पड़ोस में रहते थे, सुखदास बोहरे। वे बेचारे अति वृद्ध और सरल स्वभाव सज्जन थे। उनकी सफ़ैद लम्बी दाढ़ी थी। एक बार सुधीन्द्र को मँगाकर बिना खिलाये उनको खाना ही न रुचता था। सुधीन्द्रको लेकर वे लेट जाते गद्दे पर, और सुधीन्द्र उनकी छाती पर खूब कूदते, किलकारी भरते, कभी-कभी दाढ़ी पकड़कर खींचते, कभी तानकर पिशाब जो करते, तो दाढ़ी में धार जाती। बोहरेजी 'अरे सूअर!' 'अरे पाजी!' कहते और सुधीन्द्र को छाती से लगा लेते सुधीद्र और भी हँसते उछलते। मुनीब लोग रुपयों के ढेर को गिनते रहते। सुधीन्द्र अब बोहरेजी से छूटकर रुपयों पर टूटते। खूब बखेरते। अन्त में दो चार रुपए मुट्ठी में दाबकर सो जाते, और तब माता की गोद में पहुँचाये जाते। माता हँसकर कहती—'देखो' मेरा बेटा रुपए कमाकर लाया है।—मेरा राजा बेटा!" वे धीरे से उसकी मुट्ठी खोलतीं और रुपए बोहरे जी के यहाँ भेज देतीं।

सुधीन्द्र जब बड़े हुए तो सुयोग्य माता-पिता ने कहा—"बिटुआ को इतना पढ़ायेंगे, जितना किसी ने पढ़ाया न होगा।" पर उन्होंने देखा—इस काम के लिये गाँव त्यागना पड़ेगा, और शहर में रहना पड़ेगा। अन्ततः उन्होंने पुश्त दर पुश्त का गाँव त्याग दिया, जमींदारी बेच दी, और नगर में बस गये। आजीविका के लिए साधारण व्यवसाय करना शुरू कर दिया। सुधीन्द्र अब बढ़ते गये। बुद्धिमती माता ने बहुत किफायत से घर का खर्चा चलाया, कठिन सङ्कट झेला,

पर सुधीन्द्र की शिक्षा की गति में बाधा न आने दी।

नगर में आकर उनका नैसर्गिक जीवन बदल गया था। फिर भी उनकी कर्मठता, कष्ट-सहिष्णुता और सादगी न गई। सुधीन्द्र अब अकेले नहीं थे। उनके चार भाई और दो बहिनें थीं। पुत्री के पढ़ने योग्य होते ही इस तेजस्वी पिता ने अपने उद्योग से एक कन्या-पाठशाला भी खोल दी जो शीघ्र ही सरकारी बन गई। सुधीन्द्र के सभी बहिन और भाई पढ़ने और बढ़ने लगे।

स्कूली जीवन समाप्त होने पर एक बार सुधीन्द्र का शिक्षा क्रम रुका। पिता ने कहा—"बस, यही यथेष्ट है। बेटे, अब कुछ काम की विद्या सीखो, ज्ञान तो स्वयं भी बढ़ा सकते हो।" पर माता ने न माना। उन्होंने कहा—"नहीं, मेरा सुधीन्द्र इतना पढ़ेगा, जितना किसी का बेटा न पढ़ा होगा।"

माँ बेटे की चुपचाप गुट बन गई। सुधीन्द्र कालेज की तैयारी करने लगे। पिता ने कहा-"खर्च कहाँ से आयेगा?"

माता ने कहा—"खर्च से तुम्हें कोई मतलब नहीं। जाओ, और कॉलेज में भरती कर आओ।"

माता ने निकालकर दो सौ रुपए का ढेर कर दिया। यह रक़म उन्होंने सूत कात-कातकर गत पाँच वर्षों में जोड़ी थी। पिता देखकर चकित होगये। उन्होंने रुपये गाँठ बाँधे, और चले लाहौर,—डी० ए० वी कालेज में सुधीन्द्र को भरती कराने। आर्य-समाज के प्रधान का परिचय पत्र लिया। सुधीन्द्र कालेज में भरती होगये। पिता अपने प्राणाधिक पुत्र को प्रथम बार छाती से दूर करके रास्ते-भर रोते हुए घर लौटे। सुधीन्द्र ने यथा-समय प्रतिष्ठा के साथ एम० एस-सी० पास किया। इसके बाद वे सरकारी स्कालरशिप लेकर बिलायत गये, और पी०

एच० डी० हो आये। आते-ही उन्हें दिल्ली के मिशन कालेज में ४००) की नौकरी मिल गई। पहला वेतन लेकर जब उन्होंने माता के आँचल में डाला,तो उन्होंने पुत्र को छाती से लगाया। रुपयों को माथे से लगाया, और फिर सारे रुपये पुत्र पर वारकर कहा—"ये सब ग़रीबों और विधवाओं को बाँटे जावेंगे।"

उन्होंने वह पहली तनख्वाह इसी भांति बाँटी भी। इसके बाद सुधीन्द्र की आय पर सारा कुटुम्ब रहने लगा। पिता ने अपना कार-बार बन्द कर दिया। सुधीन्द्र के तत्वावधान में भाइयों और बहनों की शिक्षा चलने लगी।

सुधीन्द्र का विवाह १९ वर्ष की अवस्था में माया से हो गया था। इस समय वे कालेज की शिक्षा का एक वर्ष समाप्त कर चुके थे। माया का रिश्ता सुधीन्द्र के विवाह से और भी ७ वर्ष प्रथम हुआ था। माया के पिता सुधीन्द्र के पिता के बड़े गहरे मित्र थे। इस मित्रता में आर्य-समाजी सिद्धान्तों का बड़ा सम्पुट था। माया के पिता बड़े विद्वान्, संस्कृत के पूरे पण्डित और सुधरे विचारों के आदमी थे। उनका और सुधीन्द्र के माता-पिता का विचार उस समय तक विवाह का न था, जब तक कि सुधीन्द्र की शिक्षा समाप्त न हो जाती। परन्तु माया के दादा के प्रबल आग्रह ने यह विवाह जल्द करा दिया। मया १४ वर्ष की आयु में सुधीन्द्र की जीवन-संगिनी बनी।

माया स्त्रीत्व की एक कोमल छाया थी। कवि यदि अपनी सभी स्वाभाविक कल्पनाओं की एक प्रतिमा गढ़े, तो वह माया से कदाचित् मिल जाय। माया ने जब नव-बधू के रूप में इस घर में प्रवेश किया, उस समय

गृहणी एक चिर-रोग से पीड़ित थी। विवाह-काल में भी वे शैयागत थीं। माया ने अनायास ही गृहणी का स्थान ग्रहण कर लिया। गृहणी की तो मानो प्यास बुझ गई। माया सोने की पुतली की भांति घर-भर की सेवा में निरालस्य घूमती, मानो कोई आलोक की देवी आ बैठी हो। 'अम्माजी' का मधुर उच्चारण जिसने माया के प्रारम्भिक जीवन में सुना, वह निहाल हो गया। माया ने मानों जादू के ज़ोर से बीमार सास को चङ्गा कर लिया। सासके जैसा ही विश्व-प्रेम, सेवा-धर्म, निरालस्य जीवन, और प्रकृत स्नेह माया के रोम रोम में था। पति की वह प्राण थी। सुधीन्द्र को उसने सहजही अपाहज बना डाला। यह सम्भव ही न था, कि सुधीन्द्र अपना कोई काम हाथसे करते। सोकर उठने से प्रथम उनके जूतोंपर पालिश हो जाती, साफ़ कमीज़ और कपड़े बदलकर खूँटी पर टँग जाते, गुसलखाने में चुनी हुई धोती, साफ़ तौलिया साबुन और आवश्यक सामान रख दिया जाता था। सुधीन्द्र की जब आँख खुलती, तो मधुर वेद मन्त्रों की ध्वनि और हवन की सुगन्धि उसके कान और नासिका को तृप्त करती। वे इस पवित्र निरालस्य स्त्री-रत्न का ध्यान करते हुए कुछ क्षण चुपचाप पड़े रहते। माया सन्ध्या-हवन करके चुपके से उठकर आती। देखती—क्या पति जाग रहे हैं? जागता देखती, तो वह झपटकर पति के चरणों में झुककर उन्हें चूम लेती। झपटने का कारण यह था, कि सुधीन्द्र नहीं चाहते थे, कि वह पैरों को चूमे। परन्तु १४ वर्ष के जीवन में मृत्यु के तीन दिन प्रथम तक—जब तक वह सशक्त और होश-हवास में रही—एक दिन भी उसका वह दुर्धुर्ष पति-पूजन कम न हुआ। सुधीन्द्र ने उससे इस विषय पर बहुत बहस की, समझाया, कि स्त्री-पुरुष

समान हैं, स्त्रियों को पुरुषों से इतना झुकना नहीं चाहिये, पर माया ने सदैव चुप्पी साधी। मन्द मुस्कान ही उसका उत्तर था। विवश, सुधीन्द्र इस ताक में रहे कि यथा-शक्ति माया को पैर न छूने दें, पर माया कभी भी न चूकी। वह झपटकर ऐसी फुर्ती से उनके पैर पकड़कर चूम लेती, कि सुधीन्द्र के लिये इसके सिवा कोई चारा न रहता, कि माया के दोनों हाथ पकड़कर उन्हें आदर से चूम लें। माया ने चौदह वर्ष तक अवाधित रूप से अपनी सेवा का यह पुरस्कार पाया, और कृत्य-कृत्य हो गई। माया को सोते किसी ने नहीं देखा। वह सब से पीछे सोती, और सब से प्रथम जागती। सुधीन्द्र को १४ वर्ष के दीर्घ काल में माया से कभी लड़ने का अवसर भी न मिला।

अद्भुत बात है। माया सदैव सावधान रहती। उसने पति के स्वभाव और आचरण का अध्ययन कर लिया। सुधीन्द्र निर्दोष, विद्या-व्यसनी, गम्भीर और मग्न प्रकृति के आदमी थे। माया ने यह समझा। वह बिजली की भांति क्षण-भर में उनकी आवश्यकता से पूर्व ही उनके सब काम कर देती। उनके मित्रों का आतिथ्य करती। अवकाश में वह उनकी, आदर्श शिष्या की भांति उनके सम्मुख बड़ी शान्ति और गम्भीरता से बैठकर किसी गम्भीर अध्यात्म विषय पर, और कभी किसी और विषय पर बातचीत सुनती। उसकी यह गम्भीरता देखकर कभी-कभी सुधीन्द्र बहुत हँसते। वे एकटक माया को देखते रहते। कभी-कभी वे असंयत होकर, दोनों बाँह फैलाकर उसे अङ्क-पाश में बाँधकर कहते—"माया, मेरी रानी, तुम क्या अकेली ही ऐसी स्त्री-रत्न हो या सभी स्त्रियाँ ऐसी हैं? आह, यह संसार तुमने कितना सुन्दर

बना रखा है। माया, तुम माया हो, या स्त्री ?"

माया हँसकर कहती—"मैं माया हूँ," और फिर बोलती— 'अच्छा माया का एक गीत सुनिये।"

वह दिलरुबा लेकर बैठती, और एक चीज़ गाती। सुधीन्द्र की भीतरी और बाहरी समस्त इन्द्रियाँ एक बार जगत्-भर में से संकुचित होकर माया में केन्द्रीभूत हो जातीं। वे देखते, एक माया ही जगत् में सत्य है; और सब मिथ्या। वे चाहे भी जितना संयम रखते, उनके धैर्य और गम्भीरता का बाँध टूट जाता। वे उठकर माया को बाहु-पाश में बाँध, आत्म-विस्मृत हो चिरकाल तक खड़े रहते।

उनका सबसे बड़ा विनोद था, माता के सामने एक दूसरे की खूब चढ़ा बढ़ाकर शिकायत करना। माया कहती—"अम्माजी, ये बड़े बुरे हैं, जरा भी किसी की बात नहीं मानते।" अम्माजी कहतीं "देख री बहू, मेरे बेटे को बुरा कहेगी, तो तू जानेगी।" सुधीन्द्र कहते—"अम्मा ऐसी हठी स्त्री तो देखा नहीं, तू इसे कुछ भी नहीं फटकारती।" माता हँसकर बहू को खूब फटकारने का बचन देतीं, फिर वह सुधीन्द्र के बाल्य-काल की स्मृतियाँ सुनातीं और माया मन्त्र-मुग्धा की भांति पति के शिशु-जीवन की कथा सुनती। वह माता का कभी माथा, और कभी पैर दबाने लगतीं। माता फिर बहू के सारे शरीर पर हाथ फेरती, उसे प्यार करती, उसके नख-शिख शृङ्गार को देखती, उसमें दोष निकालती, भर्त्सना देती, और अमुक-अमुक साड़ियाँ पहनने आदि का आदेश देती।

इस समम घर में कई दास-दासियाँ थीं, पर माया ने दो काम हाथ से नहीं जाने दिये; एक भोजन बनाना, और

स्वयं सास-ससुर और पति तथा देवरों को खिलाना, दूसरे सास और पति की धोती धोना। माया नौकरों के सब अपराध क्षमा कर सकती थी, पर पति की धोती तथा थाली छूना क्षमा नहीं कर सकती थी। दास-दासी बहुत विनय करके भी माया को विरत न कर सके।

ऐसी वह माया थी। पिता का अब घर में एक ही काम था। नाना भांति के फल, मिठाई, वस्त्र घर में लाना और 'बहू के लिये' कहकर गृहणी के हाथ में धर देना, गृहणी बहू के हाथ में रख देती। बहू प्रथम ससुर को, फिर सास और पति तथा देवरों को बाँटती। बहुधा उसके लिये कुछ भी न बचता था। सुधीन्द्र जब नौकरी पर रहने लगे, तब माता ने हठ करके बहू को साथ भेज दिया। उनके भाई भी उन्हीं के साथ रहने लगे।

ग्यारह वर्ष नौकरी करके असहयोग आन्दोलन के कारण सुधीन्द्र ने नौकरी छोड़दी। वे लिखने लगे। भाइयों को भी व्यवसाय में लगा दिया, पर व्यवसाय का अनुभव न होने से हानि होती गई। इससे वे अर्थ-कष्ट में पड़ते गए, परन्तु माया की चातुरी और साहस से उन्हें ज़रा भी कष्ट नहीं हुआ। परब्रह्म ईश्वर की इच्छा देखिये, माया का समय असमय में ही पूरा हो गया। माया दो मास रोगिणी रहकर फूल की भांति सूखकर इस संसार से हठात् चल दी। सुधीन्द्र और उनकी माता अकेले रह गये।

५

उस समय सुधीन्द्र की आयु २८ वर्ष की थी। उनका शरीर-गठन सुन्दर और कोमल था। कठोर कार्य उनके शरीर को विनोद में नहीं करना पड़ा। वे स्वभाव ही से सुकुमार थे। उनका रंग गौर वर्ण, ऊँची नासिका, उत्फुल्ल आखें और प्रशस्त माथा, तथा किंचित् उठी हुई गर्दन पर भरा हुआ मुख, और उसपर खूब गहरी, काली और भरी हुई मूँछें उनकी आकृतिक को अति गम्भीर, विचार-शील और धैर्य-वान् एवं प्रभावशाली साबित करती थीं। वे बहुत कम हँसते, और बहुत कम लोगों से मिलते थे। लोग उन्हें घमण्डी और आत्मनिष्ठ समझते थे, पर वास्तव में वे अत्यन्त संकोच-शील व्यक्ति थे। अनायास ही किसी के सामने दिल खोलकर बातें करना उनसे बन नहीं सकता था, जिन दो चार से उनका दिल खुला था, उनसे इतना, कि उन पर वे अपने दोषों को भी रत्ती-राई प्रकट कर देते थे। सुधीन्द्र के सम्पुटित भरे हुए होठ उनकी उच्चाकांक्षा और गौरवशीलता के द्योतक थे, और वास्तव में वे ऐसे ही थे भी।

विज्ञान के वे माने हुए आचार्य थे। वे कविता यद्यपि बहुत कम करते थे पर उच्च-कोटि की, अलबत्तः उनकी कहानी-उपन्यासों की खूब धूम थी। उनकी हिन्दी एक नई शैली की सृष्टि कर रही थी, फिर भी यह बात तो सच ही थी, कि वे जो कुछ भी लिखते थे, बहुत कम और उत्कृष्ट होता था। ऐसी दशा में लिखकर वे आजीविका नहीं चला सकते थे।

कालेज से उन्हें जो वेतन मिलता था, उस आय का कुछ भाग संचित था। उसी से उन्होंने कुछ व्यवसाय प्रारम्भ किये थे, जो उनके भाइयों के हाथ में थे। इन व्यवसायों के चलाने का भी उद्देश्य यह था, कि बिना नौकरी किये भाइयों का जीवन निर्वाह हो जाय, और कुछ आय भी हो। परन्तु इस घटना के समय तक वे अपनी सम्पूर्ण पूँजी लगाकर छूछे हो गये थे, और अर्थ कष्ट में दिन काट रहे थे।

६

सुधीन्द्र की दो बहनें थीं, यह तो हम कहही चुके हैं। बड़ी का नाम था, प्रभा। इस समय उनकी मृत्यु को दस वर्ष व्यतीत हो गये थे। विवाह से दो ही वर्ष बाद उनकी मृत्यु हो गई थी। उस मृत्यु में भी एक भेद था—वह मृत्यु अति गम्भीर मर्मवेदना से हुई थी। उसका भी कारण सुनिये।

सुधीन्द्र के एक बाल-सखा और सहपाठी थे, जयगोपाल। जीवन के अति प्रारम्भ में—जब उनकी अवस्था आठ दस वर्ष की रही होगी—इन दो व्यक्तियों का स्कूल के किसी प्रारम्भिक क्लास में मेल हुआ था। वह मेल सुधीन्द्र के कोमल हृदय पर सत्य-मित्रता के रूप में अङ्कित होगया। स्कूल का सहयोग तो तभी छूट गया था,—सुधीन्द्र पढ़ते गये, और, और जयगोपाल अपने काम धन्धे में लग गये। धीरे-धीरे किशोरावस्था और फिर यौवन का उदय हुआ। मित्रता में, न शिक्षा की विषमता ने अन्तर डाला, और न परि-

स्थिति ने। प्रभा जब विवाह-योग्य हुई, तब सुधीन्द्र ने पिता से प्रस्ताव किया, कि प्रभा का विवाह जयगोपाल से कर दिया जाय। जयगोपाल का घराना अति साधारण और दरिद्र था। परिवार-भर अशिक्षित था। जयगोपाल सिर्फ दूसरी तीसरी क्लास तक पढ़े थे, पर उनके पक्ष में एक बात थी, वे खूब हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर और गौर-वर्ण थे, साथ ही बड़े खुशमिज़ाज। अनुभव-हीन सुधीन्द्र ने इन्हीं गुणों पर रीझकर प्रभा को उन्हें देने का निश्चय किया। सुधीन्द्र के पिता ने कहा भी, कि घराना अत्यन्त ग़रीब है और लड़का भी ऐसा पढ़ा-लिखा नहीं, पर गरीबी को सुधीन्द्र ने एक गुण बताया, और शिक्षित होने की अपेक्षा अच्छे स्वभाव को महत्व दिया। पिता पर सुधीन्द्र का प्रभाव था। माता पर और भी अधिक। माता को बड़े बेटे पर गर्व था। वह सुधीन्द्र की बात में कभी दखल देती ही न थी। उन्होंने लड़का पसन्द कर लिया, और पिता को सहमत होना पड़ा। फलतः प्रभा का विवाह जयगोपाल से होगया।

प्रभा सुधीन्द्र की कोमल संस्करण थी। माता पिता की कन्या जैसी होनी चाहिये, वह वैसी ही थी। वह गऊ के समान साधी और गरीब, चन्द्रमा के समान शीतल और तृप्ति-दायि, पृथ्वी के समान सहनशील और अत्यन्त अल्प-भाषिणी बालिका थी। होश सम्भालते ही उसने घर का सारा भार हाथ में लेलिया था। माता चिर-रोगिणी हो गई थी, वे बारह वर्ष शैय्यागत रहीं। इस बीच में प्रभा ने ही गृहिणी का आसान ग्रहण किया। सुधीन्द्र के विवाह के बाद भी उसने माया को लाड़ में रखा। वश चलते माया को किसी काम में हाथ न लगाने दिया। माया पति के

साथ जब-जब आती, महीना-बीस दिन रहती। प्रभा से काम-धन्धे पर उनका घोर युद्ध चलता। शैय्यागत गृहिणी, पुत्री और बहू का प्रणय कलह देख देखकर आनन्द के आँसू बहाती। दोनों को निकट बुलातीं, प्यार करती. छाती से लगाती, और बेटी और बहू दोनों को अनगिनत आशीसें देती थीं। माया और प्रभा एक प्राण दो शरीर थीं। कौन किसे अधिक प्यार करता था, वह जानने का कोई उपाय ही न था। कभी-कभी दोनों के मुकदमे सुधीन्द्र के पिताजी के पास जाते—"मेरा बेटा जङ्गबहादुर है।" बस, प्रभा की जीत हो जाती, वही उस दिन रसोई बनाती। माया कुछ देर रुष्ट होकर सास के पास जा, उनके मस्तक पर तेल मलने लगती। सुधीन्द्र के पिता सदा प्रभा को 'बेटा' कहते थे। और जंगबहादुर था, उनका टाइटिल। कहना न होगा. प्रभा को यह टाइटिल उसकी कर्मठता, गृह-चातुर्य और कठोर परिश्रम के कारण मिला था।

पर प्रभा में केवल उत्कृष्ट शील और गृह-चातुर्य एवं निरालस्य ही न था, वह बड़ी विदुषी थी। सुधीन्द्र ने स्वयं उसे शिक्षा दी थी, वह स्वयं ग्रन्थों के मनन की बड़ी रुचि रखती थी। वह अपने इस अध्ययन को सुधीन्द्र से यत्नपूर्वक छिपाती, इसका कारण सिर्फ संकोच था। इस अध्ययन से उसकी बुद्धि परिमार्जित. विचार बहुत उच्च हृदय विशाल, विवेक बहुत गम्भीर हो गया था। पर उसने ये सारे गुण उसने अपने शीलसंकोच में लपेटकर यत्न से छिपा रखे थे। वह आवश्यकता होने पर जब सुधीन्द्र से "भैया' कहकर कुछ कहती. तब मानो उसका स्वर समुद्र-तल से अनन्त जल-राशि के भार को चीरता

हुआ निकलता प्रतीत होता था। उस स्वर के साथ एक मन्द-हास्य और एक उज्वल दृष्टि निक्षेप होता था। सुधीन्द्र देखते रह जाते। वे जरा हँसकर उच्च-स्वर से कहते—"मैं ज़रा ऊँचा सुनता हूँ, प्रभा—ज़ोर से बोल।" प्रभा झट वहां से भाग जाती।

ऐसी वह प्रभा थी, जो जयगोपाल को दे दी गई। १७ वर्ष की प्रभा अपने भाई-भावज, माता-पिता और भाईयों को छोड़-कर चुपचाप अपनी सहज-गम्भीर गज-गति से अपरचित पति के पीछे चल दी। उसने न तो एक आँसू गिराया, और न उसने कोई वेदना प्रकट की। सब को प्रणाम किया और गाड़ी में बैठ गई—मानो ससुराल जाने का सदा का अभ्यास हो।

प्रभा की ससुराल में दर्जनों आदमी थे। सास थी पङ्गु। उसके पैर मारे गये थे, और वह खड़ी न हो सकती थी। पर वह बहुत सीधी, सरल और मधुर स्वभाव की स्त्री थी। ससुर दुबले-पतले, सूखे और चिड़चिड़े मिज़ाज के रद्दी आदमी थे। देवर कुपढ़, ऊधमी और अवारा थे। ननँद जीदी, घमण्डी, तुनुक-मिज़ाज़ थीं। घर में कोई सलीक़ा नहीं, कोई प्रबन्ध नहीं,कोई व्यवस्था नहीं,—हर समय अशान्ति और गाली-गुप्ता होता रहता था। हर समय हर वस्तु का घर में अभाव रहता था। दरिद्रता इस घर में मानो अपना अट्टाहास करती थी। स्वच्छता, मर्यादा और सात्विक जीवन का यहाँ पता न था। दो-एक वृद्धा-विधवाएँ इस घर में थीं—बात-बात पर गालियाँ देतीं, और कोई कुछ कहता, तो रो-रोकर धरती सिर पर उठा लेतीं। बीच-बीच में गृह-पति घर में आकर जो दहाड़ते, तो मानो प्रलय हो जाता!

ससुराल को देख और समझकर प्रभा मर्माहत हुई। पर

एक दो-ही दिन में उसने अपना चित्त स्थिर कर लिया। उसने इस घर को सुधारने का निश्चय कर लिया! अपनी सहायता के लिये उसने दो व्यक्ति चुन लिये, एक पति और दूसरी सास। उसने प्रथम खाद्य-सामग्री और भोजन की सुव्यवस्था की, और फिर वस्त्रों की। इसके बाद घर की शुद्धि में उसने योग दिया। सुधीन्द्र को उसने पत्र लिख दिया कि वे एक महीने बाद बिदा कराने आवें, उसके इस पत्र पर सभी चकित थे। एक महीने बाद जब सुधीन्द्र ने देखा,तो वह बहुत थकी और चिन्तित थी। फिर भी वह भाई को देखते-ही खिलखिलाकर हँस पड़ी। इतने जोर का हँसना प्रभा के लिये अस्वाभाविक था। सुधीन्द्र आवाक् रह गये। उन्होंने एक-दो कुशल प्रश्न पूछे, और सन्तोष जनक उत्तर पा, शान्त होगये। वे उसे ले आए।

दुबारा सुसराल जाकर प्रभा ६ महीने यहाँ रही। वह आधे दिन तो घर के धन्धे, सफाई, रसोई आदि में लगी रहती। घरकी सभी स्त्रियों को उसने छुट्टी दे दी थी। वह झाड़-बुहार से लेकर रसोई और चौका-बर्तन तक सब काम स्वयं करती। इसके बाद वह सास की सम्हाल और टहल में लग जाती। ससुर का नाश्ता भोजन आदि उसने नियमित कर दिया, वे उसके प्रशंसक बन गए और उससे दबने लग गये। प्रभा ने उनसे कहला भेजा था, कि यदि वे कभी घरमें आकर बकें-झकेंगे, तो मैं बाहर आकर उनके पैरों पड़ जाऊंगी। एक बार उसने ऐसा किया भी। निदान उनका सब बकना-झकना बन्द हो गया।

एक दिन प्रभाका जरूरी तार पाकर सुधीन्द्र उसको सुसराल पहुँचे। पहुँचकर सुना—एक डाके के अभियोग में पति और ससुर दोनों ही को पुलिसने गिरफ्तार कर लिये हैं.सुधीन्द्र अवाक् रह गये। प्रभा से मिलकर उन्होंने पूछा—'प्रभा यह

क्या मामला है ?" प्रभा का चेहरा सफेद पड़ रहा था। उसने अपने ज़ेवरों की गाँठ भाई के सामने रखकर कहा—"भाई, किसी भी तरह मामला रफ़ा-दफ़ा कराकर उन लोगों को ले आओ।" सुधीन्द्र से प्रभा की वह दृष्टि देखकर फिर कुछ पूछते न बना। वे उल्टे पैर लौटे और उसी सन्ध्या को दोनों पिता-पुत्रों को लेकर आये।

लौटकर उन्होंने जाँचकी—वास्तव में घटना से इन दोनों व्यक्तियों का कहाँ तक सम्बन्ध है। जब उन्हें विश्वास होगया, सम्बन्ध तो सत्य है, सुधीन्द्र वज्राहत से बैठे रहे। उन्होंने उस घर में अन्न जल न किया। एक बार उन्होंने प्रभा से कहा—"चलो बहिन, इस घर को हमलोग त्याग दें। हाय क्या यह घर तुम्हारे योग्य था ?" प्रभा ने फीकी हँसी हँसकर कहा—"भाई यह घर मेरे छूटे अब न छूटेगा। आप मन के क्रोध को रोकिये, और घर जाइये। मेरी एक विनय और मानिये। इस घटना की चर्चा वहाँ तनिक न कीजिएगा। इस घर में बहुत सुधार हुआ है, यह भी हो जायगा। प्रभा इतना कहकर चुप हो गई। सुधीन्द्र चलने को उठ खड़े हुए। उनके नथने क्रोध से फूल गये थे। वे क्रुद्ध सर्प की भाँति फुफकार ले रहे थे। जय-गोपाल ने भीतर घुस कर कहा—"अरे, आपका भोजन-स्नान नहीं हुआ ? जाइये, स्नान कीजिये।" इसके बाद प्रभा से उन्होंने भोजन की तैयारी का अनुरोध किया। सुधीन्द्र बिना उत्तर दिये घर से बाहर निकल गये। प्रभा ने उन्हें रोका नहीं।

इस घटना के कुछ महीने बाद प्रभा पिता के घर आई। स्वयं पिता उसे लाये थे। वह पीली पड़ गई थी और उसके नेत्रों का तेज बुझ गया था। सुधीन्द्र को देखते ही वह हँस

पड़ी, पर सुधीन्द्र उसे एकटक कुछ देर देखते रहे, और फिर चुपचाप चले गये। एकान्त में जाकर उन्होंने दो बूँद आँसू पोंछ लिये। दो चार ही दिन में स्पष्ट होगया, कि प्रभा का शरीर निरोग नहीं है, उसे मन्द ज्वर रहता है और खाँसी भी है। वह थोड़े-ही काम से थक जाती है, तिसपर भी वह बार-बार हँसती है। वह उसी हास्य में अपनी सभी वेदना छिपाना चाहती है। वह जितना हँसती उतनाही वे चिन्तित होते हैं।

प्रभा सुधीन्द्र से बात करने का सुयोग टालती रहती थी, पर एक दिन सुधीन्द्र ने उसे घेर लिया। उन्होंने कहा "प्रभा सब कुछ बताना पड़ेगा।" प्रभा हँसी। वह पति के घर के दोषों को कैसे बताती? सुधीन्द्र ने बहुत समझाया, अन्त में प्रभा ने साहस करके कहा—"भैया तुम इस चिन्ता में क्यों हो? मैं सब सुलझा लूँगी। वे सब बड़े सज्जन हैं। मुझे वहाँ कुछ भी तो कष्ट नहीं; मैं बहुत अच्छी हूँ।"

इसपर सुधीन्द्र हँस दिए। इस हँसी से अप्रतिभ हो, प्रभा उठ गई। सुधीन्द्र ने फिर बहन को इस कष्टकर सङ्कट में न डाला। समझ गये प्रभा एक शब्द भी न कहेगी; वे फिर विनोद और हास्य से प्रभा के मन बहलाने की पूर्ण चेष्टा करने लगे। प्रभा के लिये वे व्याकुल होगए। दो मास ठहरकर प्रभा अपने पति के साथ चली गई। जयगोपाल दो दिन ठहरे, पर सुधीन्द्र ने उनसे बात भी नहीं की। माता ने प्रभा को छोड़ जाने का अनुरोध किया. पर उन्होंने नहीं माना, और प्रभा को ले गये।

इस बार एक वर्ष तक प्रभा का समाचार नहीं मिला। जो एक-दो पत्र आये भी, वे साधारण कुशल-मंगल के थे। सुधीन्द्र बहुत इच्छा करने पर भी प्रभा को पत्र नहीं लिख सके।

उनपर जयगोपाल के सभी चरित्र अब प्रकट होगये थे। उनका व्यभिचार, अवैध व्यापार और निकृष्ट संगति, उन्हें मालूम होगए। जाली सिक्के बनाना, डाकुओं से माल खरीदना-आदि उनका व्यवसाय, उनके ये दोष अत्यन्त तेज़ी से बढ़ रहे थे। सुधीन्द्र बारम्बार प्रभा का ध्यान करते, और कभी-कभी रोते थे। पर जयगोपाल के इस हीन-चरित्र के सम्बन्ध में उन्होंने घर में किसी से भी कुछ नहीं कहा। उनकी माता इस बात से सर्वथा अनभिज्ञ रहीं। पिता कुछ-कुछ जानते थे। औरों को जानने की ज़रूरत ही क्या थी? जयगोपाल सुधीन्द्र के मित्र थे, फिर उनकी प्राणों से प्यारी बहन के पति थे, इतने पतित और दुश्चरित्र होंगे, ऐसी उनकी कल्पना भी न थी। समझते—ऐसे दरिद्र घर में जाकर, और ऐसे खुशमिज़ाज पति को पाकर प्रभा अपनी योग्यता से, छोटी-सी बढ़िया गृहस्थी निर्माण कर लेगी, वह सुखी रहेगी पर क्या हुआ?

एक दिन अचानक प्रभा अपने ससुर के साथ आगई। वह उठ भी नहीं सकती थी, हड्डीयों का ढाँचा होगई थी। घरभर में प्रभा को देखकर हाहाकार मच गया। सुधीन्द्र थे नौकरी पर, उन्हें तार देकर बुलाया गया। सुधीन्द्र और माया उसकी सेवा में जुट गये। प्रभा अब भी हँसती थी। वह बड़े धैर्य और आनन्द से मर रही थी। वह जानती थी, कि कलङ्कित श्वसुर गृह और कुमार्गी पति से छूटने का जीते जी उपाय नहीं। वह दो वर्ष तक आत्म बलिदान के मार्ग पर चलती रही। वह परम पवित्र देवी—जो वास्तव में कोमलता और सेवा की प्रतिमा थी—परिवार की दासी बनाई गई, जो न केवल दरिद्रता और कुसंस्कारों का घर था,

प्रत्युत जो पाप, कलह, दम्भ, पशुता और अपराधों का क्षेत्र था। वह जब तक सम्भव हुआ, युद्ध करती गई, अन्त में गिरी। दो वर्ष के अन्दर वह सुन्दर बलिष्ठ युवती हड्डियों का ढाँचा रह गई। उसकी मनोवेदना का अन्त निकट आ रहा था, यह जानकर वह प्रफुल्ल थी। शायद ही कोई मनुष्य का बच्चा अपनी उन्नीस वर्ष की आयु में मृत्यु को इतने उल्लास से गले लगाता हो!

अन्त में वह समाप्त होगई। मृत्यु की रात को उसने अपने पति और भाई को अपनी शैय्या के पास बुलाया। एक क्षण-भर दोनों की ओर देखा, फिर कुछ देर को दृष्टि नीची कर ली। इसके बाद उसने सुधीन्द्र की ओर करुण दृष्टि से देखकर कहा—"भैया, तुम जानते हो मेरी बीमारी क्या है? तुम चाहो तो मैं कल अच्छी हो जाऊँ। भैया मुझे अच्छी कर लो!"

सुधीन्द्र सिरहाने बैठ गये। उन्होंने उसके माथे पर हाथ फेरकर कहा—"प्रभा, तू मुझसे क्या चाहती है?"

एक बार साहस करके प्रभा ने सुधीन्द्र की ओर देखा, और कहा—"मैं चाहती हूँ, कि तुम दोनों वैसे ही प्रेमी और मित्र की तरह रहो। इनका अपराध क्षमा करो; इन्हें प्यार करो; इन्हें सुधारो; इनमें दुर्गुणों के बीज हैं, सोहबत और कुसंस्कार से ये कुमार्ग में गए हैं। ये सुधर जावेंगे, इनकी अभी उम्र ही क्या है।

प्रभा कहते-कहते बेहोश होगई। सुधीन्द्र सुनकर सन्नाटे में रह गये। प्रभा क्या इतनी गम्भीर महिला है? उन्होंने जयगोपाल की ओर देखा—वे रोगिणी की पट्टी पर सिर टेककर जोर-जोर से रो रहे थे।

सुधीन्द्र उठे। उन्होंने हाथ पकड़कर जयगोपाल को उठाया। उन्हें छाती से लगाया। वे देर तक उन्हें छाती से लगाया। वे देर तक उन्हें छाती से लगाए, खड़े रहे। वे भी रो रहे थे। उनके कण्ठ से स्वर नहीं निकलता था। थोड़ी देर में उन्होंने देखा—प्रभा उन दोनों को इस तरह खड़े देख, हँस रही है।

प्रभा ने कहा—"बस भैया, अब मैं अच्छी होगई। अब तुम सदा इसी भाँति रहना।"

जयगोपाल ने कहा—"रिश्ता चाहे जैसा हो, मैं सदा आपको बड़ा भाई समझता रहा हूँ। अपने कुकर्मों पर मैं खुद शर्मिन्दा हूँ, पर क्या करूँ, मेरी कोई प्रतिज्ञा स्थिर नहीं रहती। इन्होंने मुझे जिस जीवन की झांकी कराई है, उससे मैं बहुत दूर हूँ। आना चाहता हूँ, पर पर आ नहीं सकता। बड़े भाई; मुझसे घृणा न करो; मुझे क्षमा करो; मुझे सुधारो! इन्हें इस बार अच्छा कर दो, मैं तुम दोनों का आज्ञाकारी दास रहूँगा। तुम मेरा हाथ पकड़ो; मुझे उबारो!"

सुधीन्द्रने कहा—"जयगोपाल, मैंने तुम्हें कितना प्यार किया, इसका प्रमाण तो यही यथेष्ट है, कि मैंने प्रभा तुम्हें दी। अब और क्या कहूँ? पर मैं तुम्हें खरा सोना समझता था। हाय, तुम क्या निकले! खैर आज मैं प्रभा की सौगन्ध खाकर कहता हूँ, कि मैं कभी तुम्हारे विरुद्ध न सोचूँगा। प्यार तो तब भी करता रहा हूँ, जब क्रुद्ध रहा। मेरा क्रोध सात्विक था, द्वेष का नहीं। अब मैं तुम-पर कभी क्रोध नहीं करूँगा। जयगोपाल, सोचो तो,

हम तुम दोनों एक से ही तो हैं। बचपन से एक साथ पढ़े। सोचो, तुम कहाँ गये, और मैं कहाँ ? यह मत समझो, कि मैं तुम्हारा तिरस्कार करता हूँ, मैं सदा तुम्हें अपने वश में रखना—बल्कि सिर पर रखना चाहता था। मैंने तुम्हें सिर पर रखा भी, पर क्या यह उचित हुआ ? देखो, प्रभा क्या ऐसी थी ?"

जयगोपाल धरती पर बैठ गये। सुधीन्द्र ने उन्हें फिर उठाकर आलिङ्गन किया। प्रभा देखती रही, उसकी आंखों में प्रेम और सन्तोष के आँसू थे। उसी रात को प्रभा ने प्राण त्यागे।

इस घटना को एक वर्ष व्यतीत हो गये हैं। सुधीन्द्र और जयगोपाल बहुत कम मिलते हैं, परन्तु प्रेम, विश्वास और मित्रता वैसी ही है। सुधीन्द्र उच्च-शिक्षा, उच्चपद प्राप्त कर, उसे त्याग, अब साहित्य-सेवा के व्रती हुए हैं, और उनकी धन सम्बन्धी स्थिति बहुत नाजुक है। उधर जयगोपाल लाखों की सम्पत्ति के स्वामी हैं। उनकी दर्जनों मोटरें हैं। वे एड़ी से चोटी तक रेशम पहनते हैं। उनके हाथ में एक बड़े हीरे की अँगूठी रहती है। तब से अब तक उन्होंने अनेक व्यापार कर के ही यह सम्पत्ति कमाई है। ढाके के माल की खरीद का पुराना धन्धा अब बहुत बढ़ गया है। जाली सिक्के और नोटों का कारबार भी बहुत ऊँचे दर्जे का होगया है। चरित्र की बात न कहना ही अच्छा है। इस समय हिन्दुस्तान भर की खुफ़िया पुलिस एक बार वीर को देखने के लिये उत्सुक है, पर सुधीन्द्र के साथ में यह व्यक्ति अब भी वैसाही सरल है। वह अपने प्रत्येक दोषों को, कुकर्मों को और अपराधों

को उनसे दिल खोलकर बयान कर देता है। सुधीन्द्र सुनते हैं, हँसते हैं, उन्हें प्यार करते हैं, और अब उनका सुधार असम्भव समझते हैं। प्रभा को दस वर्ष पूर्व जो उन्होंने वचन दिया था—वे उसे नहीं भूले, जीवन भर भूलेंगे भी नहीं।

७

जयगोपाल कद के ठिगने थे। तिसपर उनका पेट बेतरह फूल गया था। शराब ने उनके चेहरे को भी फुला दिया था। सब मिलकर उनका शरीर कौतूहलपूर्ण बन गया था। फिर भी वे कड़ी मिहनत और दौड़ धूप से घबराते न थे। उनका व्यवसाय ही ऐसा था। निश्चिन्त रहना असाधारण गुण था। ग़ैरकानूनी कार्यवाहियों और अपराधों आदि के दस-बीस मुकदमे सदैव ही उनके पीछे लगे रहते। इसके सिवा दर्जनों जोखिम भरे काम उनके दैनिक प्रोग्राम में सम्मिलित थे। ५—५ सौ रुपए मासिक पर यूरोपियन स्त्री-पुरुष उनके यहाँ इस समय नौकर थे। ये सभी उनके अवैध गुप्त व्यापार में सहायता देते थे। इस समय चीन फ्राँस और जर्मनी तक उनका व्यापार चलता था। बम्बई, कलकत्ता, लाहौर, सिंगापुर और दिल्ली आदि में उनकी बड़ी-बड़ी आढ़तें थीं। वे चीन को ग़ैर-क़ानूनी अफ़ीम भेजते, फ्रांन्स से कुकीन मँगवाते। जर्मनी से जाली नोटों के क़ाग़ज़ तैयार कराकर और छपवाकर मँगवाते। अनेकों बैङ्क, और करेन्सी आफ़िसों के प्रधान कर्मचारी और आबकारी विभाग के उच्च अधिकारी हज़ारों रुपये मासिक

स्थायी वेतन के रूप में घूस पाते थे। कुकीन बैङ्कों की मारफत आता, अब कहिये उनको बाधा क्या थी ?

कुकीन और अफ़ीम की एक एक खेप लाख लाख. पचास-पचास हज़ार रुपये की होती थी। बहुधा उनके काम का सिल सिला यह होता—गैरक़ानूनी माल को लेकर एक प्रतिष्ठित यूरपियन लेडी या सज्जन रिज़र्व फ़र्स्ट क्लास में सफ़र कर रहे हैं। उसी गाड़ी में आप भी चुपचाप थर्डक्लास में जा रहे हैं—उस फ़र्स्टक्लास डब्बे के आप रक्षक हैं। प्रतिक्षण आपकी उस पर दृष्टि है. कहीं पुलिस बाधा तो नहीं देती या एजेण्ट माल लेकर रफूचक्कर तो नहीं हो जाता—यही उनका देखना था। उनके साथ १०-१५ अनुचर भिन्न भिन्न भेष और रूप में, भिन्न-भिन्न स्थानों से भिन्न-भिन्न स्थानों तक इधर-उधर सफ़र कर रहे हैं—कोई साधारण भला आदमी मुसाफ़िर है तो कोई फेरी से चूरन तेल बेचनेवाले एजेण्ट ! ये सब गोली-बारूद से लैस, आनन-फ़ानन में जान ले लेने और दे देनेवाले चुने हुए जीवट के आदमी होते थे। जयगोपाल के वस्त्रों में स्वयं दो ऑटोमेटिक भरी हुई पिस्तौलें सदा रहती थीं। बहुत करके तो प्रबन्ध की उत्तमता से मार्ग में घटनाएँ होती ही नहीं थीं—पर कोई दुर्घटना हो गई तो प्रथम कौशल से और विवश होने पर फिर मुक़ाबले से हटा दी जाती थी। उदाहरण सुनिए—किसी भी तरह स्टेशन के कर्म-चारियों को इन रहस्यमय यात्रियों का पता लग गया। वे किसी कारण से सन्तुष्ट भी न हो सके। बस, बीच के किसी स्टेशन पर अचानक आबकारी पुलिस ने पार्टी की तलाशी लेनी चाही ! सब कुछ जो था वह फर्स्ट-क्लास में प्रतिष्ठित अँगरेज़ महिला के पास, शेष के पास क्या ? पार्टी में कोई संगठन है वह भी कैसे पता चलता ? हथियार

रखने की रीतियाँ ऐसी थी कि उनका पता लगाना असम्भव ! फ़र्स्ट-क्लास में घुसने का यदि किसी हिन्दुस्तानी पुलिस अफ़सर ने साहस भी किया, तो गोरी साहिबा ने गाली और लातों से ख़बर ली। निदान, गाड़ी खसक चली। अधिकारियों ने अगले स्टेशन को ख़ास प्रबन्ध का तार दे दिया। इधर जब गाड़ी बीच जङ्गल में पहुँची, धड़ाधड़ माल जङ्गल में फेंक दिया गया। दो चार आदमी भी कूद गए। गाड़ी जब अगले स्टेशन पर पहुँची, बड़े उच्च पुलिस अधिकारी गाड़ी में आये। तलाशी ली, और लज्जित हुए। एक न सुनी, दावा किया-हर्जाना लिया; अफ़सर को मुअत्तल कराया।

ये लेडियाँ कोई लावारिस औरतें नहीं—बहुधा उच्च-पदस्थ व्यक्तियों की रिश्तेदार होती थीं, लोभ-वश यह कुकर्म करती थीं। यदि इनमें से किसी की यात्रा दिल्ली से कलकत्ते तक सफल होजाती थी,तो सब ख़र्च के सिवा १ हज़ार से दस हज़ार तक रुपया इनाम मिलता था। वह साधारण प्रलोभन न था। इसी प्रलोभन के बल पर ये अभागिन स्त्रियाँ स्वयं ढूँढकर अपने से भी उच्च अफ़सर की सम्बन्धिनी स्त्रियों को लाती थीं। जो स्त्री जितने उच्च-पदस्थ अफ़सर की निकट-सम्बन्धिनी होती, उतना ही उसका मूल्य अधिक होता; क्योंकि वे उतनाही अधिक निर्विघ्न यात्रा कर सकती थीं। ये स्त्रियाँ इस असुन्दर, अपढ़ और क़ानूनी गुनहगार आदमी से न-केवल आदरपूर्वक बातें करतीं, उससे प्रेम भी करतीं, उसकी अङ्क-शायिनी बनतीं, और परस्पर घोर ईर्षा-वश उसे विजय कर, अपने ऊपर प्रसन्न करके गर्व का अनुभव करती थीं।

क्या आप विश्वास करेंगे, कि जयगोपाल इतना करने पर या तनिक असावधानी के कारण उन्हें बेंतों और चाबुकों से

मारते और फ़ोश गालियाँ देते हुए नोटों का बण्डल उनके ऊपर फेंककर उन्हें आँखों से दूर होने का हुक्म देते। पर वे अनुनय विनय से उनसे क्षमा मागतीं, प्रसन्न करतीं और भविष्य में सावधान रहने की बारम्बार प्रतिज्ञा करती थीं।

दस-बीस हज़ार रूपये के नोटों का गट्ठर जयगोपाल की जेब में सदैव रहता। कोट की बाहरी जेब सदैव बे तरतीब से रेज़गारी और रुपयों से भरी रहती। कहीं भी पहुँचते ही वे बेपरवाही से कोट उतारकर एक तरफ़ फेंक देते। और जब जिसे जो चीज़ ख़रीदनी होती उस जेब से मुट्ठी भर रेज़गारी निकालता और देकर चल देता। हिसाब-किताब जयगोपाल को घुट्टी में नहीं पिलाया गया था। १०-२० लाख रुपए तक का उनकाभुगतान एक एकसौदे का होता था, पर सब विश्वास पर। लिखा-पढ़ी का काम नहीं। सङ्केत-स्थलों पर, नियत समय पर मोटरें पहुँच जातीं। रुपये और माल का क्षण भर में विनिमय हुआ और दोनों पार्टियाँ अपने अपने रास्ते लगीं। ऐसे समय में यदि पुलीस ने या और किसी ने विघ्न किया—वह वहीं मार डाला गया।कभी कभी तो ख़ासी पिस्तौलों की लड़ाई होजाती थी। विश्वासघात की सज़ा सिर्फ मौत थी। जयगोपाल से विश्वासघात करने का साहस करना निश्चित् मौत को बुलाना था।

हिन्दू,मुसलमान, ईसाई या छोटे-बड़े का भेद-भाव जयगोपाल के यहाँ नहीं था। भोजन के समय सब एक साथ बैठते। एक पात्र में खाते। उसमें ब्राह्मण भी और मुसलमान भी। मेम साहिबा और साहब बहादुर—फ़र्श पर उनके साथ भोजन करने बैठना, उनका मनोरञ्जन करना, उन्हें शराब के पैक भरकर देना अपना सौभाग्य समझते थे। जयगोपाल जब

जूते पहनना चाहते, तो साहब लोग लपककर फ़ीते बाँध देते। कोट पहनते तो मेम साहबा फ़ुर्ती से उन्हें कपड़े पहना देतीं।

नौकर भी प्रायः उनके साथ-ही खाते थे। उनके खाने के प्रकार में भेद न था। नौकर लोग जयगोपाल से कभी कोई वस्तु रुपया-पैसा नहीं माँगते थे, तनख्वाह भी तै नहीं करते थे। रुपयों की ज़रूरत हुई, जेब में हाथ डाला निकाल लिये। इसकी सूचना-भर कर देने की ज़रूरत थी। कितने लिये, यह बतानो भी कुछ आवश्यक न था।

खूँटी पर रेशमी नया गर्म कोट टँग रहा है। ड्राइवर आया पहनकर चल दिया। अब आप अपना कोट ढूँढ़ रहे हैं, ड्राइवर दौड़कर आया—अजी, वह मैंने पहन लिया।' 'क्यों बे सुअर, अब मैं क्या पहनूँ? ला जल्दी दूसरा।' बस, दूसरा कोट निकल आया। कहार पंप-शू पहनकर सरकारी खरीदने निकल गया। 'क्यों बे नये जूते उड़ा लिये। नबाब होगया? बिना जूते नहीं चला जाता।' 'मालिक, कितना कीचड़ होरहा है—पैर गन्दे होने से कमरा न खराब होता?' बस खतम। यार-दोस्त नौकरों के साथ आप चले बाज़ार! हर एक आदमी सौदा खरीदता है आप चुपचाप खड़े देखते हैं या किसी कचालूवाले की दूकान पर बैठकर कचालू खाते हैं। जब सब खरीद चुके आप दूकानदार से बोले—'कितना हुआ?' और जेब से नोट निकाल कर लापरवाही से फेंक दिये। वापिस क्या बचा? यह कौन देखे? बाइसकोप थिएटर की धुन चढ़ी, तो जारहे हैं तीन दर्जन आदमी दोस्त, खिदमतगार और कहार, रसोइये तक सोफ़ा पर डटकर बैठे हैं। आपने एक सीन देखा, उठ चले। यार लोग देख रहे हैं। बस, एक बात थी—जय-गोपाल को गुस्सा न आना चाहिये—उनकी इच्छाओं और

आवश्यकताओं को उनके बिना कहे ही अपनी बुद्धि से जान लेना जरूरी है। पुकारने पर हाज़िर होना ही लाज़िम है। 'जी आया' कहना, बारूद में आग लगानी है। फिर चाबुक है और जयगोपाल का हाथ। भले ही मर जाय—बचाने का कोई साहस नहीं कर सकता।

दर्जनों आदमी दिन-भर पड़े माल मलीदे उड़ाते, ताश खेलते या पड़े सोते हैं। इन्हें कोई काम नहीं। पर ये आवश्यकता होने पर चुपचाप जेल जाते, और साल दो साल की काट आते। कोई काम नहीं, जो ये न साध सकते हों। ये लोग सिर्फ पेट और जेबें भरते हों, यही बात नहीं, इनमें से बहुतों की शादी जयगोपाल ने की है; और बड़ी धूमधाम से। इन लोगों की कारगुज़ारी का एक उदाहरण सुनिए—

एक आदमी अपनी बेवकूफी से कोकीन-सहित स्टेशन पर पकड़ लिया गया। चालीस हज़ार रुपए मूल्य की कोकीन उसकी गठरी में थी। जयगोपाल बाबू उसके साथ-साथ चल रहे थे। उसकी पकड़ धकड़ होतेही आप ज़रा अलग हटकर तमाशा देखने लगे। पुलिस ने उस पर केस चलाया। अदालत ने पूछा—"इस गठरी में कोकीन कहाँ से आई?" आपने निहायत सादगी से जबाब दिया—हुज़ूर हम नहीं जानते, इसमें क्या है। यह गठरी एक बाबू साहब ने हमें दी और कहा—ज़रा धर्मशाले तक ले चलो। वे आगे-आगे थे, हम पीछे। हमको रोक लिया। ग़रीब आदमी पर जुल्म हो रहा है। जिरह में यह आदमी पक्का बैठा, फिर भी एक साल की सज़ा हो गई। जयगोपाल यहाँ तक चुप बैठे रहे। इसके बाद एक गुर्गे के नाम से ज़मानत पर छुड़ाया और अपील दायर कर दी। छूटते

हो कहा—भाग जाओ, अब हाज़िर न होना। २ हज़ार ज़मानत जप्ती के दाखिल कर दिए। पूछने पर कहा—किया तो गधापन, पर क़सूरवार न था। जहाँ ४० हज़ार गए वहाँ २४ हज़र और सही।

कलकत्ते में आपका एक आलीशान मकान था। मगर मशहूर था, एक नौकर के नाम से। एक बार सशस्त्र पुलीस ने घेर लिया। उस समय मकान में मनों गैर-क़ानूनी माल था। बस, दनादन पिस्तौलें चलने लगीं। हलचल मच गई। उधर पिस्तौलें चलीं—इधर गुप्त मार्ग से सब माल और प्रत्येक आदमी सटकसीताराम होगए। थोड़ी-ही देर में गोरी पल्टन आगई। ऑफ़िसर के कहने से द्वार खोला गया। एक बूढ़ा मुसलमान द्वार खोलकर बाहर आया, बड़े तपाक से अफ़सर से कहा—'हुजूर मालिक घर में नहीं हैं। मैं अकेला बूढ़ा हूँ। मेरे घर पर क्यों चढ़ाई की जाती है! तलाशी ली, तो न कोई आदमी, न रत्ती-भर माल! लड़ाई किससे हुई, गोलियाँ किसने चलाईं। पुलिस के दो आदमी किस तरह मारे गए, कई पुलिसमैन कैसे घायल हुए, यह ख़ाक कुछ भी न मालूम हुआ! बुढ़े ने कहा—दो महीने से मैं ही इस मकान पर हूँ। मैंने समझा, डाका पड़ा, इसी से डरकर छिप गया, द्वार नहीं खोला। गोली चल रही थी।

बड़े बड़े जहाज़ों के कप्तान भी जयगोपाल से तनख़्वाह पाते थे। वे उनका माल सिंगापुर तक पहुँचाते। जब डोंगियाँ भरकर जहाज़ तक जातीं, और कारणवश आबकारी महकमा असन्तुष्ट होकर लञ्च पर धावा करता, तो हुगली की तरंगों पर देखनेयोग्य समाँ बँध जाता। सर्च-लाइट साँप की भाँति लहराती—गोलियाँ सनसनाती चलतीं। मोटर लञ्चें तीर की भाँति

दौड़तीं। यार लोग साफ निकल जाते। पर जब देखते बचना असाध्य है, तब माल दरिया में डाल, जान रोककर गिरफ़्तार हो जाते। पुलिस देखती—कुछ सीधे साधे शहर के नवयुवक जलविहार को निकले हैं। खाने पीने की सामग्री को छोड़ नाव पर कुछ नहीं। बस जनाब, पुलिस पर हरजाने और दिक करने का दावा ठुकता।

यह जयगोपाल के जीवट के काम थे। जयगोपाल अपने व्यवसाय में यहाँ तक बढ़ गये थे। परन्तु, उनके इस अनीति के काम में एक नीति थी। उनका दावा था —मेरा मुक़ाबिला गवर्नमेण्ट से है, मैं उसे ठगता हूँ, सर्व-साधारण को नहीं। सरकार भी तो चीन को अफीम बेचती है, फिर मेरा बेचना आपत्तिजनक क्यों? सरकार क्यों काग़ज़ के टुकड़ों को रुपये बताती है, मैं भी क्यों न वैसा करूँ। जाली नोट या रुपये उन्होंने आम तौर पर कभी नहीं चलाये। यह सम्भव ही न था, कि ये नोट या रुपये बाज़ार में खर्च किये जाते हैं, ये सब करेन्सी ऑफ़िस के प्रधान व्यक्ति के द्वारा सरकारी खज़ाने में पहुँचाकर मिला दी जाती थी। अनेक देशी राज्यों के खज़ान्ची या मिनिस्टर, जिन्हें अपना निजी सिक्का चलाने का अधिकार है, जयगोपाल के स्थाई एजेण्ट थे। वे प्रति वर्ष कोई २ लाख, कोई ४ ६ या १० लाख तक जाली सिक्के जयगोपाल से लेकर अपने राजकीय खज़ाने में मिला देते थे।

मारवाड़ के ठाकुर और राजाओं के लिये जयगोपाल अत्यन्त आदर की वस्तु थे। वे लाखों रुपये की अफ़ीम इनसे प्रतिवर्ष खरीदते थे। उनके राज में यह उनका खरीदा हुआ माल निर्विघ्न निकाल देने के लिये राज्यका ही प्रबन्ध रहता था।

जयगोपाल का दूसरा विवाह होगया था। इस स्त्री से उनको कई सन्तान थे। अपनी इस स्त्री और बच्चों से जयगोपाल को अद्भुत प्रेम था। उनका घर सीधा सादा, आडम्बर-शून्य और वैसा ही अस्त-व्यस्त था। उनकी वर्तमान स्त्री को न तो उनकी अद्भुत दिनचर्य्या के जानने की, न गैर-हाज़िरी की बिगत जानने की आवश्यकता थी। ढेर के ढेर रुपये उनके हाथ में सदैव रहते, उन्हें मनमाने ढंग पर खर्च करने और घर-भर में हुक्म चलाने का उसे पूरा अधिकार था। उसके लिये यह काफ़ी था, उसे और कुछ न चाहिये। घर पर जब जयगोपाल रहते, उनकी पूरी सुश्रूषा करना भर पति के प्रति उसका दायित्व था। जयगोपाल जब घर में स्त्री से या बच्चों से बात करते—या माता के पास बैठकर उस भोली भाली वृद्धा से गप्पें लड़ाते—तब कौन कह सकता था, कि यह लाखों में अद्भुत जीवटवाला, साहसी और असाधारण व्यक्ति है।

———

८

सुधीन्द्र की छोटी बहिन का नाम था 'इन्दु'। इस समय इन्दु के चार बच्चे थे। दो पुत्र और दो पुत्री। उनकी ससुराल में अब सिर्फ़ एक ननिया सास बची थी। उसने अपनी सब सम्पत्ति इन्दु के पति को लिख दी थी, और उसे दत्तक ले लिया था। यह सम्पत्ति बहुत साधारण थी। इन्दु के पति राजाराम सीधे सादे, देहाती किसान थे, उनकी शिक्षा नाम-मात्र की थी। पर वे सीधे-साधे, सरल चित्त, न ज्यादे खटपट, न इधर-उधर का प्रपञ्च। अपनी खेती-बारी से जो बचा, वही घर ले आये, और इन्दु के हाथ पर धर दिया। फलतः इन्दु की गृहस्थी ग़रीब थी, पर सुखी और निश्चिन्त।। इन्दु घर के सब काम-धन्धों की और बच्चों की सम्हाल प्रातःकाल से रात तक करती। और बातों की ओर ध्यान देने की उसे फ़ुरसत न थी। सभ्य-संसार से वह अपरिचित थी, वह सीधी-साधी भेड़ के समान थी। घर-गृहस्थी के धन्धों के सिवा वह बहुत कम विषयों पर विचार करती। कभी-कभी पति-पत्नी में किसी साधारण घर के प्रश्न पर विवाद भी होता तो इन्दु एक-दो दिन मौन-कोप करती—और राजाराम सब कुछ भूलकर उन्हें मनाने में लग जाते। वे पहिले तो एकाध अच्छी बात सुनाते। जैसे रिश्तेदारी में कहीं ब्याह- शादी या कोई उत्सव के नेवते की बात, इन्दु इस पर भी गुम रहती। वह चुपचाप कठपुतली की भाँति काम किये जाती। ठीक समय पर भोजन भी पति के सामने रख देती। पर बोलती नहीं—देखती भी नहीं। अपना प्रयास व्यर्थ

जाते देख राजाराम अधीर होकर बच्चों की बेवक़ूफ़ बातें कहते। उनकी बड़ी लड़की सुधा ११ वर्ष की होगई थी। बातों का प्रधान विषय दो-चार लड़कों का ही होता। इस विषय पर इन्दु का मौन रहना कठिन था। पर यदि इन्दु का क्रोध ख़ूब बढ़ा चढ़ा होता, तो फिर इन्दु इस विषय पर भी न बोलती। अन्ततः राजाराम विकल होकर उठते और एकाध धोती या दूसरी साड़ी इन्दु के लिये ख़रीद लाते—फिर चाहे इसके लिये उन्हें किसी से २-४) रु० क़र्ज़ ही क्यों न लेने पड़ते। राजाराम के उठकर घर से बाहर जाते ही इन्दु को भान हो जाता कि ज़रूर कोई नई चीज़ मिलनी है—और जब राजाराम कागज़ में साड़ी लपेटकर घर आते, तो इन्दु एक बार कनखियों से उसको भांपने की चेष्टा करती कि चीज़ कैसी है और क्या है। उसके होंठों में एक हास्य की रेखा आती और वह ख़ूब यत्न से उसे छिपाती। राजाराम की तो दृष्टि ही वही रहती, पर मानो वे इसकी रत्ती-भर भी परवा नहीं करते। इस ढङ्ग से आँगन में खाट पर बैठ कर सुधा को बुलाते, कपड़ा खोल कर फैलाते, हँस-हँसकर उसके गुण, दोष और मूल्य बताते। कहने को वे सुधा से बातें करते, पर संकेत इन्दु को ही करते थे। इन्दु मानो उधर से मन हटाने के लिये और भी ज़ोर-शोर से इधर-उधर घर के काम-धन्धों में दौड़-धूप करती। अन्त में राजाराम सुधा के हाथों वह भेंट या रिश्वत जो कहिये—इन्दु के पास भेज चुपचाप खाट पर पड़ रहते और परिणाम की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करते थे। इन्दु भेंट की ओर आँख उठाकर भी न देखती। पर मन उसका रहता उसी में। वह झट-पट खाना बनाकर धीर-गम्भीर गति से पति के पास आती और अर्द्ध-ज्ञापित स्वर में कहती 'उठो' खाना तैयार है।' राजाराम हँसते

हुए उठकर आसन पर जा जमते। सुलह की जो रही-सही दो-चार बातें होतीं वे भोजन करते-करते खतम हो जातीं। भोजन के कौर के साथ-ही राजाराम इन्दु की दो-चार कड़वी मीठी बातें भी निगल जाते थे। भोजन समाप्त होते-होते इन्दु पूछती—'कितने रुपये खर्च कर आये?' राजाराम कहते—'जो मन में आई कर आये, तुमसे मतलब?' इन्दु कहती—'पर, रुपये मिले कहाँ से?' इसपर राजाराम खूब हँसते। वास्तव में खजाने की मालिक तो इन्दु ही थी, राजाराम पैसा भी पास न रखते थे। जो खर्च वे इन्दु से लेकर करते थे, उसकी पूरी कैफियत उन्हें देनी पड़ती थी। सिर्फ ऐसे ही खास खर्चे के निमित्त इन्दु ने माफ़ी दे रखी थी।

भोजन के साथ सुलह करके राजाराम निश्चिन्त हो घर के बाहर जाकर अपने साधारण धन्धे में लगजाते। इन्दु सब काम से निपट, सब बच्चों का अच्छी तरह हाथ-मुँह धोकर नये वस्त्र पहनाती, और उन्हें प्यार करती। फिर वह यथा-सम्भव शृङ्गार करके उसी साड़ी को पहनती, माँग में सिन्दूर देती और पाँच चार बीड़े पान के लगाकर पति के लिये रख छोड़ती। घर में यह सब कुछ हो रहा है—राजाराम को उसका पूरा अनुमान होता—वे ठीक समय पर घर में पहुँच जाते। इन्दु प्रथम सब बच्चों को उनके पास भेजती—फिर गोद के छोटे बच्चे को लेकर स्वयं उनके पास जाती। बच्चा उनकी गोद में देती, स्वयं भी पास बैठ जाती, राजाराम बीड़े खाते, बच्चों को प्यार करते और इन्दु को तृषित नेत्रों से निहारते। कहिये पाठक! इस निर्धन और अपढ़ दम्पत्ति से अधिक सुखी और कौन था? अब सुधीन्द्र के भाइयों की थोड़ी चर्चा होनी चाहिये। सुधीन्द्र के तीन भाई और थे! सुधीन्द्र से छोटे का नाम था रामजस।

इन्होंने थोड़ी-सी स्कूली शिक्षा पाकर पढ़ना छोड़ घर की जमींदारी का काम पिता की आधीनता में करना शुरू कर दिया था। इस समय इनकी आयु पच्चीस वर्ष की थी और इनका विवाह हुए तीन वर्ष होगये थे। रामजस बचपन से निहायत अखड़ और रूखे स्वभाव के थे। क्रोध की मात्रा उनमें अधिक थी, पर वास्तव में वह कोध न था, चिड़चिड़ापन था। वे बड़े होने पर सब से अलग रहना, अपने काम में लगे रहना और दो चार खास खास दोस्तों में खूब जोर-शोर से हँसना, शेष व्यक्तियों से सर्वथा दूर रहना, सभा-सोसाइटी, जात-बिरादरी, सब से पृथक रहना—बस इसी प्रकार का जीवन बनाये रहते थे। काम-काज के प्रश्नों को लेकर पिता पुत्रों में बहुत मत-भेद हो जाता था। पिता के मत भेद होने पर फिर रामजस या तो अपनी ही चलाते थे, या फिर काम से सदा हाथ ही खींच लेते थे। तिसपर भी दो खास बातें थीं। रामजस दो व्यक्तियों का अदब करते थे—एक माता का, दूसरा सुधीन्द्र का। माता की आज्ञा का विरोध करना, उसकी रुचिसे ज़राभी प्रतिकूल होना उनके लिये सम्भव-ही न था। वे मन-वचन से मातृ-भक्त थे, पर सच पूछा जाय, तो यह माता का अद्भुत वात्सल्य और व्यक्तित्व था। पुत्र की मानसिक दुर्बलता को माता जानती थी। वह जरासी बात पर क्रुद्ध होकर क्षण-भर में अद्भुत विकृत मुखाकृति बनाकर किसी पर जोर से चिल्लाते, तब माता अनायास ही हँस देती। उसका हास्य देखते ही रामजस लज्जित हो, वहाँ से भाग जाते। उनकी बदमिजाजी की यदि कोई माता से शिकायत करता, तो वे हँस कर कहतीं—'मेरा बेटा असल राजपूत है।

जिस मर्द को गुस्सा नहीं, भला वह मर्द कैसा ?' इसके बाद जब रामजस भोजन करने आते, तो माता चुपके-से ताज़ा घी में बूरा मिला कटोरी में भर उनकी थाली में रख देती, और पुत्र के सिर पर हाथ फेर कर कहती–'भैया को रोज घी बूरा खिलाउँगी, उससे मेरे भैया का गुस्सा मीठा होजायगा।, माता की इस अपूर्व क्षमा और सहन-शीलता से कभी कभी रामजस इतने द्रवित होजाते कि खाना छोड़ माता की गोद में मुँह छिपा फूट-फूट कर रोने लगते। माता आँचल से आँसू पोंछती पुचकारती और उसके गुस्से की हिमायत लेती, तारीफ भी करती।

रामजस की स्त्री का नाम था भगवती। रामजस का भगवती से विवाह भी एक औपान्यासिक घटना हो गई, समझिये।

भगवती जिस गाँव की लड़की थी, उसी गाँव में रामजस की सगाई हुई थी। दो वर्ष यह सगाई रही। जिस कन्या से यह सगाई हुई थी, वह मामा के पास बचपन ही से रहती थी। उसकी माता उसे जन्म देकर ही प्रसूत गृह में मर गई थीं, उसकी मामी ने ही उसे पाला पोसा। मामा थे आर्य-समाजी विचार के युवक। उन्होंने उसे गाँव की पाठशाला में कुछ पढ़ाया और जितना साध्य हो सकता था—क़सीदा-आदि का काम भी सिखाया, अन्त में बड़े यत्न से उन्होंने सुधीन्द्र के पिताजी को राज़ी करके रामजस से उसका सम्बन्ध कर दिया। विवाह की तिथि भी निश्चित होगई।

कन्या का पिता एक बादमाश-जुआरी और चोरों का सरदार था। वह गंगा के खादर में एक पहाड़ी तलैटी में रहता था। अब तक वह अपनी कन्या को भुला बैठा

था। वह एकाकी अपने गाँव में रहता, चोरों और बदमाशों का संगठन करता और डाके डलवाता था। किसी ने उसे लालच दिया कि यदि तुम अमुक व्यक्ति से लड़की की शादी करा दो, तो हम दो हज़ार रुपये दिला सकते हैं। वह नीच ज़बरदस्ती जाकर मामा के घर से लड़की को उठा लाया और उस पुरुष को ब्याह की तैयारी करने को कहा। रुपये भी ले लिये। उधर रामजस की लग्न चढ़ गई, और बारात चलने की तैयारी होरही थी, इतने में सुधीन्द्र के पिता को टूटी-फूटी भाषा में कन्या के हाथ का लिखा पत्र मिला। उसमें लिखा था—"आप मेरे धर्म के पिता हैं। मैंने मन वचन से आपके पुत्र को वर लिया है। मेरा पिता दुष्ट और स्वार्थी है। वह रुपए लेकर मेरा विवाह एक वृद्ध के साथ कर रहा है, आप आकर मेरी रक्षा कीजिये। यदि समय पर आपने मेरी रक्षा न की. तो मैं प्राण देदूंगी।"

अपढ़ ग्रामीण बालिका का ऐसा साहस और यह पत्र पढ़कर सुधीन्द्र और उसके पिता अवाक् रह गये, और अब करना क्या चाहिये, यह सोचने लगे। यह भेद गुप्त रखा गया और वे तत्काल वहाँ चल दिये। तब निकट के थाने में जा, पुलीस की सहायता ली, और गाँव में जा धमके। पुलीस को देखकर धूर्त पिता डर गया। उसने बड़ी बिनती की और कहा-"आपने जो सुना है, ग़लत है। मैं विवाह आपके यहाँ खुद करूँगा। इसीलिये लड़की को अपने यहाँ लेआया हूँ। आप बारात यहीं ले आइये।"

गाँव के कुछ लोगों ने भी ज़मानत दी। फलतः सुधीन्द्र

और उनके पिता वापस लौट गये। पर बारात जब गाँव में पहुँची, तो उन्होंने सुना—उस लड़की के विवाह के लिए दूसरी बारात प्रथम ही पहुँच चुकी है, और विवाह की लगभग तैयारी हो रही है। यह सुनकर ये लोग घबराये। इतने में सुना कि कन्या गायब है, और फिर सुना—कि उसने कएँ में कूदकर आत्म-घात कर लिया है।

सुधीन्द्र के पिता का पूर्व ओजस्वी जीवन फिर एक एक बार जागरित होगया। उनका मुख लाल होगया, आँखों में ख़ून उतर आया। सुधीन्द्र ने रँग बेढब देखकर कहा—"पिताजी, सावधान! कोई अनर्थ नहीं करना।"

पिता ने कहा—"क्या लड़के को ख़ाली लौटा ले चलूँगा? मेरे लिये अंग्रेजी राज्य नहीं है, मैं इस गाँव में आग लगा दूंगा, प्रत्येक आदमी को इसी में फूँक दूंगा, और गाँव में जिसकी लड़की सर्वश्रेष्ठ होगी, उसी को ब्याहूँगा।" इसके बाद सुधीन्द्र उत्तर की बिना प्रतीक्षा किये एक पुराने मकान के ढूह पर चढ़ गये, पास खड़े एक आदमी से लाठी खींचकर छीन ली, सिर का साफा कसकर बाँध लिया, और सिंह की तरह गर्जकर कहा—

"भाइयो, बाबू लोग एक तरफ खड़े हो जायँ और मर्द-बच्चे यहाँ मेरे पास आ खड़े हों। आज मर्द-बच्चे का ब्याह है।" बारात में सब मिलाकर कोई सवा सौ आदमी थे। सभी को मानो एक बिजली का तार छू गया हो। जो जिसके हाथ में आया, वही हाथ में ले लिया। प्रत्येक आदमी उस बीर वृद्ध की छाँह में खड़ा हो गया।

वृद्ध ने फिर गर्जकर कहा—"लाठी और जूते के सिवाय और कोई हथियार काम में न लाया जायगा। चाकू

भी यदि किसी के पास के पास हो, तो यहाँ रख दो।" पचासों चाकुओं का ढेर होगया।

इसके बाद उन्होंने अपने भतीजे को पुकारकर कहा—"चन्दन! तुम, सुधीन्द्र और रामजस यहाँ जनवासे में रहोगे। सामान की रक्षा तुम्हारे ऊपर निर्भर है।" चन्दन लोहे के खम्भे के समान ४० वर्ष का अधेड़ और आल्हा का प्रसिद्ध गवैया था।

उसने कहा—"चाचा, यह आल्हा-ऊदल का ब्याह है। गाँव का बच्चा भी जिन्दा न रहने पावे। आप जाइये। यहाँ की एक चीज़ भी गई, तो गर्दन उतार देना। इधर कोई गाँव वाला भागकर भी आवेगा, तो ढेर कर दूंगा।"

इसके बाद ही वृद्ध व्याघ्र ने अपनी सेना समेत गाँव पर धावा बोल दिया। पहला आक्रमण दूसरी बारात पर हुआ। कुछ ही क्षणों में उसकी दुर्दशा होगई। बारात किसी शहर की थी और उसमें सिर्फ चालीस पैंतीस आदमी थे।

वृद्ध सेनापति ने कहा—"सिर्फ़ जूता। भाइयो, लाठी का यहाँ कुछ काम नहीं है।" बस, मारे जूतों के पलोथन कर दिया गया। जिसे जहाँ जगह दीखी, भाग गया। दूल्हा, उसका बाप और दो चौधरी, जो इस बीच में थे, पकड़कर एक पाखाने में बन्द कर दिए गए, और उनके मौर-आदि जला दिए गए।

इसके बाद यह सेना गाँव की ओर चली। गाँववालों ने सब हाल सुन लिया था। हम प्रथम ही कह चुके हैं, कि यह चोरों का गाँव था, और कन्या का पिता चोरों का सर्दार था। गाँव लाठियों और गँड़ासों से सज्जित खड़ा

था। सब से आगे वही वृद्ध का बाप, एक विशाल मज़बूत लाठी लिए जमा था। सुधीन्द्र के पिता अपनी सेना के आगे थे। उनकी अगल-बगल भोला नाई और ठाकुर कुन्दनसिंह थे। दोनों मशहूर फिकैत थे। भोला ने कहा—ताऊजी, गाँव मज़बूत है। गहरी ठनेगी !"

वृद्ध ने दर्प से कहा—"इन नामर्दों के लिये यही काफ़ी है !" इतना कहकर उन्होंने हाथ की लाठी फेंक दी, और जूता हाथ में ले लिया।

दोनों पक्ष डट गये। खूब घमासान हुआ। किसी की खोपड़ी फटी, किसी की रान गई, किसी का कन्धा धरा गया। वृद्ध पुरुष के हाथ में जूता था, जिसकी कनपटी पर बैठता, उधर का गाल और कान ग़ायब ! एक हाथ से लाठी छीनते, दूसरे से जूता जमाते, ऊपर से एक लात जमाते, वह अर्राकर गिरता। तब और दो चार गिरते। वृद्ध भीड़ को चीरते हुए कन्या के पिता के पास पहुँचे। उसकी लाठी एक ही झपेटे में छीन ली। लाठी गँवाकर वह भागा। इन्होंने लाठी फेंककर पैरों में जो मारी, तो औंधे मुँह गिरा। अब दे जूता, दे जूता, दे जूता; फिर लात और फिर जूता, फिर लात और फिर जूता ! नीचे से बूढ़े ने कहा—"चौधरी, बख्श दो, मैं ग़रीब गाय हूँ—मैं ग़रीब गाय हूँ।"

इतने में कुन्दन ने निकट पहुँचकर उसकी टाँग पकड़ कर जो घुमाया, तो वह चीत्कार करके बेहोश होगया। वृद्ध ने आदेश दिया—"इसे बाँधकर ले चलो।" धीरे-धीरे लड़ाई हल्की होगई थी। नेता की दुर्दशा देख गाँववाले भागने लगे थे। सुधीन्द्र के पिता ने पीछा करते लोगों को

ललकार कर कहा—"ठहरो भाइयो, अब गाँव में आग लगा दो। देखना, एक बच्चा भी निकलकर भागने न पाये।"

देखते ही देखते बूढ़े डकंत का छोटा सा घर धाँय धाँय जलने लगा। अन्ततः गाँव के दस-पाँच बूढ़े आदमी आये, और ज़मीन में लोट गये। लड़ाई बन्द हो गई। गाँववालों ने बड़ी चिरौरी की, कसम खाई। सब ने सलाह करके भगवती के पिता को आगे किया। वह भगवती को पकड़े काँपता हुआ आगे आया। गाँव ने कहा—"अब आपके हाथ हमारी लाज है। आप की बात भी रहे, वही करना चाहिये। यह बिरादरी की कन्या है, आप अपनी लग्न में इसी से ब्याह करलें। मरी लड़की तो ज़िन्दा होगी नहीं।"

परिस्थिति पर विचार कर, सुधीन्द्र के पिता ने यह प्रस्ताव स्वीकार किया, और बीच चौराहे में मण्डप खड़ा कर, ब्याह रचा गया। जब फेरे फिर रहे थे, तब सुधीन्द्र के पिता ने एक बार दर्प से गरजकर कहा—"भाइयो, यह गाँव भर की कन्या से मैं ब्याह कर रहा हूँ। मेरा लड़का गाँवभर का दामाद है।"

विरोध करने की ताव किसे थी? सब ने स्वीकार किया। सब ने वर-पूजन किया। सब ने हथलेपी में दान किया। सब ने ही बारात की खातिर तवाजा की।

सुधीन्द्र अब तक चुप थे। जो कुछ हुआ—यह उनके लिये सर्वथा अभिनव था। जो व्यक्ति कभी क्रोध में भी ज़ोर से नहीं बोल सकता, वह इस मर्दानी घटना में भाग क्या लेता? परन्तु सब मिलाकर

उन्हें कौतूहल अवश्य हुआ। वे बहुत विवेचना करने पर भी यह निश्चय न कर सके कि क्या यह सब अनुचित हुआ ? प्रातःकाल होते ही सुधीन्द्र ने एकान्त में पिता से कहा–"यह तो हुआ–जैसे बना, अपनी बात तो रह गई। पर, उस दुष्टके कारण जो एक निरीह बालिकाकी जान गई, उसका क्या होगा ?" पिता ने कहा–"गाँव भर को उसका दण्ड मिल चुका। वे लोग पीढ़ियों तक याद रक्खेंगे।" सुधीन्द्र ने नीची दृष्टि करके कहा—"यह सब तो हमने अपने क्रोध और अपमान के कारण की है, न्याय भी होना चाहिये।" वृद्ध सिंह ने पुत्र से दबकर कहा—"तुम चाहते क्या हो ?" सुधीन्द्र ने दृढ़-स्वर से कहा—'मेरी राय है, पुलिस में इत्तला दी जाय और क़ानून को अपना काम करने दिया जाय, वृद्ध ने कहा—"तब हम लोग आज ही चल देंगे।" सुधीन्द्र ने कहा—"यह ठीक नहीं—गाँववाले पुलिस को कुछ दे-दिलाकर गुम-सुम कर देंगे। फिर हम लोगों ने भी साधारण क़ानून-विरुद्ध काम किया है; सम्भव है, ये लोग हमीं पर कुछ विपत्ति खड़ी कर दें। उचित यह है, कि गाँव के मुखिया को बुलाया जाय, और उन्हीं के द्वारा अपनी हाज़िरी में इस दुष्ट का चालान करा दिया जाय।

गाँव के मुखिया बुलाये गये। बहुत बातें हुई। अन्त में चौकीदार को रिपोर्ट करने भेजा गया। दोपहर तक सदल-बल थानेदार आ-धमके। लाश कुएँ से निकाली गई। बूढ़े को हथकड़ियाँ भरी गईं। दूसरी बारात के दूल्हा आदि ५४ व्यक्ति भी गिरफ़्तार हुए। सुधीन्द्र और उनके पिता के भी बयान हुये। वह कन्या की चिट्ठी भी पेश की गई। अन्ततः यह काम समाप्त करके बारात दुलहिन को लेकर घर लौटी।

इस अद्भुत् मर्दाने व्याह की चर्चा यद्यपि अखबारों तक नहीं पहुँची—पर गाँव गाँव होने लगी—और वह वर्षों चली। वृद्ध की आज्ञा से उस गाँव का पानी तक किसी ने नहीं पिया।

भगवती कोई १७ साल की लड़की थी। देखने में सुन्दर न थी, लम्बे और छरहरे बदन की थी। सब बातों को सुनकर माता ने एक बहू को देखा, और एक गहरी साँस ली। इसके बाद वह आवश्यक कृत्यों में लगीं। माया ने ही नई बहू का पूरा लाड़-प्यार किया। न-जाने क्या बात थी, गृहिणी को इस विवाह से तनिक भी प्रसन्नता न हुई।

भगवती के गुन थोड़े दिन में खुल गये। वह साधारणतया पढ़ी-लिखी थी। वह दिन-भर बैठी अपनी माँ को पत्र लिखा करती। उसमें घर-भर की आलोचनायें रहतीं। आलोचना का मुख्य विषय खाने-पीने की त्रुटियाँ, गृह-स्त्रियों का व्यवहार और नित्य की छोटी-छोटी बातें रहतीं। घर के काम-धन्धों से उसे कोई सरोकार नहीं। वह सबसे प्रथम, सबसे अच्छा खाना पसन्द करती थी। पड़ोसी की लड़कियों और स्त्रियों में बैठकर खोद-खोदकर सास, ननद, और जिठानी के दोषों को पूछना, उनके रहन-सहन, चाल-ढाल, और बातचीत की आलोचनाएँ करना, अपनी माँ की डींगें हाँकना, और इस बे-क़दर घर में आने के लिये अपनी किस्मत को कोसना—उसका काम था। सास के रोगी शरीर की हँसी उड़ाना उसका सब से बड़ा विनोद था। वह सास से घृणा भी करती थी। ननद और जिठानी को वह 'जेण्टलमैन' कहती थी। प्रभा और माया जब तक रहीं, उसे हाथों पर लिये रहीं। दस बार खाने को पूछतीं, पर भगवती के दिमाग़ ही सीधे नहीं होते थे। वह वास्तव में इनलोगोंकी सोहबत पसन्द नहीं करती थी। पहिलीबार १०

दिन रहकर वह मायके चली गई। प्रभा और माया भी अपने-अपने घर गईं। सुधीन्द्र को अधिक छुट्टी न थी। घर में रह गई इन्दु। इन्दु का ब्याह होगया था, पर द्विरागमन नहीं हुआ था। भगवती के जाने के बाद माँ-बेटियों का चिन्तनीय विषय नई बहू का चरित्र रहता। माता कहती—"इन्दु, यह बहू तो निरालीसी लगती है, कैसे इसकी मेरे बेटे से निभेगी?" इन्दु हँसकर कहती—"अम्माँ, गाँव की लड़की है, सब ठीक होजायगा। देख, मैं कैसा ठीक करती हूँ।" वृद्धा को सन्तोष न होता, पर वह चुप होजाती। भगवती के प्रवेशके साथ ही उसके मन में एक विकलता उत्पन्न होगई। वह बहुधा गृह-स्वामी से कहती—"बहू तो बड़ी बेढब लाए, अब क्या होगा?" इस विवाह में गृह-पति इतना अस्वाभाविक साहस कर चुके थे, कि वे चुपचाप सुनकर रह जाते। वास्तव में उनके पास कोई जबाब ही नहीं था? भगवती को देखने, पसन्द करने का अवकाश ही कहाँ था। बिना लड़के को ब्याहे लौटने की फ़ज़ीहत से बचने के लिए उन्होंने दुस्साहस किया था। उस दूर के गाँव और परिस्थिति ने ही उन्हें निर्विघ्न विजयी बनाया था। वरना अँग्रेजी अमलदारी में ऐसा विवाह सम्भव न था। इस बड़ी भारी घटना का उनके मन पर प्रभाव तो था ही—कुए में डूबकर मरनेवाली के प्रति भी उन्हें असीम मनोवेदना थी। यह मनोवेदना—राजाराम, सुधीन्द्र और उनकी माता, माया और प्रभा को भी उतनी ही थी। उस अपरिचित ग्रामीण सती-साहसी बाला के प्रति सभी के हृदय में असीम सहानुभूति, व्यथा, प्रेम और आकर्षण था, और इसी कारण भगवती कुछ उपेक्षा की पात्री भी थी; पर यदि वह योग्य होती, तो अनायास ही उस अस्पष्ट छाया को मिटा सकती, और घर पर अपना

एकाधिपत्य जमा सकती थी। माया तो घर में रहती ही नहीं थी, इन्दु भी कुछ महीनों में जानेवाली थी। दोनों देवर बालक थे, और वे माया के साथ रहते थे। घर रह जातीं, यही बहू और सास। सास को बहूरानी को गृह-सिंहासन पर अभिषिक्त करने में तनिक भी आपत्ति नहीं थी। उसके सद्गुण और रोगी शरीर दोनों ही इसमें सहायक थे।

भगवती जब दुबारा आई, तब उसके कुछ दिन बाद ही इन्दु ससुराल चली गई। घर में सास और भगवती रह गई। सास की प्रकृति प्रारम्भ से ही कठिन परिश्रम की थी। अब वे कुछ स्वस्थ होगई थीं, इसलिए वह उसी प्रकार भोर के तड़के उठतीं, और घर के काम में जुट जातीं। सारा काम खतम होजाने पर तब कहीं भगवती जागती। भोजन दोनों समय गृहणी को बनाना पड़ता। चौका-बर्तन कहारी कर जाती। भगवती कुछ भी नहीं करती। दिन-भर सोना या पड़ोस की कुपढ़ स्त्रियों में फुस फुस बातें करना उसका काम था। अन्ततः गृहिणी ने उसपर शासन करना प्रारम्भ किया। बहुत नर्मी और प्यार से उन्होंने उसे कर्त्तव्य की शिक्षा देनी शुरू की। बहू-बेटियों को किस भाँति सूर्योदय से पूर्व उठना, और निरालस्य होकर घर के काम-धन्धे करने चाहिये, किस भाँति उसे अन्नपूर्णा की भाँति तरह तरह के खाद्य-पदार्थ बनाकर घर-भर को सन्तुष्ट करना चाहिए, मूर्ख स्त्रियों में सदैव निठल्ली बैठी रहने से बहुत हानि है,—आदि।

भगवती ने कुछ दिन सुना। अन्तमें कह दिया—"अम्माजी, तुम मुझे क्या पाठ पढ़ाती हो! मेरी माँ ने सब बता दिया है—सास कैसे बहुओं को चाकरानी बनाकर रखती है। पर मैं कोई बाँदी नहीं हूँ। घर-भर का धन्धा मुझसे न होगा। फिर

अभी तो ब्याहली ही हूँ, मैंने तुम्हारे घर में कौन-सा सुख पा लिया ? तुम तो वह मसल करती हो—'तू रूठी, मैं छूटी।'"

गृहणी अवाक् रह गई। वह बोली नहीं, चुपचाप काम में लग गई। शायद जीवन में प्रथम बार उनकी आँखों में आँसू आए, और ऐसे आए, कि उस दिन शाम तक रुके नहीं।

रात को भगवती ने पति से कहा—"देखो, मैं घरभर की दासी होकर नहीं आई हूँ। न मेरे बाप ने मुझे मोल बेच दिया है, कि दिन-भर गाली-गुफ़्ता सहूँ। अम्माजी से कह देना, नहीं मुझे माँ के पास भेज दो। कल मैं ही एक चिट्ठी भेज दूंगी।"

राजाराम ने कहा—"आखिर मामला क्या है ?"

भगवती ने जाने क्या-क्या बक डाला।

राजाराम ने रात बेचैनी से काटी। प्रातःकाल वे झटपट माता के सामने जा डटे। उन्होंने ज़रा कड़े स्वर से भौंहों में बल डाल कर—"अम्मा, यह क्या बात है ? अभी से इसे क्यों तंग करती हो ? अज्ञान है धीरे-धीरे सब समझ जायगी। तुमसे काम न हो, तो मैं आज ही कहारी लगा देता हूँ।"

गृहिणी के रक्त की गति रुक गई। वे बोल भी नहीं सकीं। एक बार उनका शरीर काँप उठा ! क्या कहें, कुछ समझ भी न सकीं। कल वे दिन-भर रोईं, रात-भर सोई भी नहीं। अब पुत्र का उलहना—यह भी उनके जीवन का प्रथम ही अवसर था। गृहणी उसे कड़वी औषधि की भाँति पी गई। उन्होंने पुत्र को बारम्बार प्यार किया, सिर पर हाथ फेरा, और कहा—"भैया, असल बात तो यह है, कि मैं बुढ़िया होगई, मेरी बुद्धि भी

सठिया गई। तुम जवान हुए, समर्थ हुए। अब अपनी गृहस्थी सम्हालो, अम्मा को छुट्टी दो। रूखी-सूखी दो रोटी दे दिया करो, मेरा पेट पल जायगा। रही नौकरानी की बात, सो भैया, अम्मा अब तो अच्छी होगई है, वह रोटी खायगी, तो क्या काम न करेगी ? फिर नौकरानी की क्या जरूरत है ? बस, बहू से कह दो, अपना घर सम्हाले।"

रामजस बहुत लजा गये। वे चुप चाप सिर नीचा किए, चल दिये। माता ने उन्हें रोककर बैठाया, कुछ नाश्ता निकालकर दिया, और जब तक वे खाते रहे, माता पंखा झलती रहीं। रामजस खाकर जल्दी-से उठ गए। दिन-भर वे विकल रहे। स्नेहमयी माता के सन्मुख ऐसा धृष्ट और अविनय का प्रस्ताव भी उन्होंने कैसे किया ?—यही उन्हें विस्मय होरहा था। यह विस्मय धीरे-धीरे उनके क्रोध में बदल गया। 'भगवती ही इसके लिए अपराधिनी है' यह वह समझ गये। यह मूर्खा स्त्री एक सच्ची प्रेम-मूर्ति को कुए में ढकेल, यहाँ आई ही क्यों ? बारम्बार उनके मन में यही प्रश्न उछलता रहा। दोपहर को भोजन करने वे घर न आये; बाहर ही उन्होंने भोजन मँगवा लिया।

उस दिन गृहणी ने भोजन नहीं किया। क्या पुत्र उनसे इतना अधिक रुष्ट होगया है ?—यही उनकी चिन्ता का विषय था। उनका अपराध क्या इतना भारी है ? बहू-बेटियों पर तो सभी बूढ़ी-बढ़ियों का शासन रहता ही है। हठात् माया की स्मृति उनकी आँखों में आ चढ़ी। वे उसका कभी नाम तो लेती न थीं; 'बहू' कहा करती थीं। अब आगई दूसरी बहू। वह सोचने लगी, अब उसे क्या कहकर पुकारूँ ? हठात् उनके मुँह से निकला 'बड़ी' ! अरे बड़ी क्या ऐसी थी—आते ही घर बार सम्हाल लिया। वे माया की स्मृति और मूर्ति को आँखों में

नचाती हुई जल्दी-जल्दी घर का सब काम निबटाने लगीं। काम से निबटकर उन्होंने पड़ोस के एक बालक को पास बैठाकर बड़ी को खत लिखवाया। बड़ा लम्बा खत था। पर खत में जो लिखना चाहती थीं, वह कुछ भी न लिखा सकीं। बेटे-बहू ने उसका तिरस्कार किया है, यह बात वे कहें कैसे? यह भी भला कोई कहने की बात है? वे आज दुःखी हैं, भूखी हैं—यह भी कैसे कहें। सुनकर परदेश में माया क्या करेगी? सुधीन्द्र ही कैसा बेचैन होगा? राम-राम! यह भी कुछ कहने की बात है? उन्होंने फिर बोलकर खत लिखवाया। उसका विषय था, हमारी बड़ी मौज से कटती है, सास-बहू में खूब घुटती है, बहू खूब काम करती है। उसके सामने तुम-फूहड़ हो—आदि-आदि। पत्र लिखाकर, लिफ़ाफ़ा बन्द करके, उसी बालक-द्वारा डाक में डलवा दिया गया।

रात को रामजस आये, और झटपट खा-पीकर अपने कमरे में चले गये। माता देखती ही रह गईं। उन्होंने उनसे न बात की और न उनकी तरफ देखा ही। इसका कारण तो था, ग्लानि और लज्जा—पर माता ने समझा क्रोध और अवहेलना। उस समय भी गृहणी ने भोजन नहीं किया। वे बड़ी देर तक चुप-चाप काम करती रहीं।

रामजस ऊपर जाकर ज्योंही कमरे में बैठे, भगवती भी जा पहुँची। पहुँचते ही उसने कहा—"देखा तुमने' अम्मा ने आज रोटी नहीं खाई? मेरे ऊपर इतना गुमान क्यों है? मैं इस कलह में नहीं रहूँगी, मैं अलग रहूँगी। तुम्हीं तो कमाते हो....." भगवती और कुछ कह ही रही थी, कि रामजस ने कसकर एक लात लगाकर और गर्जकर कहा—"दुष्टा! यह तेरे बाप का घर नहीं है। यहाँ गुलाम की तरह सब की खिद-

मत करनी होगी, तब जूठे टुकड़े और उतरन पहनने को मिलेगी। खबरदार! जो मेरे कमरे में कदम रक्खा। जा नीचे की कोठरी में पड़ी रहा कर, और अम्मा के लिये एक शब्द भी जो कभी मुँह से निकाला, तो जबान कतर लूँगा—यह याद रखना!" भगवती पर मानो वज्र टूटा। वह अकस्मात् लात खाकर क्षण-भर निश्चेष्ट पड़ी रही;—न रोई, न चिल्लाई, न बोली। कुछ देर बाद वह उठकर बैठ गई, और प्रथम धीरे-धीरे फिर जोर-जोर से कराहने लगी।

गृहिणी ने सुना। और ऊपर दौड़ी आई। उस समय तक भी वे काम से निवृत्त नहीं हुई थीं। उन्हें देखते ही भगवती ने कहा—"अब तो जी में ठण्डक पड़ गई? पिटवा लिया!" इसके बाद वह फिर ज़ोर-ज़ोर से कराहने लगी। गृहिणी ने उसकी बात का कुछ ख़याल नहीं किया। उन्होंने उसे उठाने की चेष्टा की, पर भगवती तो वहीं धरती पर बिखर गई। वह आँखें फाड़-फाड़कर और भी ज़ोर-ज़ोर से कराहने लगी, मानों उसका प्राण ही निकला जाता है।

गृहिणी ने हताश होकर कहा—'बहू, इतना क्यों चिल्लाती है? नीचे तुम्हारे ससुर हैं—सुनेंगे, तो क्या कहेंगे। ऐसी भी क्या लग गई है?" इस पर भगवती ने चिल्ला-चिल्लाकर और भी रोना शुरू किया—"अरे, निर्दयी ने मार डला! हाय री मैया! अरे, बेटे से पिटवाकर ऊपर से बातें बनाती है!"

रामजस से न रहा गया। जितनी देर में माता उन्हें रोके-रोके, उन्होंने एक रस्सी लेकर भगवती को पीटना शुरू कर दिया। भगवती धैर्यपूर्वक पिटती रही, और उसी

प्रकार के शब्द कहती गई। मारते-मारते रामजस थक गये, तो वे रस्सी फेंककर एकदम पलंग पर पड़ कर हाँफने लगे। यह असाध्य व्यापार देख, निरुपाय हो, गृहिणी चुपचाप नीचे चली गई। भगवती का कराहना तनिक कम हुआ। गृहिणी से फिर न रहा गया। वे ऊपर आईं। भगवती को फिर उठाने की चेष्टा की, पर वह न उठी। गृहिणी रामजस के पास आई, और चुपचाप ज़मीनपर बैठ गयी। रामजस माता की गोद में छिपकर ज़ोर-ज़ोर से रोने लगे। रामजस सदैव ही अनायास क्रुद्ध होजाते, और फिर सन्तुष्ट भी हो जाते थे। दुखी होना उनके स्वभाव के प्रतिकूल था। आज वे जीवन में प्रथम बार ही दुखी हुए। दुखी भी इतने कि मानों उनका कलेजा फट गया हो। वे इतनी ज़ोर से रो पड़े कि विवश माता का धैर्य छूट गया। पुत्र के आन्तरिक दुःख को माता ने समझा। बेटे की गृहस्थी सदा के लिये किरकिरी होगई। घर की सुख-समृद्धि चली गई,—यह वे समझ गयीं, और वे भी बेटे को छाती से लगाकर रोने लगीं। दोनों माता-पुत्र खूब रो-धोकर हल्के होगए। तब गृहिणी ने उनसे कहा—"बेटे, यह सब तो तक़दीर के खेल है। जहाँ जूड़ी बँधी थी, वहाँ गाँठ बँधी, अब रोने धोने से क्या? ईश्वर की माया है। इस घर के लिये यही देवी बैठी थी। पर भैया निराश न हो,—वह ठीक हो जायगी। मार-पीट करना मर्दों को नहीं सोहाता। मार पीट से स्त्रियाँ सदा बिगड़ती हैं।"

"जाओ उसे ले आओ।" रमजस ने हिचकियाँ लेते-लेते कहा—"अम्मा मैंने इस दुष्टा को त्यागा, वह सर्पिणी है। इससे मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं। हाँ, यदि यह सब

की चाकरी करे, और शान्त होकर घर में पड़ी रहे, तो रोटी-कपड़ा पा सकती है, नहीं तो इससे कह दो—इसका बाप इसे लेजाय, यह उन्हें लिख देगी। बस और मुझ से न कहो।

गृहिणी ने बहुत समझाया, पर रामजस फिर न बोले। अन्ततः गृहिणी ने चलती बार बहू को नीचे ले जाकर अपने पास सुलाने की बहुत चेष्टा की, पर वह धरती से नहीं उठी। गृहिणी हारकर चली गई। उस रात-भर भगवती वहीं छत पर पड़ी रही। इस प्रकार इस घर में अशान्ति और दुःख का अवतरण हुआ।

यह अशान्ति और दुःख फिर बढ़ता ही गया। माया ने जो सास को दीर्घ रोग-शैया से उठाकर खड़ा किया था, वह सास फिर रोग-शैया पड़ गई। उन्हें दिल की बीमारी बढ़ गई। थोड़े ही कारण से उनके दिल की धड़कन बढ़ जाती, और सिर-दर्द करने लगता। उनका मोहल्ले में जाना, बच्चों से खेलना, सभी बन्द होगया।

हम यह प्रथम ही कह चुके हैं, कि गृह-पति इस अस्वाभाविक विवाह को करके एकदम गुम-सुम होगये थे। मानो उनके हृत्पटल पर कोई भारी आघात लगा हो। अब बहू के स्वभाव और आचरण को देख सुनकर मानो वे बिल्कुल ही जड़ हो गये। उनका विनोदी स्वभाव और बारम्बार घर में फल-फूल आदि लाना सब छूट गया, इस प्रकार घर भर में एक अशुभ छाया पड़ गई।

भगवती अब नीचे ही एक पृथक कोठरी में रहने लगी। राजाराम ने उसकी ओर से बिल्कुल ही मन हटा लिया।

वह घर का कुछ भी न करती, ८-१० बजे तक सोकर उठती; शौच-स्नान या कोई नियम नहीं था। भोजन के समय सास थाली परसकर उसकी कोठरी में रख आती, और वह खा लेता। वह थाली भी सास को उठा लाकर माँजनी पड़ती थी, भगवती यह भी करती। सास-बहू की बोल-चाल लगभग बन्द थी। हाँ, मोहल्ले की कुछ स्त्रियाँ प्रायः उसकी कोठरी में घुसी रहतीं, और भगवती उनसे सदैव घुस-पुस बातें किया करती। अपने इस निकृष्ट जीवन की उसे कुछ परवाह न थी। उसकी इस प्रकार घुस-पुस बातें करना रामजस को सहन न हुआ। गृहिणी भी यह नहीं पसन्द करती थी। फलतः उसकी सहेलियों का आना-जाना बहुत कम होगया, पर भगवती ने हार नहीं मानी; वह द्वार पर जाकर खड़ी होने लगी। वह घण्टों द्वार पर निर्लज्ज भाव से खड़ी रहती; आती जाती स्त्रियों से वहीं से जोर जोर से बातें करती। बीच में पुरुष लोग पार करते, पर भगवती उनकी परवाह न करती। कुलबधू का यह आचरण तो सहन के योग्य न था, पर सास का तो उसपर तनिक भी शासन न था। सास ने उससे कुछ कहना ही छोड़ दिया था। अब रामजस ने इसी कारण से उसे नित्य पीटना प्रारम्भ कर दिया, और भगवती पिटते ही द्वार पर आकर चिल्लाने लगती। यह मार पीट मोहल्ले-भर की स्त्री-पुरुषों की चर्चा की विषय हो गई, और घर-भर की बदनामी फैल गई। बीस लोग बीस तरह की बातें कहते। कोई कहता सास लड़ाकू है, कोई कहता बहू कुलटा है, कोई कहता रामजस नालायक है। गृह-पति और गृहिणी अब और भी लोक-लाज में फँस

गये। उन्होंने भगवती के पिता को लिख दिया, कि इसे ले जाओ। उन्होंने एक नाई भेज दिया, और भगवती चल गई। कुछ दिन के लिये घर में शान्ति होगई।

पर देर तक यह शान्ति न रही। थोड़े ही दिन बाद भगवती स्वयं आ धमकी। इस बार उसके साथ थी उसकी माता। पता लगा, कि पिता का देहान्त हो गया है, अब दोनों माँ बेटियाँ यहीं रहेंगीं। गृहिणी पर गाज पड़ी, गृह-पति और रामजस भी कुछ न सोच सके कि क्या किया जाय। एक न शुद, दो शुद। दो एक दिन बीत गये। इस बार भगवती के गर्व का ठिकाना न था। दोनों माँ-बेटी बैठी कुछ सलाह सी किया करती थीं। गृहिणी को अब दोनों ही के थाल परोसकर उनकी सेवा में हाज़िर करने पड़ते थे। भगवती की माँ ने शीघ्र ही अपने आने का सदुद्देश्य कह सुनाया। उसने कहा—"अब देखूँगी कौन मेरी बेटी को उँगली भी छुआता है? मैंने उसे पाल पोसकर बड़ा किया, सो क्या इसलिये कि वह जगत् की मार खाय। जो कोई उसकी ओर आँख उठाकर देखेगा, उसकी आँख निकाल लूँगी, और जो कोई हाथ उठावेगा, उसकी हड्डियाँ तोड़ दूँगी। मैं ऐसे गाँव की बहू हूँ, जिसमें अच्छों-अच्छों के अञ्जर-पञ्जर ढीले हुए हैं, इनकी तो औक़ात ही क्या है।"

बात बढ़ने लगी, नित्य महाभारत मचने लगा। क़स्बे भर में इस गृह-युद्ध की चर्चा छिड़ गई। गृहिणी और गृह-पति को घर से बाहर निकलना दूभर हो गया। माँ-बेटियों ने अब एक और अस्त्र पकड़ा। या तो आत्मघात करके सब को फाँसी चढ़वा दो, अथवा घर-भर को विष

खिला दो। फिर चाहे हमें फाँसी ही चढ़ना पड़े। जोश में आकर उसने अपनी योजना एक वाक्-युद्ध में सुना ही दी। सुनते ही सब लोग दंग रह गए। छत से कूदने की और कुए में डूबने की भगवती ने कई बार चेष्टा की, पर गृह-पति की मुस्तैदी से अवसर न मिला। एक बार उसने अफ़ीम खा ली, और हँस-हँसकर कहने लगी—"अब जन-बच्चों को हथकड़ी डलवाऊँगी।"

बड़ी दौड़-धूप और चिकित्सा से वह बचाई गई। दिन-रात उन्हें माँ बेटियों पर पहरा लगाना पड़ता। गृहिणी और गृह-पति सूखकर काँटा होगये। रामजस पीले पड़ गये। बहुधा कलह के मारे उनके घर चूल्हा न जलता। भगवती की माँ ने एक और भी अस्त्र ग्रहण किया। वह गाँव भर में नीच स्त्रियों की भाँति मेहनत-मज़दूरी करने लगी। निरुपाय हो, गृह स्वामी ने सुधीन्द्र को लिखकर बुलाया। आने पर उन्होंने कहा—"बेटे, हमारी जान इन राक्षसियों से बचाओ, वरना हम लोग न बचेंगे।"

बहुत-सी बातें हुई। गाँव-भर की पञ्चायत हुई। अन्त में बड़ी कठिनाई से दो हजार रुपये का ज़ेवर, एक हजार रुपया नकद और १५) रुपये मासिक की वृत्ति पाकर माँ बेटियों ने अपने गाँव में रहना स्वीकार किया और सुधीन्द्र ने इस प्रकार बड़ी कठिनाई से यह ग्रह टाला! तब के बाद से वे लोग यहाँ नहीं आए। इस घटना को कोई ५-६ साल व्यतीत हो गए होंगे, सुधीन्द्र प्रति छमाही तीन-चार वर्ष तक वृत्ति भेजते रहे। इसके बाद उन्होंने सुना, कि भगवती एकाएक घर से गायब होगई है, तब से उन्होंने वृत्ति भेजना भी बन्द कर दिया। भगवती की माँ ने वृत्ति के लिये एक-दो बार धमकी दी भी,

पर वह सुधीन्द्र ने सुनी नहीं। इस प्रकार इस पाप से इस घर का पिण्ड छूटा।

अब इस परिवार के केवल दो व्यक्ति और परिचय के लिए रह गये। वे थे, सुधीन्द्र के दोनों छोटे भाई। इस समय एक की आयु थी २० वर्ष, दूसरे की १६ वर्ष। दोनों सुधीन्द्र के साथ रहते थे। सुधीन्द्र ने ही उन्हें शिक्षा दी थी। परन्तु शिक्षा में वे आगे चले ही नहीं। बड़े ने, जिसका नाम वीरेन्द्र था, इन्ट्रैन्स तक पढ़कर स्कूल छोड़ दिया था। छोटा राजेन्द्र अभी तक स्कूल में था। वीरेन्द्र का ही विवाह-प्रसंग इस समय उपस्थित था, जिसके चार दिन प्रथम ही माया ने इस घर को त्याग दिया।

वीरेन्द्र स्वाभाव का बिलकुल सीधा युवक था। कोई कुकार्य और दोष उसके चरित्र में अब तक न था। पर उसमें बुद्धि का बहुत कम विकास था। विद्या से उसे कुछ स्वाभाविक चिढ़ थी। वह कहा करता था, विद्या पढ़ कर ही मनुष्य बढ़िया बदमाशी किया करते हैं। वह बच्चों में खेलने का बड़ा शौकीन था। भाँति-भाँति के कौतूहल करना उसका स्वभाव था। वह दीन-दुनिया से बेखबर, सदा मस्त रहता, जगत के प्रपञ्च उसे बहुत कम ज्ञात थे। वह धर्म-भीरु था। बहुत कम लोगों से वह मिलता, बहुत कम बातें करता। पिता से उसकी खूब घुटती थी। बहुत-सी बातों पर बैठे-बैठे पिता पुत्र दोनों ही घन्टों गप्पें उड़ाया करते। यह तो हम पहले ही कह चुके हैं, कि वह सदा सुधीन्द्र के पास ही रहा। माया उसकी सच्ची माता थी। माया उसे ऐसा प्यार करती थी, कि वह माया में रम गया था। वह अपने से खिलाती, इतना बड़ा होने पर भी

नहलाती, कपड़े पहनाती और न जाने क्या-क्या उसका लाड़ करती थी। एक बार वीरेन्द्र बहुत बीमार होगया था। ३ वर्ष वह भयंकर रोगी रहा। बचने की आशा न थी। माया ने रात-दिन एक करके उसे बचाया। माया ने एक दिन भी उससे आलस्य न माना, ग्लानि न की। वह बहुधा माया को अम्मा कहकर पुकारता था। खासकर रुग्णावस्था में। माया कहती थी—भैयाजी, अम्मा बहुत दूर हैं। वह कहता—वे दादीजी हैं। माया उस दुखः में भी हँसती, और उसे हँसाती थी।

इस बार माया का उसने बदला दिया। वह एकनिष्ठ होकर अन्तिम क्षण तक माया की सेवा में लगा रहा। मरने के दो दिन पूर्व माया ने वीरेन्द्र को अपनी शैया के सामने हल्दी चढ़वाई, कंगन बँधवाया, अपने हाथ से नेग चुकाये, और फिर बहू के लिये तैयार किये गये गहने-कपड़े सजवाकर, अपने सामने रखवाकर वह खूब हँसी। वीरेन्द्र तब भी उनके सिरहाने चुपचाप बैठा पङ्खा डुलाता रहा। वह न हँसता, न कुछ कहता, न माया की इच्छा का विरोध करता। कठपुतली की भाँति माया का आदेश-पालन करता और औषधि माया को देता। उसे नींद नहीं थी, आलस्य नहीं था, थकान नहीं थी। सुधीन्द्र कई दिनों से चुप थे। वह अवसर पाते ही कुछ क्षण माया को देखते, और इधर-उधर चल देते। माया उन्हें हाथ पकड़कर-अपने पास बैठाती और बातें करती। सुधीन्द्र बड़ी कठिनता से कुछ बोल न सकते थे। माया हँस देती थी, सुधीन्द्र के आँसू वहीं सूख जाते थे।

मृत्यु के कुछ ही क्षण पूर्व माया होश में थी। उसने सुधीन्द्र

को बुलाकर उनका हाथ पकड़ लिया और एक-टक उनकी ओर देखा, एक बार उसके होठों में मुस्कराहट आई, पर आखों से आँसू बह चले। सुधीन्द्र ने आँसू रोकर कहा—क्या अधिक कष्ट है? उसने संकेत से कहा—नहीं, कुछ नहीं। वीरेन्द्र की गोद में माया का सिर था। वह अविचलित भाव से धीरे-धीरे पङ्खा कर रहा था, कदाचित् उसे यह ज्ञान न था, कि माया का अन्त समय आगया है। पर वह माया और सुधीन्द्र का यह करुण भाव न देख सका। उसने पीछे की ओर मुड़ कर मेज़ पर से दवा की शीशी उठाई, इतने ही में माया का श्वास आकर अटक गया, माया चल दी।

राजेन्द्र की प्रकृति सब से भिन्न थी। माता का उसपर अटूट स्नेह था। पर माया को उसने अपना वह प्यार भी सौंप दिया था। राजे, गुम सुम रहता था। बहुत कम धीरे-से बोलता था, बहुत कम हँसता था। एकदम एकान्तवासी था, पढ़ने-लिखने में यह वीरेन्द्र से तेज़ था। उधर उसकी रुची भी थी। माया बहुधा उसे माता के पास छोड़ जाया करती थी। फिर उसको बार-बार मिठाइयों और कपड़ों के पार्सल भेजना उसका काम था। दुःख में रोते और सुख में हँसते बहुत कम लोगों ने उसे देखा था। राजेन्द्र की हँसी यदि कभी होठों पर आती, तो वह किसी की मूर्खता-पूर्ण भूल पर। फिर वह बड़े ज़ोरों से आती। तब वह एक दम वहाँ से उठ जाता। बच्चों से दूर-दूर रहने का उसका विचित्र स्वभाव था। वह सदा किसी धुन में रहता था, और उसके सभी काम-भाव गोपनीय रहते। माया की सेवा में राजेन्द्र ने नींद और थकान को जीत लिया था। जिस समय माया ने दम तोड़ा—राजेन्द्र उसके लिये औषधि, दूध और फल लेने बाज़ार गया था। जब वह बड़ा

सा गट्ठर सब चीज़ों का बांधकर घर में घुसा, तब घर में हाहाकार मचा हुआ था। वह युवा बालक इस हृदय-बेधक अवस्था में भी चुपचाप एक कोने में सब वस्तु रखकर, मूर्छित माता के उपचार में लग गया। उस क्षण में सर्वाधिक शान्त और संयमित यदि कोई था, तो राजेन्द्र था।

९

अब तीन व्यक्तियों की चर्चा करना और रह गया। बिना उनकी चर्चा किये, यह उपन्यास आगे चल नहीं सकेगा। ये तीनों व्यक्ति सुधीन्द्र के बाल सखा और संसार में उनके लिये एक मात्र व्यक्ति थे। पहिले हरिप्रसाद की ही बात लीजिये। सुधीन्द्र ८ वर्ष के बालक थे। ग्राम्य पाठशाला में देहाती अध्यापक उनके गुरु, और चौपाल की कच्ची गच उनके स्कूल की बैठक थी। गाँव में एक प्रवासी सज्जन आये। इनका घर सुधीन्द्र के घर के ठीक सन्मुख था। ये सज्जन कहीं दक्षिण में नौकरी पेशा करते थे, इस बार बहुत वर्ष बाद देश आये थे। सुधीन्द्र ने इन्हें कभी न देखा था, सदैव ही इनका घर बन्द रहता था। इतने दिन बाद इस घर को खुला, और उसमें नवीन व्यक्तियों का आवागमन देख गाँव भर में कौतूहल हो रहा था। व्यक्तियों में नवीनता भी थी। बढ़िया अँग्रेजी ढंग के कपड़े, स्त्रीयों के शरीर पर मोटे मोटे सोने के गहने—चौड़ी किनारे की साड़ियाँ, बात-बात पर पान कचरना, और पीक उगालना—भला

गाँव की स्त्रियों के लिये कुछ कम अचरज की चीज थी। सुधीन्द्र को भी काफी कौतूहल था। कौतूहल के अत्यधिक होने का एक खास कारण भी था, इस परिवार के किसी आदमी से बात करने—या निकट जाने तक का निर्देश माता ने कर दिया था। वास्तव में बात यह थी, कि बहुत दिन हुए—मकान की एक दीवार के लिये साधारण-सी बात पर इस गृहस्थ से सुधीन्द्र के पिता की मुकदमेबाजी होगई थी, वह मनोमालिन्य बराबर चला आता था। पर सुधीन्द्र यह सब न समझ सकते थे। निषेध के कारण और भी उनका ध्यान उस परिवार की ओर आकृष्ट होगया था। उस आकर्षण का एक और भी कारण संयोग से आ मिला था। वह कारण था इस परिवार का एक सुन्दर बालक, जो सुधीन्द्र का समवयस्क था, इसका नाम था हरिप्रसाद। देहात में, सुन्दर बालक की अमीरी, भड़कीली वेषभूषा अनायास ही समवयस्कों को आकर्षित करती थी। दोनों बहुधा अपने-अपने द्वार पर एक दूसरे को देखते—मुस्कराते और अपने अपने घर में भाग जाते थे। एक बार सुधीन्द्र स्कूल से आ रहे थे। हरिप्रसाद ने पीछे से आकर उनका हाथ पकड़कर कहा—तुम्हारा नाम क्या है मिस्टर? बस, यही परिचय का प्रारम्भ हुआ। नहीं कह सकते कि कोई पूर्व जन्म का संस्कार था या क्या था, ये दोनों बालक इतने गहरे प्रणय सूत्र में बद्ध हुये, कि माता-पिता का शासन व्यर्थ होगया। संयोगवश दोनों आगे एक ही स्कूल में बहुत काल तक पढ़ते रहे। कई बार एक ही कक्षा में बैठने के लिये यदि एक फेल होता, तो दूसरा भी फेल हो जाता। गाँव और स्कूल सर्वत्र ही इन दोनों बालकों की

प्रणय चर्चा फैल गई। सुधीन्द्र जिस दिन हरिप्रसाद को न देखते,उन्हें भोजन न पचता था। धीरे-धीरे किशोरावस्था और फिर युवावस्था आई। दोनों का मस्तिष्क और ज्ञान परिमर्जित होने लगा। इसके बाद ही शिक्षा की भिन्न-भिन्न दिशायें बदलने के कारण दोनों का वियोग हुआ। वह वियोग—अद्भुत और असाधारण प्रेम पत्रों का युग था। शायद ही कभी दो मित्रों ने परस्पर एक दूसरे को ऐसा प्यार किया होगा। युवक स्त्री-पुरुषों का प्रगाढ़ प्रेम, प्रबल वासना से युक्त रहता है। पुरुषत्व और स्त्रीत्व का ज्ञान उदय होने से प्रथम ही ये दोनों जीव एक-दूसरे में रम गये थे। सुधोन्द्रउस काल में प्रतिक्षण हरिप्रसाद को देखते—और हरिप्रसाद जगत में सुधीन्द्र को ओत-प्रोत देखते थे। इसी समय सुधीन्द्र का विवाह हुआ। माया नवबधू के रूप में संसार भर की लज्जा-सौन्दर्य,कोमलता और आनन्द लेकर सुन्धीन्द्र के हृदय में घुसी। जो सुख उसने सुधीन्द्र के शरीर पर बिखेरा—उसने क्षण भर के लिये अभिन्न-मित्रों को तनिक दूर कर दिया। पर हरिप्रसाद ने अनायस ही माया से घनिष्टता करली—माया ने पति के मित्र को पहिचाना, उसके प्रति पति का चिरस्नेह भी वह समझी—फिर हरिप्रसाद माया के सगे भाई से भी अधिक बढ़कर घनिष्ट होगये। जब तक एक ही नगर में रहे—कोई दिन न जाता, जब माया हरिप्रसाद के लिये खाने की कोई चीज न भेजती। दोनों मित्र जब मिलते—माया के सामने ही या तो सब गम्भीरता भूलकर खूब ज़ोर से हँसते या हरिप्रसाद माया को सुधीन्द्र की बाल-काल की मूर्खतायें सुनाते। उन्होंने सुधीन्द्र को कब कैसे पीटा, कहाँ ठगा, किस भाँति धोखा दिया, सब सुनाते—इसके बाद माया बहुत सी मिठाई थाल में भर-

कर हरिप्रसाद को उनकी कारगुज़ारी के इनाम में देती। 'भाभी जी,' शब्द अनगिनत बार हरिप्रसाद के मुँह से निकलता। माया उससे कृतकृत्य हो जाती थीं।

कुछ समय बाद हरिप्रसाद का विवाह हुआ। उनकी स्त्री का नाम था शान्ति। शान्ति एक अनाथ बालिका थी, पर अति सुशील और रूपवती। माया बहू को देखने गई—उसने बहू को देखा, और अपने शरीर के सभी आभूषण उतारकर बहू को पहना दिये। हरिप्रसाद की माता ने बहुत रोका, पर माया तो किसी और ही मसाले की थी। वह हँसती रही, रिसाती रही, पर करती रही अपने ही मन की। बहू को सब गहने पहनाकर उसे माया ने उठा लिया। छाती से लगाया और बार-बार मुँह चूमा। हरिप्रसाद की माता ने व्याज-कोप से कहा—"लो, और देखो, इस बड़ी के लच्छन, मेरी बहू को ही चुराये लिये जाती है। माया हँसकर हरिप्रसाद के पास आई और कहा—"भैयाजी, बहू को क्या देकर लाये हो? यह तुम्हें मिली कहाँ?" हरिप्रसाद की वाचालता लुप्त हो गई। उन्होंने जल्दी से उठकर माया के पैर छुये।

दिन बीतते ही गये। हरिप्रसाद अब इञ्जीनियर होगये थे, और सुधीन्द्र प्रोफ़ेसर। दोनों के बीच सैकड़ों मील का अन्तर था। पत्र ही उस अन्तर को निकट बनाते थे। एक दिन सुधीन्द्र जल्दी-जल्दी भोजन कर रहे थे। कालेज का समय निकट था, एक पोस्टकार्ड मिला। खाते-खाते ही पढ़ा, दो तीन लाइनें थीं, उसमें हरिप्रसाद की अकस्मात् मृत्यु का सम्वाद था। एक क्षणभर को उनका शरीर अवसन्न हुआ, हाथ काँपा। तत्काल उन्होंने माया की ओर देखा, वह भोजन परस रही थी। उसने

कहा "क्या है ?" सुधीन्द्र ने हँसकर कहा—"कुछ नहीं, एक मित्र का ख़त है।" माया ने और प्रश्न नहीं किया। सुधीन्द्र और एक रोटी खाकर उठ गये। वे कॉलेज में जाकर चुपचाप लाइब्रेरी में एक आरम कुर्सी पर लेट गये। पत्र को उन्होंने चीर-चार डाला। वे रोने की बहुत चेष्टा करने लगे, पर रो न सके। सन्ध्या होने तक वे लाइब्रेरी में पड़े रहे। बहुत अन्धेरा होने पर घर लौटे। माया को यह समाचार किसी भी भाँति न सुनाया जाय, इस बात का उन्होंने निश्चय कर लिया था। माया को कुछ सन्देह भी न हुआ। पर सुधीन्द्र के जीवन में एक चोट पड़ गई। उस दिन से वे बिलकुल मग्न, एकान्तप्रिय और विक्षिप्त से रहने लगे। माया के सामने वे अकारण ही हँसने लगते। भोजन करते समय इस बात की पूरी चेष्टा करते, कि मात्रा से कम न खाया जाय, जिससे माया को सन्देह न हो। वे सोचते, हाय ! माया कैसे सुनेगी। शान्ति की चिट्ठियाँ सुधीन्द्र बीच ही में फाड़कर बिना पढ़े ही फेंकने लगे। माया इन लोगों के विषय में कुछ पूछती, तो वे अपनी अनभिज्ञता प्रकट करते। माया के पत्र भी वे डाक में न डालकर, फाड़ डालते थे। फलतः माया दोनों से रूठ गई और पत्र लिखना भी छोड़ दिया। सुधीन्द्र की जान बची।

पर एक दिन अकस्मात् माताजी सुधीन्द्र के पास आगईं और सारा ही भेद खुल गया। शान्ति की दुर्दशा और वेदना की बात सुनकर माया मर्माहत होगई, वह बहुत रोई, बहुत विलापी। सुधीन्द्र को भी उसने बहुत उलाहने दिये और वह उसी दिन शान्ति से मिलने को रवाना होगई।

इस समय यह परिवार दिल्ली में रहता था। हरिप्रसाद

की विधवा बहिन, शान्ति और उसकी सास घर में थीं। हरि-प्रसाद के छोटे भाई की नौकरी लग गई थी। उनकी बहिन भी किसी कन्या-पाठशाला में पढ़ाती थी। इस प्रकार ये दग्ध हृदय व्यक्ति दिन काटते थे। हरिप्रसाद की मृत्यु के कोई चार वर्ष बाद जब सुधीन्द्र डरते-डरते उनकी माता से मिलने गये, तब वे सीढ़ियों पर ही गिर गये। फिर वे जिस अटूट रुदन की इतनी बार चेष्टा कर विफल हो चुके थे—वह खूब रोये। मुहल्ला-भर इकट्ठा हो गया था। सुधीन्द्र ऊपर मुँह उठा न सके। उस अर्द्ध विक्षिप्त वृद्धा का रंग काला होगया था, दाँत टूट गये थे, चेहरा मुर्दे के समान होगया था, बाल सन के समान होगये थे। वह सूखकर काँटा होगई थी। वृद्धा बहुत-कुछ सह चुकी थी। उसने सुधीन्द्र को बहुत-बहुत प्यार किया, और ढाढ़स दिया। उस दिन, दिन-भर किसी ने कुछ न खाया। हरिप्रसाद के पिता की अवस्था भी विक्षिप्त के समान होगई थी। केवल हरिप्रसाद का भाई स्वस्थ था, और उसने उस अवसर पर भी ख़ातिर-तवाज़ा में कोई कसर न रखी।

सूर्यकुमार सुधीन्द्र के दूसरे सखा थे। इन्हें यदि माधुर्य और सौजन्य की छाया कहा जाय तो ठीक होगा। हरिप्रसाद से पृथक् होकर, जब सुधीन्द्र पहली बार अपरिचित देश और अपरिचित स्थान पर आये, तभी उन्हें सूर्यकुमार मिल गये। दोनों प्राण कदाचित् जन्मान्त के प्यासे थे। एक बार जो मिले वे फिर अन्त तक मिले रहे। दोनों मित्रों में भेद भी था। सूर्यकुमार मिठाई के, और सुधीन्द्र नमकीन समोसे के, जिसमें ज़रा तेज़ मिर्च होती है शौकीन थे। दोनों दोनोंको खाते थे। कभी

ऊबते थे, कभी मुँह जलाते थे—पर तृप्त कोई किसीसे नहीं हो पाता था। उस समय सुधीन्द्र बहुत दरिद्रावस्थामें विद्याध्ययन करते थे। वे एक अति साधारण ट्यूशन करते थे। जिसका वेतन उन्हें शायद कभी ही मिलता था। परन्तु सूर्यकुमार ने सुधीन्द्र को पाकर चुपचाप एक-दो ट्यूशन और कर ली थी। गरज़ उन्हीं की कमाई से दोनों मित्र पढ़ते, पढ़ाई का ख़र्च भी चलाते, कलाकन्द और दहीबड़े खाते, और समय-समय पर छूछे हाथ होकर उपहास भी करते थे।

संयम और नियम जो प्रौढ़ जीवन की सबसे आवश्यक चीजें हैं, इन दोनों अज्ञान बछेड़ों को ज्ञात ही न था। रुपया आते ही खूब माल-मलीदे उड़ते, ख़तम होने पर फ़ाके होते। तब दोनों चुपचाप बैठ कर प्रथम ही अपनी-अपनी चारपाइयों पर पड़े-पड़े गीत गाते या सीटी बजाते, फिर पेट के उथल-पुथल होने पर लड़ते। सुधीन्द्र कहते, तुम अहमक़ हो, सारे पैसों का कलाकन्द खा जाते हो, अब भूखे मरते हो। अब लाओ पैसे। सूर्य कुमार हँसकर कहते, मियाँ—कलाकन्द जैसी चीज़ कोई बिना खाये कैसे रह सकता है। सुधीन्द्र और बिगड़ते—तब कुछ दिन क़लाकन्द न खाने की प्रतिज्ञा की जाती। परन्तु जहाँ पैसे मिलते, उनका श्रीगणेश क़लाकन्द ही से होता था।

कैसे मीठे और प्यारे वे दिन बीतते थे। धीरे-धीरे उनका छोटा-सा संसार चल रहा था। एक-एक कर उनके अज्ञान के पर्दे उठ रहे थे, ज्ञान के कपाट खुल रहे थे। कालेज की ड्योढ़ी को पार कर जब वे बाहर निकलते—वे देखते कुछ नई वस्तु से परिचय हुआ है। ज्ञान का प्रकाश उनके नेत्रों में, जीवन में प्रविष्ट होगया है। परन्तु अल्हड़पन तो था ही।

हरिप्रसाद तो सुधीन्द्र के प्राण ही थे। उनके पत्र यहाँ भी आते ही रहते थे। सूर्यकुमार भी उनसे परिचय पा गए। उन्हें डाह-सा हुआ। वे सुधीन्द्र को प्राणों से बढ़कर प्यार करने लगे थे, वे भला कब यह चाहते थे, कि सुधीन्द्र का मन अन्यत्र जाय। सुधीन्द्र सूर्यकुमार से प्रेम तो करते ही थे, अदब भी करते थे, वे वैसे भी सीनियर थे, फिर उन्हीं के धन से दोनों की गुज़र होती थी, यह संकोच तो था ही नहीं। तिसपर सूर्यकुमार सुधीन्द्र के प्रति बहुत-बहुत आकर्षित थे।

इन दोनों निर्बोध पक्षियों के बीच एक और कोमल जीव आगया। यह था, प्रिय वर्मा। गोल चेहरा, गौर वर्ण, मोहक निर्दोष आँखें, मधुर, सरल हास्य, अज्ञात चांचल्य, छोटा-सा क़द। यह सब लेकर प्रिय वर्मा ने इन दोनों के बीच जो एक बार प्रवेश किया, फिर वह स्थान नहीं छोड़ा।

इस मीठी चिड़िया से प्रथम परिचय हुआ सूर्यकुमार का। प्रथम वे उसके ट्यूटर नियुक्त हुए। चुपचाप जाते और पढ़ा आते। एक मास ही में उन्होंने देखा, कि वे उससे फ़ीस तो ले न सकेंगे। क्यों? यह हम क्या कहें। सूर्यकुमार जैसे युवक यदि गली में प्यार बखेरते फिरें, तो फ़ीस तो छोड़नी ही पड़ेगी। प्रिय वर्मा के पिता रिटायर्ड-डिप्टी कलक्टर थे। फ़ीस छोड़ने पर सूर्यकुमार को बड़ा लाभ हुआ। उस परिवार में उनका मान बहुत बढ़ गया। रोज़ माल-मलीदे उसको खाने को मिलते, ऊपर से बढ़िया पान की गिलौरियाँ, घन्टे की जगह घन्टों बैठे पढ़ाया करते थे। सुधीन्द्र बैठे-बैठे झीखा करते, आने पर वाग्युद्ध भी होता, सूर्यकुमार हँसते, आँखें नचाते और कभी-कभी सुधीन्द्र को कसकर रस-रिस दोनों प्रदर्शित करते।

अब एक दिन की बात सुनिये। दुष्ट सूर्यकुमार ने सिर दर्द के बहाने से कालेज जाना मुल्तवी कर दिया। सुधीन्द्र ने कालेज से लौटकर जो देखा तो वे प्रिय वर्मा को सामने बैठा कर पाठ पढ़ा रहे हैं। सुधीन्द्र ने देखा और चले गये। वे फ़िर एक बार 'सिर-दर्द कैसा है'—यह पूछने आए। उस समय प्रिय वर्मा से सुधीन्द्र का परिचय हुआ। प्रिय वर्मा ने सदा की अभ्यस्त हँसी हँसकर सुधीन्द्र को प्रणाम किया। सुधीन्द्र बहुत प्रसन्न न हुये, वे इस समय सूर्यकुमार से गप्पें लड़ाने की सोच रहे थे। उन्होंने कहा—आपका सिर-दर्द बढ़ न जायगा, इतनी देर से पढ़ा रहे हैं। सूर्यकुमार बड़े कुटिल थे, हँसकर चुप होगये। सुधीन्द्र अपने कमरे में आकर सो रहे। सारी दुपहरी बीत गई। उठने पर जो वे जाकर देखते हैं, गुरु-शिष्य का पाठ अभी भी वैसा ही चल रहा है। उन्होंने धीरे से निकट जाकर देखा। मास्टर साहेब प्रिय वर्मा की ठोड़ी पर पेन्सिल से एक विन्दु बनाते हुए कह रहे थे—समझे।

सुधीन्द्र हँस पड़े। उन्होंने कहा—"वे चाहे न समझे हों, पर हम समझ गये। फिर कभी तुम्हें भी समझा देंगे।"

पाठ बन्द होगया। अब सुधीन्द्र ने पास बैठकर प्रियवर्मा से परिचय बढ़ाया। कलाक़न्द आया, और किसी जादूगर की करामात की भाँति उड़ गया। तीनों मित्र घूमने निकले।

तब से प्रियवर्मा सुधीन्द्र के मानस में अङ्कित हो गये। वे धीरे-धीरे दोनों के प्रेम के माध्यम होगये। वाह, कैसे वे दिन थे। उस छोटी-सी दुनिया में मानों वे ही तीनों जीवित थे, संसार में और कहीं कुछ न था।

प्रियवर्मा तीनोंमें छोटे,पर तीनों से खोटे थे। उनकी जबान

बोलने में झेंपती, पर कलाक़न्द चाटने में कमाल रखती थी। अवसर पाने पर वे तीनों का हिस्सा चट कर जाते थे। इनके मिलने से दोनों आवारागर्द दोस्तों की फ़जूल खर्ची बढ़ गई थी, साथ ही फ़ाकेकशी भी। परन्तु कोमलता, सौन्दर्य और मधुर भावना के इस नवीन संस्करण के सहयोग ने सब कुछ मधुर बना दिया। एक दिन की बात सुनिये—

उस दिन रविवार था। उससे एक दिन प्रथम अर्थात् शनिवार को ही उसने अन्तिम पैसों का कलाकन्द खा लिया था। कल क्या खाया जायगा,—इसके विषय में सोचना दूसरे दिन प्रातःकाल को ताज़ी हवा खाने के बाद के लिये उठा रखा गया था। दूसरा दिन आया। सुन्दर प्रभात, मन्द वायु के झकोरे, दोनों मित्रों का उठता हुआ यौवन, उस यौवन की भूख को जीवन में कभी नहीं भूला जा सकता। वह प्रातःकालीन समीर से भड़क उठी। सुधीन्द्र ने अधीर होकर कहा—"लो, उठो और खाने को लाओ। तुम्हीं ने सब पैसे रात खा डाले थे, अब तुम्हीं लाओ।"

सूर्यकुमार ने बहुत कुछ नींद का बहाना भी किया, पर सुधीन्द्र की आतें कुड़कुड़ा रही थीं। उन्होंने मित्र-सहित उनकी चारपाई को उलट दिया। सूर्यकुमार ने उठकर गम्भीर मुखमुद्रा करके कहा—अरे, आज तो इतवार है। आज मुझे सूर्य का व्रत करना है, साल में एक बार करना पड़ता है। मैं तो सूर्यास्त से प्रथम खा ही नहीं सकता, तुम अकेले ही क्या मालमलीदे उड़ाओगे?

तब उस दिन दोनों का सूर्य व्रत हुआ, दिन-भर दोनों सोते रहे, या तान अलापते रहे। बीच २ में नोक झोंक

भी होती रही। सन्ध्या समय सूर्यकुमार का एक शिष्य आया। महादेवा नाम था। एक ग़रीब विधवा का अनाथ बालक। कभी कभी कुछ पढ़ जाता, कुछ और भी पा जाता था। बहुधा दोनों मित्रों की फाकेकशी से वह परिचित रहता था। उसने आकर विनम्रस्वर में कहा—आज कुछ खाया नहीं। मास्टर ने हँसकर कहा—आज तो सूर्य जी का व्रत है। सूर्य छिपने पर खाना होगा। सुधीन्द्र ने बिगड़कर कहा—धूल व्रत है, यों क्यों नहीं कहते, गाँठ में पैसा नहीं, इसलिये भूख मार व्रत कर रहे हैं। पेट को बहलाने को लोरियाँ गा रहे हैं।

महादेवा हँसता हुआ नीचे चला गया, और थोड़ी देर में एक दुअन्नी लाकर सामने धर दी। नम्रतापूर्वक कहा—इतने ही पैसे माँ के पास थे, अभी काम चला लीजिये-जो कहिये ले आऊँ।

दरिद्र किन्तु उदार युवक के इस कार्य पर सुधीन्द्र के आँसू निकल पड़े, उन्होंने मन ही मन अब सावधानी से खर्च करने की प्रतिज्ञा की। अब इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार किया गया, कि इतने पैसों में ऐसी क्या चीज़ बाज़ार से लाई जा सकती है, जिससे दो दो खाऊ बीरों का काम चल जाय। जो एक ही जून में चार जून का खाना चाहते थे। अभी यह महत्वपूर्ण चर्चा हो ही रही थी कि प्रियवर्मा आ टपके, जैसे एक वायु का झोंका आगया हो। देखा—मेज पर दुअन्नी चमचमा रही है। उन्होंने ललचाई दृष्टि से उसे देखकर कहा—वाह! दुअन्नी है, मास्टरजी! क्यों न कलाकन्द उड़ाया जाय।

'ज़रूर, ज़रूर, फ़िलासफर की भाँति झूम झूमकर मास्टर साहेब बोले। प्रिय वर्मा ने दुअन्नी उठा ली—सुधीन्द्र का कलेजा धड़कने लगा। प्रियवर्मा ने सहास्य मुद्रा से दुअन्नी महादेवा की ओर फेंककर कहा–जाओ, फिर लाओ गर्मागर्म।

महादेव विचारा क्या करे? उस दुअन्नी का मूल्य तो वह जानता ही था। पर मास्टरजी का संकेत पाकर वह गया और कलाकन्द ख़रीद लाया। प्रिय वर्मा ने उसके तीन भाग करने चाहे। सूर्यकुमार ने हँसकर और सुधीन्द्र ने कुढ़ कर कहा—अभी हमलोग कैसे खा सकते हैं, व्रत है न, सूर्यास्त होने पर खायेंगे।

प्रियवर्मा ने अधिक तकल्लुफ़ न किया। सभी कलाकन्द उदरस्थ कर लिया। और कुछ देर गप्पें लड़ाकर वे सटक गये।

महादेवा ने धीमे-स्वर में कहा—"जाता हूँ, कहीं से और पैसे लाता हूँ।" मास्टरजी ने दम लेकर कहा–नहीं महादेवा, बैठो—लाओ देखूँ तुम्हारा पाठ ठीक याद है। वे महादेवा को पढ़ाने लगे। सुधीन्द्र वहाँ से उठाकर छत पर टहलने लगे।

सन्ध्या होगई। सुधीन्द्र मुँह फुलाये नीचे आये। सूर्यकुमार ने कहा—नाराज़ क्यों होते हो—कहीं से रुपये लाता हूँ, तुम ज़रा बैठो। परन्तु उन्हें कहीं जाना न पड़ा। कुछ देर बाद एक व्यक्ति आकर १५) दे गया। ये रुपये मास्टरजी ने उसे कई महीने पूर्व उधार दिये थे, रुपये देखकर सूर्यकुमार बोले—'अरे'! इतनी जल्दी क्या थी, धीरे-धीरे आ जाते।

उसने कृतज्ञता प्रकाशित की और चल दिया। उसके

चलते ही सुधीन्द्र भूखे बाघ की भाँति सूर्यकुमार पर टूट पड़े। घूँसे और लपट-झपट खूब चली। फिर बोले—दुष्ट! क्या कहा? इतनी जल्दी क्या थी? वह ज़रा देर और ठहरता तो मैं उसे ही खा जाता। ला दे रुपया। सब रुपये जेब के हवाले कर, एक महादेवा को देकर कहा—"ज़रा एक रुपये का कलाकन्द तो झपाके से लाओ।"

एक बार तीनों प्राणी ठहाका देकर हँस पड़े। महादेवा दौड़ गया. मास्टर ने कहा—अरे फजूल खर्चे, अभी से उड़ाना शुरू कर दिया। सुधीन्द्र ने हँसकर कहा—"चाहे जो कुछ हो, अब आठ दिन तक तो बहार ही बहार है।"

इस भाँति ये युवक अपने अज्ञात-यौवन के प्रारम्भिक दिनों को आनन्द और उल्लास में व्यतीत कर रहे थे, जिसमें दुःख, दरिद्र, वेदना, क्षोभ कुछ भी बाधा न दे सकता था।

इस समय सूर्यकुमार गवर्नमेन्ट के एक उत्तम पद पर हैं, उनके कई बच्चे हैं। प्रियवर्मा अब उतने सुन्दर नहीं रहे, कहना चाहिए बिल्कुल नहीं रहे, अजी, एकबार चेहरे पर बाल आया कि फिर समय ने काफी घास-फूँस उगा दी। वे एक प्रसिद्ध डाक्टर और काँग्रेस के प्रमुख नेता हैं। तीनों मित्र भिन्न २ दिशाओं में हैं। यह जब मिलते हैं, वही हाहा, हूहू, हुल्लड़बाजी, कलाकन्द वाली और मूर्खतापूर्ण बातें होतीं। दुख-दर्द ने तीनों मित्रों को खूब छुआ है, कहना चाहिये—झकझोर डाला है। पर फिर भी साल छः माह में जब मिलन होता है, वे उसी प्यारे बाल-काल की झाँकी दिखा जाते हैं।

१०

सुधीन्द्र जब भोजन करने बैठे तो उनकी माता पंखा लेकर सामने आ बैठीं, सुधीन्द्र ने उन्हें बाधा देकर कहा—रहने दो अम्मा, यहाँ तो बहुत हवा है? उनके कलेजे में एक हूक उठ रही थी। यही काम तो माया नित्य करती थी, उसे कौन रोक सकता था? माता ने स्नेहपूर्ण स्वर में-पुत्र की बात को न सुनते हुए कहा।

बेटे, आज मैं राय साहेब के घर गई थी।

सुधीन्द्र चौकन्ने हुए, पर बोले नहीं। वे चुचचाप भोजन में लगे रहे। वृद्धा ने कहना जारी ही रखा, मैंने लड़की को देखा। घुली हुई केसर के समान उसका रँग है, रूप में वह लक्ष्मी है। बेटे, यह तो माया की माया मालूम पड़ती है, माया ने दुखिया अम्मा से आँख मिचौनी खेली है, वह इस रूप में प्रगट हुई है।

सुधीन्द्र भोजन किये जा रहे थे, उनकी इच्छा होती थी माता को कहने से रोक दिया जाय—पर वे कुछ न कह सकते थे, माता कह रही थी,—जब वह मेरे लिये जलपान की तश्तरी लेकर लजाती हुई आई तो मैंने उसे खींचकर गोद में बैठा लिया। वह इस भाँति मेरी छाती में छिप गई, जैसे मेरी बेटी हो, उसकी आँखों में आँसू थे और होंठों पर हास्य, मैंने उसका मुँह ऊपर उठाया और चूम लिया—बेटे, वह कैसी प्यारी बिटिया है।

सुधीन्द्र खा न सके, उन्होंने आँख उठाकर देखा, उनके होठ फड़के और आँखें चमकने लगीं। पुत्र के नेत्रों में उल्लास देखकर माता ने उत्साह से कहा—मैंने उसका मुँह चूमा और अपना कंगन उतारकर उसे पहिना दिया। इसके बाद ही उसकी माँ आई और हँसकर बोली, यह क्या करती हो—मेरी बेटी को चुराना चाहती हो? मैंने कहा—बहन! बेटी कब किसके घर खपी है, यह आज से मेरी लक्ष्मी बहू हुई। उन्होंने तत्काल मिठाई मंगवाई और ५ गिन्नी मेरी गोद में डाल पैर छूए। मैं तो पक्की बात कर आई, अब बेटे, जल्दी मुहूर्त ठीक करके चटपट काम कर डालो।

माता का भाषण मानो बन्द ही न होता था, सुधीन्द्र उठ बैठे। उन्होंने कुछ कहना चाहा पर तालू सूख गया। वृद्धा ने भयभीत-सी होकर कहा—"तो बेटे, क्या मैंने ठीक नहीं किया?"

आह! यह कितना करुण, आर्द्र और स्नेह-सिंचित वाक्य था, सुधीन्द्र उसे सुनकर आपा खो बैठे। उन्होंने कहा—नहीं माँ, यह तो करना ही पड़ता, वे हँस दिये। पर तत्काल ही फूट-फूटकर रो पड़े। अपनी इस असमर्थता पर लज्जित होकर उन्होंने माँ की गोद में सिर छिपा लिया। माता भी रोई। पर उन्होंने यत्न से मुख बन्द रक्खा। उस समय माया उनके रोम रोम में चक्कर काट रही थी। हाय! माया की स्मृति, उसका अस्तित्व क्या कहीं लोप हो जायगा? दोनों में माया रो रही थी, दोनों शरीरों में माया की आत्मा का ही जीवन था। माया उमड़-उमड़कर मानों मूर्तिमती होकर दोनों के नेत्रों से निकलकर सामने आ खड़ी होने को ज़ोर

लगा रही थी और दोनों ज़ोर से रो-रोकर उसे आँखों से ओझल कर रहे थे।

सुधीन्द्र ने हिचकी लेते-लेते कहा—"अम्मा-अम्मा, तनिक और ठहर जातीं तो अच्छा था।"

"नहीं बेटे, मैं न ठहरूँगी"

"माँ, मैं कैसे उसके सन्मुख आ सकूँगा"

"बेटे, वह बड़ी सुशीला है"

"पर उसे ठग न सकूँगा"

"बेटे, तुम्हें जीना होगा"

"माँ !!"

"बेटे, बुढ़िया माँ उसके बिना न जी सकेगी।"

सुधीन्द्र बैठ गये। वृद्धा धीरे-धीरे उनके शरीर पर हाथ फेरने लगी। सुधीन्द्र ने आत्म-संवरण किया। उन्होंने माँ को प्रणाम किया और चलने को उठ खड़े हुए।

माता ने कहा—"बेटे, क्या तुम उसे देखना चाहते ?"

सुधीन्द्र ने घबराकर कहा—"नहीं माँ, इसकी ज़रूरत नहीं।"

"बहुत ठीक, तब मैं अगले मास में ब्याह करूँगी।"

"जैसा ठीक समझो करो माँ" सुधीन्द्र ने माता की ओर स्निग्ध दृष्टि से देखा, तनिक मुस्कराए और तीर की भाँति बाहर चले गये।

११

सुधा माया का अवतार थी यह कहना आवश्यक है। सुधा-सुधा थी, माया-माया। मायामें माया जैसे सब गुण थे, सुधा में सुधा के सब गुण थे। उसके रूप पर यौवन की दुपहरी चढ़ रही थी, उस यौवन के आक्रमण का वह धीरे-धीरे कुछ-कुछ समझ भी चली थी, रूप का उसने कभी भय नहीं किया। उसे देखा-समझा भी नहीं, पर यौवन को तो वह भय और अशंका की दृष्टि से देखती थी। वह जान गई—यही यौवन उसे उसके जीवन से दूर ले जायगा। वहाँ अति दूर न-जाने क्या हो। सास, पति और नये परिजन उसके बहुधा विचार की वस्तु होते। उसकी आयु पन्द्रह को पार कर गई थी, वह बुद्धिमती और चतुर थी। जब कभी किसी नई बहू को सुसराल प्रसंग पर चर्चा करती सुनती, उसके कान खड़े हो जाते थे। यही ससुराल तो उसका सबसे बड़ा सौभाग्य था। इसी में उसके जीवन का सार था। वह बहुधा सोचा करती, सुसराल क्या मेरे इस घरसे भी महत्वपूर्ण वस्तु है, पर सभी तो यह कहते हैं कि वह स्त्री का घर है। माता का घर तो पराया है। यह सोचकर वह घबरा जाती। कभी-कभी माता के अञ्चल में मुँह छिपाकर रोने भी लगती; क्योंकि वह मुँह खोलकर तो किसी से कुछ कह न सकती थी, उसकी कोई सहेली भी ऐसी न थी, जिससे वह दिल खोलकर बातें करती। इसलिये उसे मन की बातें मन ही में सीमित रखनी पड़ती थीं। पर जीवन ज्यों-ज्यों नये दिन लाता था, मन की बातें

मन में नहीं समा पाती थीं, इससे सुधा बहुत बेचैन और चिन्तित रहने लगी।

पहिली बार सुधीन्द्र की माता ने उसे प्यार किया। गोद में बैठाकर छाती से लगाया, और अपने कंगन उतारकर उसे पहिनाए, तब उसने एकाएक प्रेम और त्याग की एक नई मूर्ति का दर्शन किया। वह जान गई थी, कि यह वृद्धा रमणी क्यों आई है। वह सुधीन्द्र को भी देख चुकी थी, वह लाज से गड़ी जाती थी। सुधीन्द्र की माँ का वैसा प्यार, वैसा अकपट स्नेह, वैसा स्वाभाविक दुलार पाकर वह क्षण-भर में ही कृतार्थ होगई। उसने सोचा यही यदि सास है, यही यदि सुसराल की स्वामिनी है, तो मैं धन्य हुई। वह प्यारी मधुर सुसराल कब नसीब होगी। एक बार अपना समस्त बालकाल—उस बालकाल का क्रीड़ाक्षेत्र, वह घर,उस घर की प्राण प्रतिमा रूपिणी उसकी माता, यह सब उसकी आँखों में घूम गया। मन में एक लहर उठने लगी, अकस्मात् ही सुधीन्द्र की स्मृति सदेह उसकी आँखों में बस गई, क्षण भर उस स्मृति मूर्ति को उसने मानो मानस चक्षुओं से आँख भरकर देखा और वह आनन्द विभोर होकर अपनी भावी सास की छाती में छिप गई।

इसके बाद, जब नववधू के रूप में सुधीन्द्र के पीछे-पीछे आकर—वह उसी ममता की मूर्ति, सास के सन्मुख खड़ी हुई, तब सुधीन्द्र तो मा के पैर छूकर अलग रह गये, सुधा पैर छूने बढ़ी—पर वृद्धा ने उसे गोद में उठा लिया, उसके अनगिनत चुम्बन लिये, उसे छाती से लगा प्रेम के आँसू बहाने लगी। सुधा सोचने लगी, क्या मैं पराये

घर आई हूँ ? क्या ये बेगाने आदमी हैं ? उसने यह भी सोचा—अब तक ये सब आदमी कहाँ थे ?

सुधीन्द्र वहाँ से हट गये। घरभर में भीड़ लगी थी। बहू देखनेवालियों का भारी जमघट था। गृहणी ने सुधा को भीतर ले जाकर क़ालीन पर बैठाया। स्त्रियों की भीड़ तो टूटती न थी। गृहणी की धमकी और चिरोरी कुछ भी न चली। बहू के मुँह देखने का जो सिससिला चला, बस उस मुख पर गिन्नियों और गहनों का मेह बरसने लगा। सुधा मानो प्रेम, अपार स्नेह और सुख के समुद्र में डूब गई। इस नये जीवन और नये परिजनों ने उसके हृदय में हलचल मचा दी। वह लाज और आनन्द में बेसुध हो रही थी। सुसराल का वह पहला दिन उसका कैसे बीता, और दूसरे दिन के उदय होते ही उसका नवीन जीवन किस भाँति प्रारम्भ हुआ, यह वह बालिका सोच ही न सकी थी।

इस सुख में भी उसे एक भय था, उस भय से उसकी छाती धड़कती थी। वह सोचती थी, इस नवीन आनन्द-मय घर में और तो सब कुछ अच्छा ही अच्छा है। पर उनसे एकान्त-भेंट का काफी भय है। सुधीन्द्र से वह एकान्त में कैसे मिल सकेगी, यह वह सोच नहीं सकती थी। ज्यों ज्यों सन्ध्या होती थी, उसकी शंका और भय बढ़ता ही जाता था, पर वह किसी से कुछ कह नहीं सकती थी। रात्रि को जब उसने अपनी सास के कमरे में अपने पलंग को देखा तो उसका भय निर्मूल हुआ। वह रात्रि—सुसराल की प्रथम रात्रि—उसने सुख से व्यतीत की।

सुधीन्द्र बहुत ही गम्भीर थे। उस दिन और फिर रात को भी वे सुधा को दीखे नहीं। वह उनसे भेंट होने से घबराती थी पर दूर से उन्हें देखना, उनका कण्ठ-स्वर सुनना तो वह चाहती ही थी। वह रूप न देख-सुन सकने से वह मन-ही-मन व्यग्र हो रही थी, धीरे-धीरे उसकी समस्त चैतन्य शक्ति सुधीन्द्र में ही केन्द्रित हो गई। वे कैसे स्वभाव के हैं, उन्हें क्या प्रिय है, उन्हें कभी गुस्सा तो नहीं आता? मैं कैसे उनसे एकान्त में भेंट करूँगी, कैसे बोलूँगी? क्या कहूँगी? यही उसके सोचने का विषय था, इसी ने उसे बहुत व्यग्र बना दिया था।

प्रभात हुआ, सुधा झटपट शैय्या से उठी। सास के चरणों में मस्तक नवाया, और धरती पर बैठकर सास के पैरों को गोद में लेकर उनके तलुओं को सहलाने लगी। सास ने आँखों में आँसू भरकर उसे खींचकर गोद में बैठाकर कहा—अरी मेरी लाड़ली रानी, बुढ़िया को इतना मुँह न लगाना। सास बड़ी बुरी हुआ करती हैं। सुधा हँस पड़ी, और मुँह छिपा लिया।

बाहर सुधीन्द्र का कण्ठ स्वर सुनाई दिया। गृहणी ने देखा—वे शौच होकर हाथ धोने को बैठे हैं। उन्होंने माता को देखकर कहा—माँ थोड़ा पानी दो। वृद्धा गंगा सागर भर लाई। एक साफ तौलिया भी उन्होंने निकाला। सुधा सिकुड़ी बैठी थी, लोटा-तौलिया उसके हाथ में देकर कहा—लो रानीजी, अपना काम सम्हालो, जाओ—बेटे के हाथ धुला दो, और उनके स्नान की व्यवस्था कर दो।

सुधा ने साहस किया, लज्जा उसे थरथरा रही थी। परन्तु विवेक और कर्तव्य उसके परिष्कृत मस्तिष्क में उल्लास ला रहे थे। वह बड़ा सा घूँघट निकाल—गंगा सागर और

तौलिया ले आगे बढ़ी। सुधीन्द्र के हृदय में बड़े वेग से ज्वार आया। वे मुँह उठाकर उसकी ओर न देख सके, सुधा ने पानी देना शुरू किया। सुधीन्द्र नीची दृष्टि किये, हाथ मट्टी से मलने लगे। उनकी दृष्टि सुधा के महावर-रञ्जित मनोरम चरणों पर पड़ी। उसमें स्वच्छ धवल चुटकियाँ चमचमा रहीं थीं, पायजेबों के घुघुरुओं को वे मानों गिनने लगे। हाथ धोना भूल गये। सुधा भी घबरा गई। उसके हाथ से गंगा-सागर छूट गया। सुधीन्द्र ने अकस्मात् आँख उठाकर सुधा के कोमल कर कमलों पर दृष्टि निक्षेप किया। वह पीपल के पत्ते की भाँति काँप रहे थे। वे क्षण भर मोतियों जड़ी चूड़ियों को उन मृदुल गौरवर्ण कलाइयों पर सुशोभित देखने लगे। उनके मन ने कहा—अरे! इतनी शोभा, इतना सौन्दर्य। हठात् उनके मानस चक्षुओं के सामने माया आकर हँसने लगी। वही जीर्ण शीर्ण शरीर, शुष्क मुखमण्डल, निष्प्रभ नेत्र, सुधीन्द्र चौंक उठ खड़े हुए। सुधा ने काँपते-काँपते सागर धरती से उठाया—वह लज्जा से गड़ी जाती थी। गृहणी ने जल्दी से आकर हँसते हँसते उसके हाथ से सागर लेकर पुत्र के हाथ धुलाए। सुधीन्द्र हाथ धोकर झटपट ऊपर अपने कमरे में चले गये। इस बार वे माया का स्मरण-कर के खूब रोये। उन्होंने द्वार बन्द कर लिया। आज दिन भरकर माया को याद करके रोना चाहते थे, उन्होंने सोचा आज माया को बिदा करने का दिन है, अब यह हृदय मन्दिर पर अधिकार जमाने आ पहुँची है।

सुधा-सुधा! उनके मुख से कई बार सुधा निकला—वे इस समय माया को सन्मुख खड़ा करके दिल भरकर बातें किया चाहते थे, पर सुधा उनके सामने आ खड़ी होती थी। उन्होंने

बहुत चेष्टा माया को देखने की की—पर सुधा तो वहाँ से टली ही नहीं। अब वे सुधा को ही एकटक देखने लगे। केसर के रंग में रंगी साड़ी में, उसी रंग के अपने स्वर्ण शरीर को यत्न से छिपाये, संसार भर की लज्जा को आँचल में लपेटे, कम्पित गात, वह एक हाथ में गंगासागर और दूसरे में स्वच्छ तौलिया लिये सेवा में खड़ी है। हटती ही नहीं। अरे! यह कितनी सुन्दर है, कितनी मधुर, कितनी सजीव? परन्तु माया, तुमने प्राण और जीवन मुझे दिया। सो क्या इसीलिये? हे परमेश्वर सुधीन्द्र अधीर होकर धरती पर लोटने लगे। वे बहुत रोये, रोते-ही-रोते वे सोगये।

१२

चार-पाँच दिन रहकर सुधा मायके चली गई। सुधीन्द्र उसका मुख न देख सके। देखने की इच्छा न थी, यह कहा नहीं जा सकता—यह कहना चाहिए कि वह इच्छा बहुत प्रबल होगई थी, परन्तु न देखने की इच्छा इससे भी प्रबल रही। अन्ततः वे उसे नहीं देख सके।

मानव शरीर में अवश्य ही दो चैतन्य सत्ताएँ हैं। एक वह है, जो विकारग्रस्त हो जाती है। माया में लिप्त होजाती है, वह इन्द्रियों की गुलामी करती है; परन्तु दूसरी सत्ता उस अवस्था में भी निर्विलेप रहती है। उसका शुद्ध ज्ञान जाग्रत रहता है। आवश्यकता पड़ने पर दोनों आत्माओं में घमासान युद्ध होता है। कभी, यदि संस्कार प्रबल हुये, तो शुद्ध-बुद्धात्मा

जीत जाती है। नहीं तो विकारी आत्मा तो विजयनी होती ही है। सुधीन्द्र संस्कारी जीव तो थे ही। अन्त में शुद्धात्मा ने उनपर विजय पाई—वे सुधा का मुख न देख सके—सुधा चली गई।

सुधा के मन में एक बार पति का स्पर्श पाने, उन्हें अपना मुखचन्द्र दिखाने, की बड़ी लालसा थी। यहाँ आकर उसने इसके सिवा सब कुछ पाया था, पर इसी एक को न पाकर वह रूखी सूखी रह गई। उसके हृदय में हिलोरें उठ रहीं थीं। भय, लज्जा, संकोच और लालसा उस बालिका के अल्हड़ स्वभाव को झकझोर रहे थे। सुधीन्द्र की पदध्वनि से वह चौकन्नी होजाती, उनके कण्ठ-स्वर सुनकर वह भीता-चकिता हरिणी की भाँति इधर-उधर देखने लगती। घुंघट के पट में छनी हुई उसकी दृष्टि पति के अपरिचित-किंतु अत्यन्त प्रिय-आशा, जीवन —उल्लास और सुख के केन्द्र स्वरूप मुख पर जम जाती, वह सदैव ही आड़ में बठती, जिससे उसे पति-दर्शन की सुविधा रहती। बच्चे उसे घेरे रहते, सास बीच-बीच में आकर दुलार कर जाती। ननद उससे ठठोली मारती। पर सुधा तो प्रतिक्षण उसी क्षण की प्रतीक्षा करती रही जब कि वह पति-स्पश प्राप्त करे, और अपनी रूप सुधा उसे समर्पित करे।

परन्तु वह क्षण आया ही नहीं। सुधा उसके लिए तरसती हुई मायके चली गई। उसका कोमल चित्त कुम्हला गया। वह सुस्त रहने लगी। उसके प्राण और चेतना पति में संलग्नथे। उसके ध्यान में पति था, रोम रोम में पति था, नेत्रों और दृष्टि में पति था। वह उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते, केवल सुधीन्द्र ही की कल्पना-मूर्ति से खेलती। वह अपने सत्य जगत् को बिलकुल ही भूल गई। माता ने उसे अनमनी देख,

पूछा—"बेटी, क्या ससुराल अच्छी नहीं लगी ? उदास क्यों है ? क्या सास ने प्यार नहीं किया, किसी ने दुःख दिया क्या ?" पर सुधा माँ से लिपट जाती, घूँसे मारती और भाग जाती। कभी रोने लगती। एकान्त उसके लिए सुखद था। वह एकान्त में अपने पति की स्मृति-रेखा को लिये, उसमें ओत प्रोत होने की चेष्टा में माता के घर में रहने लगी।

माताने उसकी मनोवृत्तियों को कुछ-कुछ समझ लिया। उसने सोचा—सुधा को जल्दी ही पति-गृह भेज देना ठीक होगा। उसने सुधा के पिता से भी परामर्श किया, वे भी सहमत होगये।

किन्तु सुधीन्द्र की दशा विचित्र थी। माया को हृदय से निकाल फेंकना, और सुधा को हृदय-सिंहासन पर प्रतिष्ठित करना, उनके लिए आवश्यक हो गया था। पर सुधीन्द्र यह दुर्धर्ष कार्य नहीं कर सकते थे। वे ज्यों-ज्यों इस विषय पर विचार करते, उनकी व्याकुलता बढ़ती थी। सबसे बड़ी चाह तो यह थी, कि वे अपनी व्याकुलता माता के सामने नहीं प्रगट होने देना चाहते थे। माता को देखते ही वे खूब हँसते, नई बहू की बातें करते, फालतू गप्पें उड़ाते, पर एकान्त होते ही उनकी दशा विक्षिप्तों-जैसी हो जाती थी। माया सहस्र रूप धारण करके उनके सामने आती, उसका वही जीर्ण-शीर्ण शरीर, मृत्यु-काल की वेदना, उस वेदना को सहन करने का वह धीरज, उसका वह अन्तिम हास्य और दृष्टि, सुधीन्द्र के हृदय में हाहाकार मचा रहे थे। वे सोचते थे, यही तो मेरी पत्नी है। किसी भाँति उसने अपने सुख-दुख को मेरे जीवन के सुख-दुःख से संयुक्त कर रखा था, किस भाँति उसने यत्न से, सेवा और

प्रम से मुझे जीवित रखा, किस भाँति वह हँसती-हँसती चली गई। अब यह सुधा कौन है? वही विवाह का अभिनय करके मैं इसे लाया। माता का क्या करता? मैं उस निरीह गौ को दुःखी देख न सकता था, परन्तु माया के संवारे हुए हृदय-मन्दिर के शून्य सिंहासन पर, क्या सुधा बैठेगी? शून्य सिंहासन! वे सोचने लगते—क्या शून्य सिंहासन? माया क्या अब नहीं है? यह विचार आते ही वे अपनी छाती में घूंसे मारकर धरती पर गिरकर रोने लगते। हृदय के उस सुन्दर प्राङ्गण में माया ने स्नेह-दीप जलाया है, उसके प्रकाश में उसी भाँति बैठी शासन कर रही है, वह स्थान शून्य नहीं है। वहाँ किसी को स्थान नहीं है। परन्तु रसोई में वह स्वाद तो नहीं है बिस्तर भी उतना सुखद नहीं, उसे नौकर बिछाता है; आँखें उसे देख नहीं सकतीं, कान उसकी मधुर वाणी को सुन नहीं सकते, वह घर में तत्परता से काम करती भी दीखती नहीं. सब कुछ अस्त-व्यस्त है। माता से वह मेरी शिकायत भी नहीं करती, माता आज कोप से मुझे फटकारती भी नहीं। वह शून्य-सी बैठी घर का धन्धा किया करती है। तब माया क्या हृदय में बैठने-भर को ही है—जीवन का साथ उसने कब दिया? हृदय में बैठकर वह क्या करेगी? और यह कौन है सुधा? हाँ, यह सुधा कौन है, क्यों वह उस दिन उस केसरिया परिधान में लाज और सौंदर्य बिखेरती मेरे सामने आई? वह कम्पित क्यों थी, झुकी क्यों पड़ती थी, वह कौन थी, वह मेरे घर क्यों आई है? क्या वह मेरी जीवन संगिनी बनने को उत्सुक है? मैंने उसे देखा, इन्हीं आँखों से। उसकी अस्फुट वाणी सुनी, कैसी मधुर थी? माता क्या कहती है, समझ नहीं पड़ता! मालूम होता है, माता ने

माया को भुला दिया है, अथवा यही माया का नवीन संस्करण है। किन्तु नहीं, माया तो अपने सिंहासन पर बैठी है। तब इसका—सुधा का स्थान कहाँ होगा? वह कहाँ बैठेगी; क्या केवल घर में? हृदय में नहीं।

सुधीन्द्र कुछ भी निर्णय नहीं कर सके। उनका विवेक मूर्छित हो रहा था। उन्होंने सोचा—देखूँ तो वह कैसी है, कैसा उसका मुख है? पर यह विचार आते ही माया उनके कान के पास आकर जोर से हँस देती। सुधीन्द्र भयभीत होकर इधर-उधर देखने लगते। अन्ततः सुधीन्द्र सुधा का मुख न देख सके। सुधा चली गई।

माया और सुधा दोनों ही नेत्रों से ओझल थीं। सुधीन्द्र ने देखा, हृदय में दोनों में युद्ध हो रहा है। माया सिंहासन पर बैठी हँस रही है और सुधा उसके पैरों में बैठी रो रही है। सुधीन्द्र निरुपाय यह सब देख रहे हैं। वे मानों कहतेहैं, माया हँसती क्यों हो? सुधा के अश्रु-पूरित मुख पर जाकर उनकी दृष्टि रुक जाती है। उनका मन होता है, वे कहें—उठो सुधा, उठो, यहाँ बैठकर इस भाँति न रोओ। माया वहाँ बैठी है, तुम भी बैठो। वह हँसती है तुम भी हँसो। पर वह यह सब न करके स्वयं रोने लगते थे। इस प्रकार उनके मन का द्वन्द तो चल ही रहा था।

वे गुमसुम अपनी बैठक में बैठे थे। माता ने आकर कहा—"बेटे, उधर से सँदेश आया है, शुभ मुहुर्त्त देखकर सुधा को बुला लो।" सुधीन्द्र ने सुना, 'माया को बुला लो।' वे हर्षोत्फुल्ल नयनों से माँ को देखकर बोल उठे—"अच्छा अम्मा।" परन्तु तुरन्त ही उन्हें मालूम होगया, माया को नहीं,

सुधा को। माया अब नहीं आ सकती, उसे चिता पर भस्म कर दिया गया है। वे आँख फाड़-फाड़कर माँ को देखने लगे। वेदना ने उन्हें तड़पा दिया। गृहिणी ने खड़ी होकर उनके सिर पर हाथ फेरकर कहा—"बेटे, ऐसे क्यों हो गये? मैं मुहूर्त्त ठीक कराकर दो चार दिन में ही उसे बुलाने भेजती हूँ।"

सुधीन्द्र चिल्ला उठे। "नहीं माँ, अभी मुझे कुछ समय के लिए बाहर जाना है। एक दो मास लगेंगे। अधिक भी लग सकता है, वह अभी न आ सकेगी।

माता अपने बेटे की वेदना को जानती तो थी, दोनों ही दोनों को ठग रहे थे। उसने बात को फेरकर कहा—"कुछ हर्ज नहीं बेटे, इस विषय में फिर विचार कर लेंगे, अभी चलो कुछ खा लो।"

सुधीन्द्र भी इस समय बात को टालना चाहते थे, वे माता के साथ उठ चले। भोजन करके वे घूमने चले गये। माता ने भी फिर कुछ कहना ठीक नहीं समझा।

परन्तु सुधीन्द्र को कुछ उपाय न सूझा। वे द्वन्द्व को परास्त न कर सके। इन्होंने कुछ दिन भ्रमण करके जल-वायु परिवर्तन करना ही ठीक समझा। बेटे का मन बहल जायगा, इस विचार से वृद्धा ने भी उन्हें आज्ञा दे दी। दो ही चार दिन में सुधीन्द्र यात्रा का सब इन्तजाम करके घर से निकल पड़े।

———

१३

सुधीन्द्र की यह यात्रा बिलकुल निरुद्देश्य थी। वे केवल अपनी मानसिक चञ्चलता को दमन करने के लिये ही निकले थे। एक बार वे सीधे उत्तर के पहाड़ों में चले गये थे। नैनीताल की सन्ध्या देखी—अल्मोड़े की दुपहरी की खिली धूप देखी, मसूरी देहरादून के, तह-पर-तह किये पर्वत देखे और वहाँ की मूक निर्जीव प्रजा देखी। वे निरन्तर घूमते गये। कहीं ठहरे नहीं। न उनका कोई हित, न मित्र, न साथी। परिचित जनों से वे जान बचाकर छिपे फिरते थे। वे नहीं चाहते थे, कि इस यात्रा में उन्हें उनका कोई परिचित व्यक्ति मिल जाय।

इस मौन और निरुद्देश्य यात्रा में उन्हें खूब विश्व-दर्शन हुआ। वे जहाँ जाते, वहाँ के अधिवासियों के रहन सहन, खानपान, समाजिक जीवन आदि सभी बातों को बड़े ध्यान से देखते। धीरे धीरे इस कार्य में उनका मन खूब लग गया। सुधीन्द्र उच्च कोटि के विद्वान, सहृदय, विचारशील और गम्भीर प्रकृति के पुरुष थे ही। पर अभी उन्होंने वाह्य जगत पर कभी विचार नहीं किया था। अपने अध्ययन को, वे अपनी आत्मा को संस्कृत करने की वस्तु समझ रहे थे और अपने व्यक्तित्व को केवल अपनी सम्पत्ति। उनका संसार उनके माता पिता, पत्नी और छोटा सा घर था। असहयोग काल में उन्होंने नौकरी अवश्य छोड़ दी थी, और खद्दर भी पहनते थे। परन्तु उन्होंने मन से देश की

सेवा का कोई काम नहीं किया था। इस यात्रा में धीरे-धीरे उनका ध्यान देश भर में व्यापक दरिद्रता, बेकारी, निराशा और सार्वजनिक दुःखी जीवन की ओर गया। इस विषय में उनका मन लगा। वे और भी मनोयोग से परिस्थिति को अध्ययन करने लगे। उनके लिए उनके मन में दर्द और सहानुभूति के भाव पल्लवित होने लगे। उन्होंने गम्भीरता से विचार किया और उन्हें दीखने लगा कि करोड़ों मनुष्य अत्यन्त दरिद्र, दुःखी, निराश और बेकार हैं, देश इनसे भरा पड़ा है, इनके लिए कुछ करना चाहिये। धीरे-धीर उनका मन इस प्रकार की बातों में अधिक लगने लगा। परन्तु वे कोई क्रियात्मक चेष्टा इस सम्बन्ध में नहीं कर सके।

इस यात्रा में विशेषता यह थी, कि सुधीन्द्र के पास खर्च को काफी पैसे नहीं थे। बहुधा पैदल देहातों में चक्कर लगाने लगे। जिस गाँव में भोजन-विश्राम का समय हो जाता, वे वहाँ ठहर जाते। उनके ठहरने का स्थान कोई शिवालय या धर्मशाला होती। बहुधा वह दो चार पैसों का चना-चबेना खा लेते थे। परन्तु एक दो दिन किसी स्थान पर रहने से कुछ सदगृस्थ उन्हें सभ्य अभ्यागत या सफेदपोश साधु समझकर श्रद्धापूर्वक भोजन भी करा देते थे।

एक दिन दोपहर के समय सुधीन्द्र एक गाँव के पास पहुँचे। गाँव के किनारे एक नहर थी, उसमें स्वच्छ जल बह रहा था। सुधीन्द्र के कपड़े बहुत गन्दे हो रहे थे, उन्होंने वस्त्र उतारकर खूब मल मलकर स्नान किया। कपड़े धोये,

सुखाये, और धीरे धीरे गाँव में आकर एक सद्गृहस्थ के चबूतरे पर बैठ गये। थोड़ी देर में एक बालिका पानी की गगरी बगल में दबाये बाहर से आई। उसने एक अपरिचित युवक को द्वार पर बैठे देखा, वह झिझकी—और तुरन्त घर में घुस गई।

सुधीन्द्र कल्पना भी नहीं कर सकते थे, कि देहात में ऐसा रूप और सुकुमारता दीख पड़ेगी। वे असंयत होकर बालिका की ओर ताकने लगे। बालिका के भीतर जाते ही एक वृद्ध घर से निकले। इनके गले में स्वच्छ जनेऊ पड़ा था—मस्तक पर चन्दन का लेप था, कन्धे पर अँगोछा था, पैर में खड़ाऊँ थी। एक नीम की सीक से वे दाँत साफ करते हुए बोले—"कहाँ से आना हुआ है और किस उद्देश्य से आप इधर आये हैं।"

सुधीन्द्र ने खड़े होकर वृद्ध को प्रणाम किया। इससे सन्तुष्ट होकर वृद्ध ने नौकर को आवाज लगाकर एक चारपाई लाने की आज्ञा दी। चारपाई आने पर वृद्ध के अनुरोध से सुधीन्द्र सिकुड़कर एक कोने में बैठ गये। वृद्ध ने पूछा—

"आपका नाम क्या है?"

"मुझे लोग सुधीन्द्र कहते हैं।"

'आप ब्राह्मण हैं?"

सुधीन्द्र ने हिचकिते हुए कहा—

'नहीं यों तो जन्म क्षत्रिय कुल में हुआ है। परन्तु आप क्षमा कीजिये, मैं जाति-बन्धन का कायल नहीं हूँ।"

वृद्ध महाशय ने आँखें चढ़ाकर कहा—

"वाह यह कैसी बात? जाति के बिना मनुष्य जीवन कैसा?"

मनुष्य ही हमारी जाति है। शास्त्र कहते हैं—"समान-प्रसवात्मिका जातिः, जिनका समान रीति से प्रसव हो, वही एक जाति है। मनुष्य मात्रकी इससे एक जाति होना चाहिये।'

"मनुष्य-मात्र में तो भंगी, चमार, डोम, पासी, सब हैं।"

"जी हाँ ?

"ईसाई, मुसलमान, अंग्रेज, पारसी भी हैं ?"

"जी हाँ।"

"तब हम सब की एक ही जाति हुई ?"

"अवश्य।"

वृद्ध ने अश्रद्धा से हँस दिया। बोले,—"तब तो यों कहो—तुम नास्तिक हो।"

सुधीन्द्र ने गम्भीर संयत भाषा में कहा—"नास्तिक तो वह है जो किसी बात को न माने, मैं तो जाति को मानता हूँ। सिर्फ विचार भेद है।"

वृद्ध ब्राह्मण बोले—'नास्तिकी वेद निन्दकः' वेद की निन्दा करनेवाला नास्तिक है।"

"मैंने वेद की कहाँ निन्दा की !"

तुम वेद प्रतिपादित जाति का विरोध कर रहे हो।"

'आप कृपया हमें बतायें, वेद में किस मन्त्र में जाति का उल्लेख है।"

वृद्ध कुछ देर चुप रहकर बोले—

"ब्राह्मणस्यमुखमासीत् यह वेद मन्त्र जानते हो ?"

"जानता हूँ! इसमें ब्राह्मण आदि 'जाति' हैं, यह कहाँ लिखा है।"

'चातुर्वर्ण्यं मयाश्रृ ...."

"यह तो किसी वेद का वाक्य नहीं।"

"क्या तुमने सब वेद पढ़े हैं?"

सुधीन्द्र ने हँसकर कहा—"नहीं परन्तु इतना मैं दावे से कह सकता हूँ, कि ऋग्वेद में कहीं भी वर्ण या जाति का वर्णन नहीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि को ऋग्वेद वर्ण ही मानता है। ऋग्वेद तो आर्य-मात्र को एक वर्ण मानता है। ऋग्वेद के मत में ब्राह्मण पुरोहित के अर्थों में, क्षत्रिय-सामर्थ्यवान् के अर्थों में, वैश्य जन साधारण के अर्थों में आते हैं शूद्र का नाम ही नहीं है। केवल पुरुष सूक्त में यह मंत्र है, जिसका संकेत आपने किया है। पर पुरुष सूक्त बहुत आधुनिक है। वास्तव में ऋग्वेद काल में वर्ण या जाति थी ही नहीं।

वृद्ध ब्राह्मण बहुत थोड़ी संस्कृत जानते थे। वे कट्टर सनातनी थे, पर सामयिक सुधार सम्बन्धी आन्दोलन में उनकी रुचि बढ़ी हुई थी। उन्होंने प्रसन्न होकर कहा—'आप अच्छी तरह बैठ जाइये। आपकी आयु तो बहुत कम है, पर आप बड़े विद्वान प्रतीत होते हैं। धन्य भाग जो इस गाँव में आये। हाँ, ऋग्वेद का मत तो आपने बता दिया—पर अन्य वेदों के विषय में आपका क्या मत है।'

'अन्य वेद उत्तरकालीन हैं। यहाँ तक कि अथर्व वेद तो सिर्फ अब से दो ढाई हजार वर्ष पूर्व तक वेदों में नहीं समझा जाता था। 'त्रयी-विद्या' ही प्रसिद्ध थी—उनमें वर्ण-विभाग है, पर आजकल वर्ण या जाति को जिस भाँति हिन्दू मानते हैं, उसका उनमें कहीं भी जिक्र नहीं है।'

'तब तो मनुष्यमात्र में रोटी-बेटी का सम्बन्ध जारी होना चाहिये।"

"इससे तो बड़ी गड़बड़ी फैल जायगी, सारी प्रजा वर्ण-शंकर होजायगी।"

"प्रजा को वर्णशंकर होना ही चाहिये। इससे बड़ा लाभ है, नस्ल-उन्नत होती है। सार्वभौम, भ्रातृ-भाव उत्पन्न होता है, जिसके बिना समाज में कभी चैन नहीं पड़ सकता।"

"वाह, वर्णशंकर प्रजा होने से धर्म नष्ट हो जायेगा। यह गीता में श्रीकृष्ण भगवान् फरमाते हैं।"

सुधीन्द्र ने हँसकर कहा—"वह अवश्य भगवान् के नाम से किसी बेसमझ आदमी ने श्लोक बनाये हैं। देखिये, पहली बात तो यह है, कि चारों वेदों में वर्णशंकर कोई शब्द है ही नहीं। यह शब्द स्मृतियों ने गढ़ा है। खासकर मनुस्मृति इस बात की जिम्मेदार है। मनु और दूसरी स्मृतियों में अनुलोम और प्रतिलोम कहकर अनेक प्रकार के वर्णशंकरों का जिक्र किया है। यह सब अस्वाभाविक कपोल-कल्पित बातें हैं। इस पर आजकल के विद्वानों ने खूब अच्छी तरह विचार कर लिया है"

'मेरा तो यह कहना है कि ऐशिया और यूरोप में खुल्लम-खुल्ला रोटी-बेटी के सम्बन्ध जारी होजायँ। पञ्जाब के शेर बच्चों को बंगाल की कोमलांगी कन्यायें ब्याह दी जायँ। मद्रास के मेधावी पुरुषों को काश्मीर की पुत्रियाँ भेंट कर दी जायँ, और फिर देखा जाय, कि मनुष्य जाति कितनी सुन्दर, कितनी सबल, मेधा शक्ति-सम्पन्न बन जाती है"

"जिन जातियों का विस्तार कम है, उनमें अति निकट विवाह-सम्बन्ध होते हैं। उन जातियों में बड़ी तेजी से स्वास्थ्य

तथा नसल गिर जाती है। क्या आप इस बात पर नहीं विचार कर सकते कि जब पशु-पक्षी और बनस्पतियों में गैर नस्ल की कलम देने से उनकी नस्ल सुधर जाती है, तब मनुष्यों की नस्ल इससे क्यों न सुधरेगी ?"

बृद्ध ने गम्भीर होकर कहा—"प्राचीन काल से यह मर्यादा चली है—अब जाति-बन्धन कैसे टूट सकते हैं ?"

"जब तक यह नहीं टूटते, हिन्दू जीवन नहीं पा सकते। वे संसार के मनुष्यों से सच्चा सहयोग भी नहीं पा सकते।"

"परन्तु सब मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ट हैं।"

सुधेन्द्र ने मुस्कराकर कहा—"क्यों ?"

"शास्त्र में लिखा है, कि मूर्ख या विद्वान् ब्राह्मण कैसा ही हो, पूज्य है।"

"जिस शास्त्र में ऐसी अन्धेर की बात लिखी है, वह मनुष्यों के सामने योग्य नहीं। सभी मनुष्य बराबर हैं। श्रेष्ठता गुणों से है। देखिये, अँग्रेजों को आप म्लेच्छ कहते हैं, पर बड़े-बड़े महामहोपाध्याय लाट साहब से हाथ मिलाना ऐसा समझते हैं, मानो ईश्वर मिल गया।"

'यह तो ठीक है, परन्तु ब्राह्मण को ईश्वर ने ब्रह्म-ज्ञान दिया है।"

"यह आप किस आधार पर कहते हैं ?"

"जो ब्रह्म को जानता है, वही ब्राह्मण है।"

"तब ब्राह्मण कौन है ?"

"प्राचीन काल में जो यज्ञ कराने का धन्धा करते थे, वे ब्राह्मण कहलाते थे। उन्हीं के वंशधर आज भी ब्राह्मण कहे जाते हैं।"

"क्या ब्राह्म विद्या ब्राह्मणों की विद्या नहीं ?"

"नहीं, वह क्षत्रियों की विद्या है। इसका वर्णन आपको उपनिषदों में मिल सकता है। उपनिषद् ब्रह्म-विद्या के ग्रन्थ हैं, उसमें बताया गया है, कि किस भाँति यह विद्या ब्राह्मणों से छिपाई गई थी।"

"ब्राह्मणों से छिपाई गई थी ? यह कैसी बात ?" ब्राह्मण हँसने लगे।

सुधीन्द्र ने गम्भीर वाणी से कहना शुरू किया-"छान्दोग्य उपनिषद् में आपको एक कथा मिलेगी, जिसमें गौतम ऋषि का अपने पुत्र को अश्वपति कैकेय राजा के पास परीक्षा के लिये भेजने का उल्लेख है। उस समय राजा ने उससे ब्रह्म विद्या सम्बन्धी पाँच प्रश्न किये थे। जिनमें से एक का भी उत्तर न पाकर राजा ने उसे मूर्ख कहा। तब पुत्र ने गौतम से इसका जिक्र किया। तब गौतम ने कहा, कि यह ब्रह्म-विद्या है, जो हम ब्राह्मण नहीं जानते। तब पुत्र की सलाह से गौतम ब्रह्म विद्या सीखने को राजा के पास शिष्य की भाँति गया। राजा ने उसे ब्रह्म-विद्या सिखाई, और कहा—'हे गौतम, ब्राह्मणों में सब से प्रथम तुमको मैं यह विद्या सिखाता हूँ। आज से प्रथम किसी ब्राह्मण को यह विद्या नहीं आती थी।'

इसी प्रकार के और भी उदाहरण हैं, जिनसे इस बात की पुष्टि होती है।

ब्राह्मण देवता स्तम्भित से रह गये। बोले यह आपने नई बात सुनाई है। मैं तो उतना विद्वान् नहीं—परन्तु आपको विद्वानों से इस विषय पर विचार परामर्श करना चाहिये।

सुधीन्द्र ने कहा—"नहीं महाराज, विद्वानों से नहीं। इस विषय की चर्चा करने की आवश्यकता तो सर्व-साधारण से है। उसी का लाभ इन बातों के ज्ञान से होगा।" वृद्ध ने प्रसन्न होकर कहा—"अच्छी बात है, आप कहें तो मैं आपका एक व्याख्यान करा दूं। गाँव को बहुत लाभ होगा।"

'नहीं' व्याख्यानों से लाभ की मुझे आशा नहीं। मैं २।४ दिन आपके गाँव में रहना चाहता हूँ—कहीं आश्रय आप बता सकें तो बड़ी कृपा होगी।

यह तो अति उत्तम है। यही घर क्या बुरा है। खुशी से रहिये। रूखा-सूखा जो होगा, मिल खाइये। गरीब ब्राह्मण को बहुत आनन्द होगा। घर में केवल विधवा बेटी है।

वृद्ध, विधवा बेटीकी चर्चा जीभपर लाते ही हतप्रभ होगये। वह स्वर्ण-लतिका बाला विधवा है—यह सन्देश सुधीन्द्र के हृदय में तीर की भाँति लगा। पर वे कुछ बोले नहीं। उन्होंने कहा—"अहो भाग्य। परन्तु एक बाधा है, अगर आप नाराज न हों तो कहूँ।

"कहिए"

"मैं ब्राह्मण के हाथ का कच्चा भोजन नहीं करता।"

वृद्ध ने आश्चर्य चकित होकर कहा—

"यह क्यों ? मैं गौड़ ब्राह्मण हूँ।"

"मेरा यह नियम है।"

"तब क्या चमार के हाथ का करते हो ?" ब्राह्मण ने रुष्ट होकर कहा।

"यदि वह मन, वचन, कर्म से शुद्ध हो।"

ब्राह्मण प्रथम तो हँसे-फिर गम्भीर बनकर बोले—'कुछ हर्ज नहीं। आपका नियम भंग करना मैं नहीं चाहता। आपके लिये कमला पक्का भोजन बना दिया करेगी।"

सुधीन्द्र ने कृतज्ञतापूर्ण नेत्रों से उन्हें देखकर कहा— 'और एक बात है, मेरे पास अभी खर्च वर्च नहीं है, आपको यह जबर्दस्ती का आतिथ्य करना होगा"

वृद्ध ब्राह्मण जोर से हँस पड़े। उन्होंने कहा—"यह आपने खूब कही। भाई, हम न तो शहरी जीव हैं कि ऐसे तोताचश्म हों—न इतने पढ़े-लिखे हैं कि खाने-पीने का भी हिसाब-किताब रखें। सीधे-साधे गाँव के आदमी हैं। अच्छा अब तुम स्नान करलो—तबतक भोजन तैयार कराये देता हूँ।"

सुधीन्द्र ने कहा—"स्नान और कुछ सूक्ष्म भोजन भी हो चुका है। अब कष्ट करने की आवश्यकता नहीं। सांयकाल को देखा जायगा। अभी आप मुझे कुछ विश्राम करने की आज्ञा दीजिए।"

वृद्ध यह सुनकर सुधीन्द्र को घर के पार्श्व भाग में बने एक कमरे में लेगये। इसका सम्बन्ध घर के भीतरी भाग से भी था। वहाँ केवल एक पलंग बिछा था, ऊपर फूँस का छप्पर था। ब्राह्मण ने कहा—"यहीं आप विश्राम कीजिये। आपके पास बिछौना तो होगा।"

"मेरे पास कुछ नहीं है।"

"तब यह कम्बल लेलो"—कहकर वृद्ध भीतर चले गये। सुधीन्द्र उस अपरिचित स्नेह में डुबकियाँ लेने लगे।

———

१४

कमला को जो उस बार उन्होंने एक क्षण को देखा, फिर वे उसे न देख सके। समय पर उनके सामने स्वच्छ थाल में गर्म और स्वादिष्ट भोजन आ जाता था। कमला के कमल-समान कोमल हाथों की चतुराई उस भोजन में ओत-प्रोत रहती थी, सुधीन्द्र भोजन करती बार कमला का ध्यान करते। उस क्षण-भर की झाँकी ने उनके मन में विप्लव मचा दिया था। वे उस असाधारण तेज और रूपराशि को, भारी जलपूर्ण कलश लिये घर में आते देखते ही रहते थे। 'वह विधवा है' यह विचार उनके हृदय में हाहाकार मचा रहा था। वे भोजन करते-करते कमला की एक करुण कल्पना-रेखा बनाकर अधीर होने लगे।

तीन दिन व्यतीत होगए। वृद्ध ब्राह्मण घर में नहीं थे; एक अनुष्ठानवश निकटवर्ती गाँव में यजमान के यहाँ गये थे। भोजन का समय होगया था। सुधीन्द्र चुपचाप अकेले बैठे कुछ विचार कर रहे थे; अचानक एक मधुर झंकार से चौंक उठे। कमला भोजन का थाल लिये खड़ी थी। सुधीन्द्र की आँखों से आँखें मिलते ही उसने कहा—

"भोजन कर लीजिए"

सुधीन्द्र हड़बड़ाकर उठ बैठे। मानो उनका ध्यान ही मूर्तिमान हो, उनके सामने आ गया था। उन्होंने झिझकते-झिझकते कहा—

'आपने इतना कष्ट...."

"कष्ट कुछ नहीं, आप हाथ धोइए। वह सामने जल है।"

सुधीन्द्र भोजन करने बैठ गये। वे आँखें नीची किये भोजन कर रहे थे।

कमला सन्मुख ही खड़ी रही। सुधीन्द्र उसकी परछाँही देख रहे थे। उन्होंने साहस करके कहा—

"आप बैठिये—खड़ी कब तक रहेंगी ?"

कमला बैठी नहीं। उसने वहीं से पूछा—

"मुझे आप से कुछ पूछना है।"

'कहिए" सुधीन्द्र ने एक बार आँख उठाकर कमला की ओर देखा। कमला ने उनकी ओर देखकर कहा—

"आप ब्राह्मण के हाथ की कच्ची रसोई नहीं खाते ?"

सुधीन्द्र घबराये। फिर वे जरा झेंपकर बोले—"मूर्खता है, पर ऐसा नियम ले लिया है।"

"आप मूर्खता करेंगे, ऐसी तो आशा नहीं। यह नियम क्यों लिया गया है ?"

"मैं मूर्खता नहीं करूँगा, यह आपने कैसे समझा ?"

"मैंने आपकी उस दिन की बातें सुनी हैं।"

सुधीन्द्र फिर चुप हुए। कमला ने कहा—

"इस भाँति आप ब्राह्मणों से बदला लिया चाहते हैं ?"

"बदला कैसा ?"

"उनके जाति-अभिमान के झूठे गर्व का। ब्राह्मण भी तो किसी के हाथ का छुआ नहीं खाते ?"

"सचमुच मैं यह सहन नहीं कर सकता, कि कोई व्यक्ति जन्म से जाति-अभिमान के कारण अन्य मनुष्यों का अपमान करे।"

"अपमान का प्रतिकार क्या अपमान ही है ?'

"नहीं देवी।"

"तब आपने यह नियम क्यों लिया है ? इससे आप क्या ब्राह्मणों को सर्व-साधारण में कच्चा-पक्का भोजन करने को राजी कर सकेंगे ? क्यों ?"

"नहीं, ऐसी तो आशा नहीं।"

"उन्हें तिरस्कृत कर सकेंगे ?"

"यह कुछ हो सकता है, परन्तु वास्तव में यह मूर्खतापूर्ण नियम है।"

"आप भोजन बनाना जानते हैं ?"

"कुछ-कुछ।"

"एक दिन बनाइए न, हम लोग खायें।"

"क्या पण्डितजी मेरे हाथ का छुआ खायेंगे ?"

"हमलोग देहाती ब्राह्मण हैं; अधिक विद्वान नहीं। आप बनाइए न, हमारा ऐसा कुछ नियम नहीं है।"

सुधीन्द्र चुप रहे, कमला चली गई।

सायंकाल को जब ब्राह्मण घर आये, तो सुधीन्द्र ने उनके पैर छूकर कहा—"मुझसे बड़ा अपराध हुआ है, आप कमला दादी से मेरा अपराध क्षमा कराइये।"

"क्या हुआ है, कहो ?"

मैंने आपके यहाँ कच्चा भोजन नहीं ग्रहण किया, इसके लिए कमला दीदी मुझे कठोर दण्ड दिया चाहती हैं।"

"अच्छा. कौन दण्ड ? क्या उसने तुमसे कुछ कहा है ?"

"वह मेरे हाथ का बनाया भोजन आपको खिलाना चाहती है।"

ब्राह्मण हँस पड़े। उन्होंने कहा—भैया, हम सब झूठे जाति-अभिमान को नहीं मानते, फिर तुम जैसे पूरे पण्डित

हो, तुम्हारे हाथ का छुआ खाने में कोई भी ब्राह्मण धन्य हो जायेगा।"

"मैंने बड़ी धृष्टता की, अब आप मेरी जान बचाइये।"

"मैं इसमें कुछ भी न कर सकूँगा। कमला को रसोई बना तुम्हें खिलाना पड़ेगा। तुम क्षत्रिय हो, भगवान ने ब्राह्मण के घर जन्म न लेकर बारम्बार क्षत्रिय के ही घर जन्म लिया। हम ब्राह्मण उन ईश्वरावतार क्षत्रिय कुमारों के सदा के पुजारी हैं भैया। तुम्हारे हाथ का प्रसाद पाकर हम अपने को धन्य समझेंगे, भगवान के साक्षात् प्रसाद पाये।

सुधीन्द्र की आँखों में आँसू आगये। वे बोले—"इस स्थान में आप-जैसे सत्पुरुष भी होंगे, ऐसा कौन सोच सकता था?"

"और यही कौन समझ सकता है, कि तुम्हारे-जैसा सर्वशास्त्रों का विद्वान् इस जंगल में भटकता फिरेगा!"

सुधीन्द्र रसोई बनाने में पारंगत व्यक्ति थे। इसका उन्हें बचपन ही से शौक था। कमला की जिद न हटी। दूसरे दिन उन्होंने घर के भीतरी प्रांगण में प्रविष्ट होकर देखा—घर का सहन स्वच्छ गोबर से लिपा है। बीच में तुलसी का थल है। एक तरफ गौ बँधी है। सामने छप्पर के नीचे रसोई घर है, वहाँ स्वच्छ पात्र और सब सामग्री रसोई की जुटाई गई है। कमला एकनिष्ट हो, सब प्रबन्ध कर रही है। सुधीन्द्र ने सङ्कोच-सहित भीतर आते-आते सब देखा। कमला ने किञ्चित् हास्य से कहा—

"आइये, वह पाटा रखा है, चूल्हा जला दिया है, वहाँ आटा दाल, मसाला तरकारी—सब जिन्स हैं।"

सुधीन्द्र हँसकर बोले—"दीदी, आज आप मुझे रसोइया बनाकर छोड़ेंगी !"

"वे, जो दूसरों का छुआ नहीं खाते, रसोइया अच्छे बन सकते हैं।"

सुधीन्द्र ने रसोई बनाई। कमला ने पूरी सहायता दी। रसोई बहुत उत्तम बनी। इस अल्प परिचय में सुधीन्द्र ने देखा—कमला एक रसाधार बालिका है। वह शिक्षिता मेधावी और उदार है। भोजन बना चुकने पर तीनों जने खाने बैठे। वहाँ कुछ भेद-भाव न था। छुआछूत भी न थी। वृद्ध ने बारम्बार भोजन की सराहना की। भोजन करने पर सुधीन्द्र ने अकस्मात् कमला के पैर छू लिये। ब्राह्मण ने कहा—"यह क्या किया ?"

सुधीन्द्र ने कहा—"मेरे अपराध का पूर्ण प्रायश्चित तो तभी होगा, जब कमला दीदी क्षमा करेंगी।"

कमला ने सहज स्वर में कहा—

"क्या आप मेरे हाथ का कच्चा भोजन करेंगे ?"

"दीदी, वह मेरे जीवन का सौभाग्य होगा।"

सुधीन्द्र उस दिन से उस परिवार के एक असाधारण व्यक्ति होगये। कमला से भी उनकी घनिष्टता बढ़ गई। उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ, कि इतने उच्च और स्वतन्त्र विचार इस देहात की दीवारों में भी कैसे पल्लवित हो सकते हैं।

———

१५

कमला को कमल के उस फूल की उपमा दी जा सकती है, जो प्राकृत पुष्करिणी के बीच नैसर्गिक रूप से खिलता है—जिसमें विधाता के हाथ की असली कारीगरी होती है। स्वच्छ सरोवर का मोती सा अमल धवल जल जब उन्मुखी वासन्ती पवन में हिलोरें लेता है—तब रक्ताभ महादल कमल उत्फुल्ल होकर, झूम झूमकर जो शोभा-विस्तार करता है, वह किसी मानवीय कारीगरी की समता की चीज नहीं हो सकती।

कमला ऐसी ही लड़की थी—वह सात वर्ष की आयु में विवाही गई। तीन वर्ष की अवस्था में उसकी माता ने उसे त्यागा—९ वर्ष की अवस्था में वह विधवा हुई। इस समय वह १७ वर्ष की नवयुवती है। वह तप्त कंचन के समान आभायुक्त, चम्पे की कली की भाँति गौरांङ्ग है। उसका शरीर कुछ कृष्ण है, उसके तपस्वी जीवन की उसके शरीर और मुख पर गहरी छाप है, तरुणाई उसके शरीर पर बिखरी है—पर इसका मानो उसे कुछ भार नहीं प्रतीत होता है। यह नहीं कह सकते कि वह इस तारुण्य से बेखबर है, पर वह उसके दाह को सह सकती है; जलती नहीं है। वह दिन भर घर को धंधा मन लगाकर करती है। वह सूर्योदय से बहुत प्रथम उठकर घर को झाड़-बुहाकर अपने नित्यकृत्य से निबट जाती है। तब वह पिता के पूजा-अर्चना का भी प्रबन्ध करती है। गौ की सेवा करती है, दही बिलोती है,

दूध गर्म करती है, फिर वह रामायण-पाठ करने बैठ जाती है।

सुधीन्द्र जब से आये हैं, उसका कुछ काम और बढ़ गया है। सुधीन्द्र स्नान शौच तो बाहर जाकर करते हैं, उनके चले जाने पर वह उनके कमरे को साफ़ करके एक गिलास छाछ रख आती है। सुधीन्द्र सदैव ही देर में उठते हैं। उठकर वह देखते हैं—कमला ने घर का सब काम निबटा लिया है, और वह मधुर स्वर से पाठ कर रही है। वे अपने आलस्य से लज्जित से होकर झटपट उठकर स्नान-शौच के लिये निकल जाते हैं। लौटकर देखते हैं, उनके कमरे की प्रत्येक वस्तु स्वच्छ है, और ताजा गौ का छाछ और मक्खन उनके लिये धरा हुआ है। वे उस अमृत-समान छाछ को पीकर धन्य होते हैं।

कमला बहुत कम उनके सामने आती है, पर सुधीन्द्र को भीतर बाहर कहीं रोक नहीं है। वे भोजन भीतर ही करते हैं। वे कमला को दीदी कह कर पुकारते हैं। कमला उनका नाम नहीं लेती। वह पुकारने के सुयोग बचा जाती है। कमला सुधीन्द्र को देखकर प्रभावित हुई। वह बहुधा उनकी बात सोचती है। सुधीन्द्र की श्रद्धा कमला के प्रति बढ़ती ही जाती है। वह बारम्बार कमला को उसके गृह-कार्यों में सहायता देने की सोचते हैं, पर संकोचवश रह जाते हैं।

एक दिन बहुत जल्द कमला ने उठकर देखा—गौ को सानी दे दी गई है, उसका गोबर साफ कर डाला गया है, जल के घड़े भी सब भरे हुए हैं, चौका स्वच्छ पड़ा है। उसने आश्चर्य से चकित होकर सोचा, यह क्या विचित्र बात है, किसने ऐसा किया ?—क्या सुधीन्द्र ने ? वह दबे

पाँव उनके कमरे की ओर गई। देखा—सुधीन्द्र मजे में सो रहे हैं, वह कुछ समझ न सकी; चुपचाप अपने काम में लग गई। सुधीन्द्र जब दोपहर को भोजन करने आये तो कमला ने उनकी ओर भेद-पूर्ण दृष्टि से देखा। पर सुधीन्द्र नीची दृष्टि किये भोजन करके बाहर चले गये। कमला के होठों पर एक महीन मुस्कान फैल गई। वह कुछ बोली नहीं।

दूसरे दिन भी यही हुआ। तीसरे दिन सुधीन्द्र गाय के गोबर को एक तरफ़ उठाकर गोबर से भरे हाथ लिये ज्यों ही पीछे को फिरे—देखा, कमला खड़ी उनकी सब कारस्तानी देख रही है। क्षण-भर वे विमूढ़ खड़े रहे, फिर एकाएक जोर से हँस पड़े। कमला ने कहा—"इस चोरी-छिपा से क्या लाभ?"

सुधीन्द्र ने कहा—

"दीदी, नाराज न होना, पिताजी से न कहना।"

"यह सब क्यों कर रहे हो?"

"आखिर कुछ करूँ भी, या दिन-भर पड़ा ही रहूँ?"

"पिताजी से बहस किया करो!"

"उससे काम नहीं चलता। दीदी, पानी और गो-सेवा का काम मुझे सौंप दो"

"क्यों? यह मेरा नित्य का काम है, मैं करती हूँ। तुम चार दिन के अतिथि यह सब क्यों करोगे!"

सुधीन्द्र ने कुछ उत्तर न देकर एक स्निग्ध दृष्टि से कमला की ओर देखा। कमला क्षण-भर को जरा कम्पित हुई, फिर कुछ सम्हलकर उसने पूछा—

"एक बात बताओगे?"

"क्या ?"

"तुम्हारी स्त्री है ?"

सुधीन्द्र ने थूक निगलकर कहा—"है।"

"माता-पिता"

"वे भी हैं।"

"निरुद्देश्य भटकने से क्या लाभ ?"

"कमला दीदी का दर्शन-लाभ।"

"सत्य कहो, टालो नहीं—तुम्हें कोई वेदना है ?"

सुधीन्द्र निरुत्तर हुए। चुपचाप गोबर उठाने लगे। कमला वहाँ से चली गई।

कमला का वह प्रश्न सुधीन्द्र के मानस-पटल पर अंकित हो गया। सुधीन्द्र अब पानी और गौ-सेवा का काम स्वयं करने लगे। वृद्ध ब्राह्मण ने बाधा दी, फिर हँसकर चुप होगये।

एक दिन सन्ध्या समय सुधीन्द्र घूमने गए थे। नदी का स्वच्छ किनारा। निर्मल जल में अस्तगत सूर्य की रक्त-छटा, प्रशान्त वातावरण—उस निर्जन एकान्त में बैठकर सुधीन्द्र गहरी विचार-धारा में लीन हो गये। सामने जल कल-कल बह रहा था, उसे देखकर उनका मन आन्दोलित होने लगा। उन्होंने धीरे-धीरे गुनगुनाना शुरू किया—धीरे धीरे—वे एमन की मधुर स्वर-लहरी बखेरने लगे। उनका स्वर बढ़ता गया, वे उन्मुक्त कण्ठ से गाने लगे। मानों झंझावात से नदी का उपकूल परिपूर्ण हो गया हो।

गाना बन्द कर, उन्होंने पीछे फिरकर देखा, कमला खड़ी है। वे खड़े होगये। कमला ने मुस्कराकर कहा—

"गाना किसे सुना रहे थे ?"

"कमला दीदी को।"

"इतना सुन्दर गाते हो तुम।"

कमला बैठ गई। सुधीन्द्र भी बैठ गये। कुछ देर दोनों मौन बैठे रहे।

कमला बोली—"घर कब जाओगे?"

'क्यों दीदी, मुझे रोटी खिलाना अखरने लगा?"

"लगा तो" कुछ ठहरकर बोली—

"भाभी का नाम क्या है?"

सुधीन्द्र तालू को तर करके बोले—"नाम—..... सु-सुधा है।"

कमला हँस पड़ी, नाम लेने में इतनी हिचक? परन्तु सुधीन्द्र माया का नाम लेने लगे थे। हिचक यही थी। वे चुपचाप कमला की तरफ़ देखने लगे।

कमला ने फिर कहा—"सुन्दर है?"

"कह नहीं सकता?"

"क्यों? क्या देखा नहीं?"

"नहीं।"

"अरे! विवाह कब हुआ?"

"कुछ दिन पूर्व ही।"

"विवाह के बाद ही वैरागी बने घूम रहे हो?"

"वैरागी क्यों बनता?"

"तब इस घूमने का क्या उद्देश्य है?"

"उद्देश्य तो कुछ नहीं।"

"तुम्हें घर जाना होगा!"

"मैं भी यही समझता हूँ, जाना तो होगा।"

"कल जाओगे ?"

"कल ही ?"

"तब ?"

"कुछ दिन दीदी के हाथ की रोटियाँ और खाना चाहता था।"

"सुनो, क्या कुछ खटपट हो गई है।"

"ना।"

"प्रेम नहीं करती ?" कमला की जबान लड़खड़ाई।

"कह नहीं सकता।"

"तुम प्रेम करते हो ?" कमला का स्वर धीमा पड़ गया। सुधीन्द्र उठ खड़े हुए, कमला भी उठ खड़ी हुई। सुधीन्द्र ने कहा—

"चलो दीदी—सूर्य छिप गया।"

"चलो तुम, मैं स्नान करके आती हूँ। कल तुम्हें जाना होगा।" सुधीन्द्र कुछ बोले नहीं, चुपचाप वहाँ से घर की ओर चल दिये।

१६

तीन मास बीत जाने पर भी जब सुधीन्द्र घर लौटकर न आये, न उनका कुछ समाचार ही मिला, तो सुधीन्द्र की माता बहुत ही अधीर होगई। और लोग भी बड़े बेचैन होगये। सुधा के पिता के यहाँ से बराबर सन्देश आ रहे थे। गृहिणी यह न प्रकट किया चाहती थी, कि सुधीन्द्र की कुशलता भी नहीं मिल

रही है। सुधीन्द्र की छिपी हुई अन्तर्वेदना उन्हें मालूम थी। इसी से उन्हें भय था, कि बेटा कहीं कोई दुस्साहस न कर बैठे। परन्तु पुत्र के धैर्य और विवेक पर उसे बड़ा भरोसा था। वह जानती थी की वह मनोव्यथा शान्त कर रहा है। वह सुधा पर अत्याचार न करेगा। वह ऊपर से गम्भीर बनी, घर में सब धन्धे करती फिरती। घर में छोटी बहू थी, दोनों छोटे बेटे थे। वह स्वयं कभी भी उनपर अपनी विकलता प्रकट न करती। सभी उससे कहते—"माँ, भैया की कुछ ख़बर नहीं मिल रही है।" गृहणी विश्वस्त स्वर में कहती—"फ़ुर्सत नहीं मिली होगी, चिन्ता क्या है, भैया कोई बालक तो है नहीं ?" परन्तु गृहणी को सब से बड़ा भय तो यह था, कि उसने ख़र्च भी तो नहीं मँगाया—वह खाता क्या होगा ? कैसे उसका ख़र्च चलता होगा ?

सुधा के पत्र तो उसे निरन्तर मिला ही करते थे। सुधा के रोम-रोम में सुधीन्द्र बस गये थे। उनकी गम्भीर जलद-घोष के समान वाणी उसके कानों में सदा कूजती, नवीन यौवन उसके शरीर में ऊधम मचा रहा था, और पति स्मृति उसे गुदगुदा रही थी। वह अन्ततः खुलकर गृहिणी को पत्र लिखने लगी—"माँ, मैं आपकी सेवा करने को बेचैन हूँ। माँ, अब आपकी टहल कौन करता होगा ?"

गृहिणी गद्‌गद् होकर सोचती, मेरे बेटे को फिर लक्ष्मी बहू मिली। मुझे बड़ा भय था। अब बेटे का भय-संकोच दूर हो,तो बात बन जाय। वह अवश्य ही सुधा से भय खाकर भागा है। सुधा से परिचित होते उसे भय लगता है। वह धर्म-भीरु और लजीले स्वभाव का युवक है, उसकी गैरत सुधा को पत्नी-रूप में स्वीकार नहीं करने देती। पर सुधा तो उसकी यथार्थ

पत्नी है ही. जीवन के साथ जीवित सम्बन्ध ही यथार्थ में कायम रह सकता है। पत्नी केवल आत्मा से ग्रहण योग्य ही नहीं, वह शरीर को भी तृप्त करनेवाली है। पति-पत्नि यदि एकरस, एकप्राण हुये, तभी यह तृप्ति ठीक-ठीक परस्पर प्राप्त हो सकती है। सुधा जैसे सुधीन्द्र के लिए अधीर बैठी है, यह वृद्धा गृहिणी प्रत्यक्ष देखने लगी, और अब ज्यों ज्यों सुधीन्द्र का सन्देश मिलने में देर होने लगी, गृहिणी-की अधीरता बढ़ती ही गई।

सुधीन्द्र के पिता इस समय बहुत-कुछ उदास हो गये थे। घर गृस्थी में उनका मन नहीं लगता था। भगवती के आचरण और माया के निधन ने उन्हें अर्ध-विक्षिप्त बना दिया था। पर जब गृहणी ने बारम्बार सुधीन्द्र के समाचार प्राप्त न होने की बात कही, तब वे भी चिन्तित हुये। उन्होने कहा— 'सुधीन्द्र कुछ बालक तो है नहीं। आ जायगा, भय क्या है !'परन्तु कुछ भय है अवश्य—यह वे भी समझ गये।

सुधा प्रति-क्षण सास की चिट्ठी की प्रतीक्षा करती रहती थी। सास के प्रति उसके मनमें दिन-दिन असाधारण मोह बढ़ता जाता था। सुधीन्द्र को उसने छुआ नहीं दूर से देखा था, वाणी सुनी थी पर, फिर भी वह समझती थी, सुधीन्द्र जैसे उसकी नस-नस में घुस गये हैं। वह सुधीन्द्र की मतवालो होगई थी। अपेक्षाकृत उसकी आयु से सुधीन्द्र की आयु में विषमता थी— पर सुधा को इस का ज्ञान-गुमान भी न था। वह सोचती, कैसे सुन्दर गोरे-गोरे उनके पैर हैं ! जब चलते हैं, कैसे उनकी स्वच्छ धोती हवा में लहराती है! कैसे चिकने घुँघराले उनके बाल हैं, कैसी आखें हैं ! जब वे हँसते हैं, कैसे भले लगते हैं। कैसेहैं वे !! यह सोचते-सोचते सुधा आनन्द-विभोर हो जाती।

सुधा मुग्धा बालिका तो थी ही, पर उसका मन मानों विचल-विचलकर यह प्रश्न करता था, कि भला वे तेरे हैं कौन! यह प्रश्न उसके अन्तस्तल में ऊधम मचा देता था। वह विह्वल होकर इस प्रश्न का उत्तर देने को अपनी जिह्वा में और उसे सुनने को अपने मन में बल का सञ्चय करती थी, पर कर नहीं पाती थी। वह तकिये में मुँह छिपाकर रोने लगती थी।

वे कहाँ हैं? आते क्यों नहीं? वहाँ से खबर आई है, अभी वे लौटे नहीं हैं। क्यों नहीं लौटे? क्या वे मुझे याद नहीं करते? क्यों, क्यों, क्यों? सुधा ने जोर से तकिया कसकर छाती से लगा लिया। फिर उसे घूँसों से खूब पीट डाला—इसके बाद उसने उसे फेंक दिया। तदनन्तर वह धरती में लोट-लोटकर रोने लगी—रोते-ही-रोते वह सो गई।

सुधा के पीहर में छः पूरे आदमी और दो बालक थे। नौकर-चाकर बहुत थे। सुधा के पिता रायसाहब थे। वे डिविजिनल इञ्जिनियर थे। उनका रहन-सहन खूब ठाठ का था। घर में सुधा, सुधा के माता-पिता, भाई मधुसूदनसिंह और उनकी पत्नी यशोदा, बहन राधा और भाई के दो बच्चे थे।

रायसाहब की आयु ५५ के लगभग थी। वे पूरे कद के ठाठदार आदमी थे। सहबी ढँग पर रहते थे। दाँत की बत्तीसी चढ़ी थी, आँख पर बढ़िया चश्मा था। माता का रंग खूब गोरा था। वह खूब मोटी गुदगर थीं, और बड़ी भोली और मीठे स्वभाव की सीधी-सादी स्त्री थीं। मधुसुदन बी० ए० पास कर चुके थे। रुड़की में इञ्जीनियरी के फाइनल क्लास में पढ़ते थे। बहुत हँसमुख छरहरे बदन के नवयुवक थे। उनकी पत्नी यशोदा ठाठदार युवती थीं। दिन में पाँच-सात बार कपड़े बदलतीं, पान चबातीं, माँग पट्टी से लैस रहती थीं। कभी-कभी हारमो-

नियम पर गीत गाती थीं। गाते-गाते आप ही अपने पर मस्त हो जाती थीं। बड़े घर की बेटी थी; जरा तुनुकमिजाजी थी, पर मन की अच्छी थी। जरासी बात में यदि बिगड़ जाती थी, तो जरा-सी बात में ही खुश भी हो जाती थी। पति-पत्नी में खूब घुटती थी, पर कभी-कभी जब खटकती, तो सुधा ही की शरण उसे लेनी पड़ती थी। सुधा एक बार लाज-भरी आँखों से भाई की ओर देखकर मधुर मुसकान के साथ ज्योंही 'भैया, भाभी से क्यों नाराज हो'—कहती त्योंही मधुसूदन हँसकर चल देते थे। पति-पत्नी की तुरन्त सन्धि होजाती थी। राधा बेढब लड़की थी। कुवारी थी, तेरहवाँ साल लगा था। वह बिजली के समान चपला तथा सुन्दर थी। हास्य का मेंह सदा उसके होठों पर बिखरा रहता था। सुन्दर स्वर्ण की छड़ी के समान उसका गात था। वह उठते हुये यौवन के द्वार पर थी। शैशव उसे गुदगुदा रहा था, और यौवन उसपर आक्रमण की तैयारी कर रहा था। वह भाभी को खूब तंग करती थी। दोनों बच्चों में—छोटी बच्ची का नाम था कंचन। वह डेढ़ वर्ष की प्यारी बच्ची थी। उसके नीचे के सिर्फ दो दो दाँत निकले थे। जब वह जरा-सी बात पर खुलकर हँसती, उसके वे दोनों दाँत अपनी छटा दिखाकर मन मोह लेते थे। यह बालिका सुधा का प्राण और जीवन का सहारा थी। सुधा उसे 'मुन्नी' कहती, और वह उसे 'बीबी' कहती। वह सदा सुधा के साथ रहती थी। तीन वर्ष का प्रबोध मोटा-ताजा मस्त प्रकृति का बालक था। जहाँ बैठ जाय, खेलते रहना; जो मिले, खा जाना;—उसका स्वभाव था।

सुधा जब धरती में गिरकर सो गई तो यशोदा कंचन को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वहाँ आई। उसे दूध पिलानेका समय होगया था।

उसने सोचा था, वह वहीं होगी। आकर देखा—सुधा धरती में पड़ी सो रही है, दूर तकिया पड़ा है, पसीने की बूँदें माथे पर झलमला रही हैं।

यशोदा वहीं बैठ गई, और पंखा झलने लगी। ठण्डी वायु का सुख-स्पर्श पाकर सुधा हड़बड़ाकर उठ बैठी। यशोदा के हाथ से पंखा छीनते हुए कहा—"भाभी, यह क्या कर रही हो?"

"अपने वकील की फीस चुका रही हूँ।"

"क्या फिर कोई मुकदमा है?"

"अभी तो नहीं, पर होते क्या देर लगती है? तुम जानती हो, जायदाद सब जोखिम की जड़ है।"

"जायदाद कौन-सी है?"

प्रश्न का उत्तर न देकर यशोदा हँस दी। समझकर सुधा भी हँस पड़ी।

यशोदा ने कहा—"क्या बात है, होठ सूख रहे हैं, मुँह पीला पड़ रहा है, आँखें लाल हो रही हैं। रोई हो क्या?"

"रोती क्यों?"

"क्यों की मैं क्या जानूँ—हाँ, तुम्हारी जगह मैं होती, तो रोते-रोते घर भर देती।"

"क्यों रोती?"

"ऐसे निर्मोही जो खबर भी न लें।"

"वाह, मुझे इससे मतलब?"

सुधा छिटककर दूर हो बैठी। यशोदा खिलखिलाकर हँस पड़ी। उसने सुधा को गोदी में लेकर प्यार किया, और कहा—"चिन्ता न किया करो, वे कोई बेसमझ थोड़े ही हैं, आवेंगे।"

सुधा के आँसू भर आये। वह भाभी के गले लगकर रो

पड़ी। यशोदा बड़ी देर तक उसे छाती में छिपाए रही।

कंचन ने तोतली-वाणी से कहा—"अम्मा, बीबी को तुमने माला है ?"

"हाँ, मारा है।"

"मैं तुमको मालूँगी।"

वह सुधा को पुचकारने लगी। सुधा ने उसे गोद में उठाकर उसका मुँह चूम लिया। यशोदा हँस पड़ी। कंचन ने तोतली वाणी से दोनों को हँसाते हँसाते लोटा दिया। तब दोनों ने कंचन को गोद में लेकर खूब दबोचा, और भर-पेट मिठाई खिलाई। उस नन्हीं-सी बालिका के हास्य में सुधा की वेदना खो गई।

१७

वृद्ध ब्राह्मण दो दिन से कहीं बाहर एक विवाह कराने यजमान के यहाँ गये थे। सुधीन्द्र ने नदी-तीर से लौट आकर देखा—वे द्वार पर खाट डाले बैठे हैं। सामने पलँग पर एक और अद्भुत रूप-वेश के व्यक्ति डटे हैं। इन्हें सज्जन कहते लाज आती है। बड़ा-सा पाग, धन्द गले का भद्दा सा कोट, दाढ़ी बढ़ी हुई—बेतरतीब मूँछें घिनौनी आँखें, चेचक-मुँह-दाग, कमर में मैली धोती, पैर में चमरौधा जूता हाथ में नैनीताल का पहाड़ी मोटा डन्डा। कुछ हटकर चबूतरे पर ५ ७ गाँव के और किसान आदि बैठे थे। मालूम होता था, सभी को सुधीन्द्र के आगमन की प्रतीक्षा थी। सुधीन्द्र के आते ही पागधारी ने कौतुक

दृष्टि से उन्हें देखा। सुधीन्द्र ने वृद्ध गृहपति को प्रणाम कर मुस्कराकर पूछा—

"आप कब आये ?"

'अभी आ रहे हैं।" वृद्ध ने कहा।

सुधीन्द्र ने कौतूहल की दृष्टि से नवागन्तुक को देखा—वे इन्हें इस प्रकार घूर रहे थे, जिस प्रकार चीता शिकार पर छलाँग मारने से प्रथम शिकार को घूरता है।

सुधीन्द्र ने गृहपति से पूछा—

"आपकी तारीफ ?"

ब्राह्मण के बोलने के प्रथम ही आप बोल उठे—

"नमस्ते—महाशयजी, मैं आर्य-समाज का महोपदेशक हूँ मेरा नाम पण्डित भ्रमानन्द शास्त्री है। आपने मेरे शास्त्रार्थ तो सुने ही होंगे।"

सुधीन्द्र ने मुस्कराकर कहा—"जी नहीं, मुझे कभी इसका अवसर नहीं प्राप्त हुआ।"

"अरे ! तब क्या आप कभी आर्य समाज में नहीं जाते ?"

'जी नहीं।"

"पण्डितजी की बातों से मैंने समझा था, आप आर्य हैं।"

"आर्य तो हूँ, पर आर्यसमाजी नहीं।"

"जो आर्य है —वही आयसमाजी हैं।"

"यह तो आवश्यक नहीं।"

"कैसे ? युक्ति प्रमाण दीजिये।"

सुधीन्द्र हँस पड़े, उन्होंने कहा—"युक्ति प्रमाण की इसमें क्या आवश्यकता है ? मैं एक बात की हस्ती से इन्कार करता हूँ, आप उसे प्रतिपादित किया चाहते हैं, अतः युक्ति-प्रमाण तो आप ही दीजिये।"

"प्रमाण सुनिये—"यथे माँ वाच कल्याणा....."

सुधीन्द्र ने हँसकर कहा—"यह आप किसका प्रमाण दे रहे हैं ?"

"वेद का, हम वेद को सर्वोपरि मानते हैं। समझते हैं न आप।"

"कुछ-कुछ, पर इसमें यह कहाँ लिखा है, कि जो आर्य हैं, वही आर्यसमाजी भी।"

"तब आप ही कहिये—आर्य और आर्य-समाज में क्या भेद है।"

उपदेशकजी अब जरा खाँस-खखारकर पैंतरा बदलकर जम बैठे। वे गर्वोत्फुल्ल—नेत्रों से इधर-उधर देखने लगे। गाँव के लोगों को रस आ रहा था। वे तन्मय होकर उनकी बातों को सुनने में लीन थे। वृद्ध गृहपति भी जरा चौकन्ने होकर मुस्कराकर सुधीन्द्र की ओर देखने लगे।

सुधीन्द्र ने कहा—

"आर्य एक जाति है जिसने भारतवर्ष की हिन्दू-सभ्यता और हिन्दू साहित्य का निर्माण किया है। वर्तमान हिन्दू और उनकी सभ्यता एवं साहित्य उन्हीं का बिगड़ा रूप हैं। परन्तु आर्य समाज एक सोसाइटी है, जिसमें सभ्य बनने के लिये कुछ चन्दा देना आवश्यक है। जो चन्दा न दे, वह आर्य-समाज का सदस्य नहीं, अतः आर्य-समाजी भी नहीं।"

उपदेशकजी के मुख पर सभी की आँखें अटक गईं। एक वृद्ध किसान ने माथे में साढ़े तीन बल डालकर कहा—

"अब कहिये, पण्डितजी। आप क्या कहते हैं ?"

उपदेशकजी गर्म हो गये। बोले—"वाह, यह आपने अच्छी युक्ति निकाली। आर्य-समाजके सभी सदस्य आर्य हैं।'

"यदि कोई आदमी आर्य समाज का सदस्य न हो। चन्दा न देता हो—परन्तु आर्यसमाज के नियमों को मानता हो, तो कहिये, वह आर्यसमाजी हुआ या नहीं ?"

उपदेशकजी ने हिचकिचाकर कहा—"यह भारतवर्ष ही आर्यावर्त है, और इसके सभी निवासी आर्य हैं।"

"परन्तु यदि वे आर्यसमाज के सदस्य नहीं,—चन्दा न देते हों, तो वे आर्यसमाजी तो न रहे न ?"

"नहीं, वे आर्यसमाजी कैसे हो सकते हैं ?"

"परन्तु वे आर्य तो हैं ही।"

"अवश्य; वे आर्यों के वंशधर हैं।"

"ऐसी अवस्था में जब कि वे आर्य हैं, किन्तु आर्यसमाजी नहीं, साफ जाहिर है कि आर्य और आर्यसमाजी दो भिन्न-भिन्न चीजें हैं; एक नहीं।"

वृद्ध ब्राह्मण प्रसन्न होकर बोले—"वाह, क्या बात निकाली है। हम भी तो आर्य हैं—पर भाई, आर्य-समाजी नहीं हैं।"

उपदेशकजी खूब गुनगुने होकर बोले—

"इसमें कोई वेद का प्रमाण है ? बिना प्रमाण की बात हम नहीं मानेंगे।"

सुधीन्द्र ने हँसकर कहा—

"कहिए वेद किसे कहते हैं ?"

"वेद ईश्वरीय ज्ञान है।"

"यह कैसे माना जा सकता है ?"

"वाह ! वेद ईश्वर-कृत है, इसमें भी आपको को कोई सन्देह है ?"

"बहुत कुछ; ईश्वर एक अजर-मगर अकाय सत्ता है।"

'वेद में कुछ शब्द हैं, कुछ वाक्य हैं, उनकी भाषा संस्कृत है, वह भी एक सी नहीं, उनके विषय भी एक जैसे नहीं, उनमें भिन्न-भिन्न काल की, भिन्न-भिन्न देश की बातों का वर्णन है। वे अवश्य ही संसार की बहुत प्रचीन पुस्तकें हैं, परन्तु उन्हें समय-समय पर आर्यों के बुजुर्ग और विद्वान ऋषि-मुनियों ने ही बनाया है। उसमें प्राचीन विद्वानों के सुन्दर और भावपूर्ण मनुष्य-मात्र को लाभ पहुँचानेवाली बातें हैं, उनके द्वारा हम तत्कालीन भौगोलिक स्थिति तथा सामाजिक स्थिति को पहचान सकते हैं।"

"यह तो आप नास्तिक पक्ष ले रहे हैं। वेद अनादि हैं, और वे सब विद्याओं के केन्द्र हैं। वे ईश्वरकृत हैं, वे सृष्टि के आदि काल में उत्पन्न हुए हैं।"

"यह आप किस आधार पर कह रहे हैं ?"

"शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा की आत्मा में एक एक वेद का प्रकाश हुआ।"

"यदि किसी के हृदय में कोई भाव आवे, और वह उसे पुस्तकाकार में लिखदे—वह भाव, यदि ईश्वर की प्रेरणा समझी जाय, तो कुरान-आदि भी ईश्वर-कृत हुई।

"कुरान ईश्वर कृत नहीं हो सकता।"

"कुरान की बात दूर रहे—मैं जो ग्रन्थ लिखूँ—या जो बात बोलूँ, वह सब भी ईश्वर-कृत समझनी चाहिए। और आपने जो 'शतपथ ब्राह्मण' का हवाला दिया, वह

ब्राह्मण-ग्रन्थ तो अब से कुछ हजार वर्ष पूर्व ही याज्ञवल्क ऋषि ने बनाया था; जो वेदों को ज्ञान का भण्डार नहीं, किन्तु यज्ञ कराने की वस्तु समझते थे।"

उपदेशकजी ने क्रोध से लाल-लाल आँखें निकालकर कहा—"महाशय जी! आप वेद पढ़िये, तब पता लगेगा।"

सुधीन्द्र ने हँसकर कहा—"आप पढ़ा सकें तो आपके सत्संग में रहने का लाभ-उठाऊँ।"

'हम नास्तिकों से विवाद नहीं करते।"

"तब आप कैसे वैदिक धर्म का प्रचार करते हैं।"

'एक दिन वैदिक धर्म की जय होगी।"

"सम्भव है, अभी तो आर्य समाज की बदौलत वैदिक-धर्म डूबने लगा है। और अब आवश्यकता वैदिक-धर्म की इतनी नहीं, जितनी राष्ट्रीय धर्म की है।"

"यह आपका राष्ट्रीय धर्म कौन सा है।"

"जो सब मनुष्यों को भाई बनाता है।"

"यही तो वैदिक-धर्म है।"

'नहीं, आप ईसाई-मुसलमानों को शुद्ध करना चाहते हैं। राष्ट्र धर्म उसकी आवश्ययकता नहीं समझता। प्रत्येक पुरुष यह समझे कि मैं मनुष्य-जाति का एक अंग हूँ—मनुष्य के प्रति मेरे क्या कर्तव्य हैं, जो वह चाहे जिस देश, वेश, धर्म और विश्वास का पुरुष हो—राष्ट्रधर्मी है। उसकी देश को बड़ी जरूरत है।"

ब्राह्मण देवता ने कहा—

"तप, व्रत, उपवास, पूजा-पाठ, धर्म नहीं?"

सुधीन्द्र ने गम्भीर भाव से कहा—"इनसे मन में शुद्धि

आती है। धर्म वह काय है, जिसके करने से लोकहित हो, और किसी भी प्राणी को कष्ट न हो। आप व्रत-उपवास को धर्म समझते हैं, ये महाशय भी—हवन करना—और नमस्ते करने को धर्म समझते हैं, दूसरे देवी पर बकरा काटने को धर्म समझते हैं, तीसरे शराब को देवी का प्रसाद कहकर पीना धर्म समझते हैं, चौथे व्यभिचार को—धूर्तता को—जादू टोने को धर्म समझते हैं। पर वास्तव में यह धर्म नहीं है।"

"तब धर्म क्या है?"

"जिससे सार्वजनिक लाभ हो, वही धर्म है; जिससे मनुष्य के प्रति मनुष्य उत्तरदायी हो, वही धर्म है। प्राणी-मात्र के लिए कर्त्तव्य का ज्ञान ही धर्म है। धर्म वह है, जिसके द्वारा मनुष्य अधिक से अधिक लोकोपकार कर सके। धर्म वह है, जिससे हृदय और मस्तिष्क का पूरा विकास हो। दया धर्म है, प्रेम धर्म है, सहनशीलता धर्म है, उदारता धर्म है, सहायता धर्म है, उत्साह धर्म है, त्याग धर्म है। मैं चाहता हूँ, कि आज भारत के सभी नर-नारी इसी नवीन धर्म को हृदयङ्गम करें, जिससे उनकी दिमागी गुलामी दूर हो, उनके हृदय और मस्तिष्क कमल की भाँति खिल जायँ। धर्म वह है, जो स्वाधीनता-प्रकाश और जीवन दे। धर्म वह है, जो जातियों को संगठित करे, प्राणियों को निर्भय करे, जीवन को सुखी करे।"

सुधीन्द्र इतना कहकर चुप होगये। सर्वत्र सन्नाटा छा गया। उपदेशक महाशय ने जरा खाँसकर कहा—"किन्तु प्रमाण—वेद का प्रमाण भी तो दो।"

सुधीन्द्र ने आँख उठाकर उपदेशकजी की ओर देखा, और कहा—"मेरे मित्र, जब भूख लगती है, तब वेद का प्रमाण पाये बिना ही खाने लगते हो। उसी प्रकार धर्म जीवन की आवश्यकता की वस्तु है। उसके लिये प्रमाण—वर्तमान समाज और उसकी आवश्यकता है। उसे अध्ययन कीजिये, आपको सब भेद खुल जायगा।" सुधीन्द्र यह कहकर उठ खड़े हुए, और अपने कमरे में पलंग पर जा लेटे।

१८

दूसरे दिन कमला ने प्रातःकाल उठकर देखा—गौ की सेवा नहीं हुई है, सानी नहीं की गई है, गोबर वैसा ही पड़ा है, जल भी नहीं भरा गया है। उसने वह सब कार्य स्वयं किया—इसके बाद वह झाँककर सुधीन्द्र के कमरे में देखने लगी। वे चादर ओढ़े सो रहे थे।

दिन चढ़ने पर भी जब वे सोते ही रहे, तब कमला ने नदी से लौटकर फिर एक बार उनके कमरे में झाँककर देखा, फिर वह धीरे से किवाड़ खोलकर भीतर गई। किवाड़ का जरा-सा खड़का पाकर सुधीन्द्र जाग उठे, हड़बड़ाकर उठ बैठे। उन्होंने कहा—

ओह! इतना दिन चढ़ गया, दीदी तुमने जगाया नहीं?

कमला ने देखा—उनकी आँखें चढ़ी हुईं, और लाल हो रही हैं। उसने आगे बढ़कर उनका माथा छूकर देखा—तप रहा है। उसने कहा—

"तुम्हें ज्वर हो रहा है।"

"कुछ हरारत सी मालूम देती है।" सुधीन्द्र माथा पकड़कर बैठ गये। उनका सिर दर्द से फटा जा रहा था और शरीर काबू में न था।"

कमला ने कहा—

"हरारत नहीं, ज्वर है। तुम जरा सो लो—नहीं तो तबियत और भी खराब होजायगी।"

सुधीन्द्र ने पलँग से उठते-उठते कहा—"नहीं, दीदी आज मुझे जाना है। मेरी तबियत ठीक है—यों-ही कुछ थकान हो गई है।"

"कल चले जाना, आज-भर ठहर जाओ।"

सुधीन्द्र ने कमला की ओर देखा और हँसकर कहा—'नहीं मुझे जाना चाहिये।" इसके बाद ही उनकी आँखों में आँसू भर आये, जिन्हें आँखों के कोने में सुखाने की भरपूर चेष्टा करने पर भी सुधीन्द्र न छिपा सके।

कमला कुछ सोच रही थी। वह कुछ कहना चाहती थी, पर कह नहीं सकती थी। फिर भी उसने साहसपूर्वक कहा—"क्या कल के मेरे कहने पर जा रहे हो?"

"तुम्हें जाना चाहिये, यह आज ही तुम्हें क्यों सूझा—इतने दिन बाद?"

"मैं कई दिन से सोच रहा था, पर दीदी, तुम लोगों को छोड़ते नहीं बनता था। अब तो जाना ही होगा।"

"ऐसी तबियत खराब होने पर जाना ठीक नहीं, एकाध-दिन ठहरकर जाना।" कमला की जबान लड़खड़ाई।

सुधीन्द्र क्षण भर को ढीले पड़े। फिर उन्होंने एकाएक जाग्र

रूसे होकर दृढ़ता से कहा—नहीं दीदी, मैं जाऊँगा। वे उठकर अपने वस्त्र ठीक-ठाक करने लगे। कमला वहाँ से चली गई।

उसने भीतर कोठरी में जाकर द्वार बन्द कर लिये। वह जमीन में चुपचाप लेट गई। सुधीन्द्र उसके सामने थे। उस अन्धकार में सुधीन्द्र उसके हृदय में घुसे पड़ते थे। उस दिन कदाचित् प्रथम बार वैधव्य-जीवन का उसे ज्ञान हुआ। उसके हृदय में वह विकलता जाग उठी—जो सोई पड़ी थी। वह स्त्री है—यह वह अभी तक न समझ पाई थी, पर आज एकाएक वह समझ गई, कि वह केवल स्त्री-ही मात्र नहीं, युवती भी है। वह कई दिन से अपने मन में अनुभव कर रही थी, कि जैसे सुधीन्द्र को देखकर उसके मन में कुछ नई-सी अनुभूति उदय हो उठती है। उसे मन-ही में दाब रखने की उसने भरपूर चेष्टा की— परन्तु जब वह भावना बढ़ती ही गई, तब उसने सुधीन्द्र को आँखों से ओझल करना ही ठीक समझा। यह बात भी वह सुधीन्द्र से कई दिन से कहना चाह रही थी। अन्त में उसे कहना पड़ा, पर आज सुधीन्द्र का जाना देखकर उसका हृदय फटने लगा। वह फूट-फूटकर खूब रोई।

सुधीन्द्र सब भाँति तैयार होकर, वृद्धा गृहपति से अनुमति लेने गये। उन्हें इनसे बड़ा मोह होगया था, पर उन्हें आज्ञा देनी ही पड़ी। अब सुधीन्द्र-कमला से विदा लेने का कठिन कार्य करने को सन्नद्ध हुये। हाँ, कठिन कार्य ही उसे कहना चाहिये। एक अज्ञात बन्धन उनके हृदय में भी तो हलचल मचा रहा था। उन्होंने कमला को छूटते ही दीदी कहा था। वे बड़े संयमी और जितेन्द्रिय भी थे, पर कमला का नैसर्गिक भोलापन, उसका वैधव्य, उसकी सरल दिनचर्य्या, कठिन जीवन—यह सब उनकी आत्मा में रम गया था।

फिर, कमला उन्हें बलपूर्वक भेज रही है, स्त्री-हृदय की यह कमजोरी—वे ठीक समझ गये थे। इसके बाद आज कमला की आँखों ने भी कुछ कहा था—वे समझ गये थे, कि कमला कहीं बैठकर आज रोवेगी। वे चुपचाप भीतर घर में घुस गये। घर में रसोई का सरंजाम न था; सब शान्त था। सुधीन्द्र ने कोठरी के बन्द द्वार पर जाकर धीरे-से पुकारा—

"दीदी !"

कमला चौंकी। उठी—वस्त्र सम्हाले, और द्वार खोल दिया। रोने से उसकी आँखें फूल गई थी—और वे लाल हो गई थीं। सुधीन्द्र ने कमला को देखा। कमला समझ गई, कि सुधीन्द्र ने उसकी आत्मा की दुर्बलता को समझ लिया है। उसने कुछ भी छिपाने की चेष्टा न की। वह नीचा सिर किये खड़ी रही। सुधीन्द्र ने कहा—"जाता हूँ दीदी !"

"जाओ !" कमला ने धीमे स्वर से बिना ही उसकी ओर देखे कह दिया।

सुधीन्द्र खड़े रहे। वे क्या कहें—यही सोच रहे थे। क्या कमला को इसी तरह छोड़कर चले जायँ ? यह कैसे हो सकता था ?

सुधीन्द्र मन पर पूरा बल लगाकर हँस पड़े—उनकी इस अप्रासंगिक हँसी से चौंककर कमला ने अपनी बरसाती आँखें ऊपर उठाकर देखा—पर बोली नहीं।

सुधीन्द्र ने कहा—"दीदी, योंही चला जाऊँ—कुछ खिलाओ-पिलाओगी नहीं ?"

"ठहरो, मैं अभी कुछ बनाये देती हूँ।" कहकर कमला रसोई की तरफ बढ़ी।

"न दीदी, आज मैं ही कुछ बनाऊँगा। तुमको आज मेरे हाथ का प्रसाद खाना पड़ेगा।"

दोनों रसोई में जा डटे। कमला ने बहुत बाधा दी; तबियत ठीक नहीं है—यह भी कहा, पर सुधीन्द्र माने नहीं, कमला ने बहुत सी सामग्री ला जुटाई। सुधीन्द्र धीरे-धीरे विविध खाद्य बनाने लगे। कमला का मुँह खुला—उसने पूछा—

"तुम क्या सदैव यह स्त्रियों के काम किया करते हो?"

"बहुधा,—जब समय मिलता है। मुझे यह बहुत प्रिय हैं।"

"यह भाभी का अहोभाग्य समझना चाहिए।" कमला ने साहस करके हँस दिया। सुधीन्द्र न हँस सके। कमला ने फिर कहा—"भाभी घर में ही है न?"

"न, अपने पिता के घर।"

"विवाह के बाद आई ही नहीं?"

"नहीं।" सुधीन्द्र जोर-जोर से चमचा चलाने लगे। उस आघात को सहन न करके बटलोई दाल-सहित नीचे आ गिरी, चूल्हे की आंच बुझ गई।

कमला ने चौंककर कहा—"यह क्या किया?" सुधीन्द्र ने अपराधी की भाँति कहा—"दीदी, और थोड़ी दाल ले आओ।" वे उधर मुँह फेरकर तरकारी देखने लगे।

कमला ने कहा—"दाल को जाने दो। कहो, क्या सचमुच तुमने उसे देखा भी नहीं?"

"नहीं।"

"उससे बात भी नहीं की?"

"नहीं।"

कमला सोचने लगी—तब यह इतनी उम्र होने पर भी स्त्री क्या वस्तु है, इससे अज्ञात हैं?

उसने हठात् प्रश्न किया—

'जानते हो, स्त्री क्या चीज है ?"

सुधीन्द्र ने जरा जोर देकर कहा—"दीदी, चीनी भी तो लाओ ?"

चीनी का बर्तन सुधीन्द्र के आगे रखकर कमला बोली—"कहो।"

"क्या ?"

"जानते हो, स्त्री क्या चीज है ?"

"जानता हूँ; कमला, वह एक मधुर स्वप्न है, जो जागते ही खो जाता है।"

यह क्या ? यह तो अबोध आदमी-जैसी बात नहीं। कमला सोचने लगी। उसने कहा—

"स्वप्न जैसे स्त्री-जगत् में कोई वस्तु है ही नहीं।"

"दीदी, स्त्री-शरीर जो कुछ है, वह तो कुछ नहीं है—स्त्री-हृदय ही स्त्री है। वह स्वप्न नहीं, तो क्या है ?"

कमला कुछ देर चुचचाप आटा गूँधती रही। उसने एका-एक पूछा—"उस स्वप्न का तुम्हें कुछ अनुभव है ?"

"है।"

कमला जैसे चमक पड़ी। उसने पूछा—"क्या अनुभव है ?"

"वह स्वप्न पुरुष के जीवन का आधार है, दीदी।"

"तुम पुरुप उसी स्वप्न के आधार पर जी रहे हो ?"

"हाँ, दीदी।" सुधीन्द्र की आँखें भर आईं। वे मानों अब हृदय को चीरकर कुछ कहने को उद्यत होगये।

कमला कुछ समझी नहीं। उसने मन्द मुस्कान से नीचे देखते हुये कहा—"अभी भाभी को देखा भी नहीं, और स्वप्न का इतना अनुभव ?"

'दीदी, यह मेरा दूसरा ब्याह हुआ है।"

"दूसरा ?" कमला का हाथ रुक गया। उसने सुधीन्द्र की ओर ताककर देखा।

सुधीन्द्र ने शान्त-संयत भाषा में कहा—"हाँ, उसका नाम माया था। वह मधुर स्वप्न की भाँति खो गई, पर वह अभी तक मेरे हृदय में है। दीदी, कह नहीं सकता, तुम लोग कैसे सहन करती हो ? मैंने विवाह किया है सही, पर मैं उसे सामने देखने का साहस नहीं कर सकता।"

कमला चुपचाप बैठी रही। गम्भीर विषाद की रेखा उसके मुख पर दौड़ गई।

सुधीन्द्र ने गम्भीरता से कहा—"दीदी, एक बात कहो—क्या तुमने अपने पति को देखा था ?"

"नहीं।"

"विवाह के समय ?"

"उसका स्मरण नहीं, तब मैं बहुत छोटी थी।"

"यह हृदय विदारक घटना कब हुई ?"

"पाँच वर्ष हुए।"

"तुम उन्हें याद करती हो ?"

"अब तक तो नहीं करती थी।"

"और अब ?"

"एकाएक कल से याद आई है।"

"कल से ?"

"हाँ।"

"क्यों ?"

"तुम्हें नदी-तीर पर गाते हुये सुनकर।"

सुधीन्द्र का मुँह सूख गया। उन्होंने आँख उठाकर कमला को देखकर कहा—

"दीदी, क्या कहती हो ?"

"सच कहती हूँ।"

"मुझे देखकर क्यों ?"

"तुम्हें कल गाता हुआ देखकर समझी, कि स्त्री के लिये पुरुष क्या है ?"

"क्या समझी, क्या है ?"

"तुमने कहा था, स्त्री पुरुष के लिये स्वप्न है।"

"मधुर स्वप्न।"

"मधुर ही सही, पर स्त्री के लिये स्वप्न नहीं।"

"तब क्या है ?"

"एक सत्य अस्तित्व, जो स्त्री का प्राण है।"

"प्राण ?"

"हाँ उसके बिना स्त्री प्राणहीन है।"

"कमला...."

"इसी से मैंने तुमसे कहा था, तुम चले जाओ। प्राणहीन स्त्री पराये प्राण को देखकर स्थिर न रह सके, तब ?"

"दीदी...." सुधीन्द्र जोर से रो पड़े। कमला भी रो पड़ी। कमला ने फिर आँसू पोंछकर कहा—

"तुम यह न समझना कि मेरे मन में पाप है।"

"दीदी, तुम पूजनीय पवित्रात्मा देवी हो।"

"पवित्रात्मा तो नहीं, मैं साधारण विशुद्ध कन्या हूँ।"

"दीदी, तुम कैसे प्राणहीन जीवन निर्वाह करोगी ?"

"क्या मैं भी दूसरा ब्याह करूँ ?"

"दीदी, तुम नाराज न होना; मैं कहता हूँ, जरूर करो। यह वैधव्य पृथ्वी पर मनुष्य-जाति की मूर्खता का भयानक चिह्न है।"

"तुम क्या कह रहे हो ?"

"यथार्थ सत्य।"

"क्या हिन्दू-धर्म-शास्त्र में इसकी आज्ञा है !"

"दीदी, क्या मेरा हाथ या टाँग, छत पर से गिरने से टूट जाय, तो मैं उसके इलाज के लिये धर्म-शास्त्र को टटोलूँगा ? धर्म शास्त्र समाज की गति का, और नैतिक जीवन का नियन्त्रण अवश्य करते हैं—पर उनमें समय की गति को देखते हुए परिवर्तन होना चाहिये। मैं तो इस विषय पर विचार करती बार धर्म शास्त्र को बीच में लाना ही नहीं चाहता। यह संसार का बड़ा भारी सामाजिक प्रश्न है। योरोप और अमेरिका में फी हजार ज्यादा-से-ज्यादा १६ स्त्रियाँ विधवा हैं, परन्तु भारत में २८६ विधवा प्रति हज़ार है। भारत में कुल लगभग ९ करोड़ स्त्रियाँ हैं, जिनमें २॥ करोड़ विधवा हैं। इनमें भी बहुत-सी दूध पीती बच्ची हैं। तुम क्या समझती हो, दीदी—क्या इन्हें जीवन-भर विधवा का दर्दभरा जीवन व्यतीत करना चाहिये?"

कमला ज़रा चुप रही—फिर उसने धीमे और कम्पित स्वर में कहा—"यह तो उनका भाग्य-विधान है, इसमें कोई क्या करे ?'

"क्या कहा—भाग्य-विधान, दीदी, तुम पढ़ी-लिखी लड़की होकर भी भाग्य-विधान की बात कर रही हो !—जहाँ पाँच-पाँच वर्ष की कन्याओं का विवाह कर दिया जाता है, और वे विधवा बना दी जाती हैं ? यह पाप करते हैं माता-पिता और भाग्य-दोष मिलता है लड़कियों को ! यह कहाँ का न्याय रहा ?

यदि छोटी कन्याओं का विवाह न करके उन्हें पढ़ाया जाय, तो कैसे उनका भाग्य-दोष उन्हें विधवा बना सकता है ? क्या यह बात दिल को थर्रा देनेवाली नहीं, कि दुध-मुँही विधवाओं की संख्या भारतवर्ष में साढ़े पाँच लाख से भी अधिक है ? संसार की किसी जाति में भी इतनी विधवाएँ नहीं हैं।" इतना कहकर सुधीन्द्र चुप होकर कुछ सोचने लगे। कमला ने कहा—"क्या विधवाओं के लिये कोई काम नहीं है ?"

"है। लोग कहते हैं, भगवान् का भजन करना, मैला रहना, मरे पति का नाम जपना, रूखा-सूखा खाना, संसार के भोगों से विरक्त रहना, यह विधवा का कर्म है। मैं इस धर्म और इसे धर्म कहनेवालों पर लानत भेजता हूँ। यह धर्म नहीं, अधर्म है।" सुधीन्द्र का मुँह उत्तेजना के मारे लाल हो गया।

कमला ने कहा—"क्यों यह तो तपस्या है। तपस्या अधर्म क्यों है ?"

"तपस्या तो हृदय के वैराग्य से सम्बन्ध रखता है। कोई स्त्री या पुरुष—पति या पत्नी के रहते ऐसा विरक्त जीवन बनावे तो वह प्रशंसनीय है। विधवाओं को बलपूर्वक तपस्वी बनने का घृणास्पद कार्य वे पशु-पुरुष करते हैं, जिनका तपस्या से कुछ भी सम्बन्ध नहीं।

"फिर, विधवा हिन्दू समाज में एक बेकार चीज है, उसे घरभर की चाकरी करके अपमानजनक टुकड़ों से पेट भरने को छोड़ और कुछ काम ही नहीं है। इसलिये विधवा का जीवन हिन्दू-समाज में सबसे अधिक वेदनापूर्ण है। पति के असह्य वियोग की वेदना सभी देश की विधवा नारी सहन करती हैं, परन्तु दरिद्रता, बेकारी, असहायता, सन्तान-शून्यता, और

लांछन जैसे भारतीय विधवाओं को सहन करने पड़ते हैं, वैसे संसार की किसी भी जाति की स्त्री को नहीं सहने पड़ते।"

कमला ने आँख उठाकर सुधीन्द्र के तेजपूर्ण चेहरे को देखा। वे एक देव-दूत की भाँति गम्भीर और वेदनापूर्ण दृष्टि से कमला की ओर देखकर ये बातें कर रहे थे। कमला ने कम्पित स्वर में कहा—

"पूर्व-काल में स्त्रियाँ पति के साथ सती होती थीं, यह क्या उनका उत्कृष्ट त्याग न था?"

'दीदी, यदि कोई स्त्री प्रेमावेश में ऐसा करती थी, तो उसका यह प्रेमोन्माद करुणा और क्षमा की वस्तु है, परन्तु प्रशंसा की नहीं। प्रथम बात तो यह है, कि मरने पर भी उसके पति को मनुष्य-योनि मिलेगी, वह किसी ख़ास स्थान पर परलोक में किसी पेड़ के नीचे बैठा अपनी विधवा स्त्री के मरने की बाट जोहता रहेगा, तथा १०।१२ वर्ष बाद जब पत्नी मरेगी, तो उसे वहाँ परलोक में ढूँढ़ लेगी—यह सब महा-मूर्खतापूर्ण विश्वास की बातें हैं। मरने पर शरीर तो यहीं रह जाता है। आत्मा स्त्रीलिङ्ग है, न पुलिङ्ग। वह हिन्दू धर्म-शास्त्रों के मतानुसार, कर्मानुसार भिन्न-योनियों में जन्म लेता है। इससे यह मानना पड़ेगा कि जीते-जी ही जगत् का नाता है। प्रत्येक स्त्री और पुरुष को जीवन-पर्यन्त एक दूसरे के प्रति विश्वासी और मन-वचन से एक रहना चाहिए; ख़ासकर नवीन आयु के स्त्री-पुरुषों को।

"तुम्हें यह भी मालूम होना चाहिये—कि मुर्दे के साथ जीवित स्त्री को जला देना—अति भयानक, अति वीभत्स काम है। शोक की बात है, जिस काल में पुरुष के अनेक

विवाह हो सकते थे, उस काल में स्त्रियों के सती होने का विधान था। इसे हिन्दू-समाज का सबसे बड़ा कलंक कहना चाहिये।

कमला ने सुधीन्द्र की बातों से प्रभावित होकर कहा—"क्या स्त्री पुरुष का विवाहित होकर संयुक्त रहना संसार में इतना आवश्यक है?"

"हाँ, दीदी!" सुधीन्द्र ने सहज-गम्भीर स्वर में कहा—"स्त्री-पुरुष दोनों ही भिन्न वस्तु नहीं, एक जीवन-सत्ता के दो अधूरे भाग है। स्त्री-पुरुष संयुक्त होकर ही एक जीवित चैतन्य सत्व बनते हैं। जैसे घन और ऋण दो प्रकार के धारावाही तारों से बिजली की धारा प्रवाहित होती है, उसी प्रकार स्त्री और पुरुष के संयोग से प्रजनन-प्रवाह चलता है, यदि स्त्री-और पुरुष के संयोग से प्रजनन-प्रवाह चलता है, यदि स्त्री-पुरुष अत्यन्त पवित्रता तथा सामाजिक मर्यादा का पालन करते हूए संयुक्त न हों, तो परमेश्वर की सृष्टि के सब काम ही समाप्त हो जायँ। यह स्त्री पुरुष की जोड़ी मनुष्यों में ही नहीं, कीड़े-मकोड़े, पशु पक्षी, बनस्पत्ति-आदि सभी में है। पुरुष स्त्री के संयुक्त रहने का रहस्य कैसा मधुर है, गुलाब से शिशु को जन्म देकर ही कोई स्त्री उसे जान सकती है, और तभी उसका जीवन धन्य हो सकता है।"

"क्या सन्तानोत्पत्ति ही के लिये स्त्री-पुरुष का संयुक्त रहना आवश्यक है?"

"नहीं, वह एक खास बात है। स्त्री पुरुष के संयोग का मुख्य कारण तो परस्पर की तुष्टि है। प्रत्येक पुरुष के सूक्ष्म और स्थूल शरीर के निर्माण में एक अभाव है। वह अभाव

जीवन को नीरस और शून्य बनाता है। स्त्री-पुरुष के मिलने पर ही वह अभाव पूर्ण होकर, जीवन सन्तुष्ट होता है। दीदी, तुम तो बालक नहीं तुम क्या वह अभाव अनुभव नहीं करतीं ?"

कमला कुछ देर चुप रही। सुधीन्द्र भी कुछ न बोले। धीरे-धीरे वृद्ध ब्राह्मण ने वहाँ आकर गद्‌गद् वाणी से कहा—"सुधीन्द्र, मैं तुम्हारी बातें सुन रहा हूँ। परन्तु सुनो, कुलीन कन्यायें यह कार्य नहीं कर सकतीं। धर्म-शास्त्र और लोकमत तथा आत्मा की आवाज़ बहुत बाधक है।"

"मैं दीदी से कह चुका हूँ, कि यह विषय तो हमारे जीवन की सबसे विकट समस्या का प्रश्न है। इसपर धर्म-शास्त्र के विचार देखना फ़ज़ूल है। परन्तु आप जब कहते हैं, तो मैं कहूँगा, कि धर्म शास्त्रों में इसका स्पष्ट विधान है।"

"कहाँ लिखा है ?"

"ऋग्वेद में एक सूक्त है, जिसका सायण ने यह भाष्य लिखा है—'.....जसे विधवा 'देवर' को, और अन्य स्त्रियाँ पति को अपने शयन-गृह में रखती हैं।' यहाँ देवर शब्द से द्वितीय पति का अभिप्राय है।"

"द्वितीय पति से देवर का अभिप्राय क्यों है ?"

"निरुक्तकार ने इसकी व्याख्या की है, कि "देवरः कस्मात् द्वितीय वर—इति उच्यते।"

"और भी कोई वेद-वाक्य है ?"

"है; अथर्ववेद में एक मन्त्र है, जिसमें 'वीरसूर्देवृकामा' पद आया है। यह मन्त्र विवाह के समय पढ़ा जाता है, जिसमें उसे आवश्यकता होने पर द्वितीय वर की आज्ञा दे दी गई है।

अथर्ववेद में एक मन्त्र और है, जिसका अभिप्राय यह है, कि हे स्त्री, इस मृतक के पास से उठ, अन्य जीवित के पास जा।"

"क्या स्मृतियाँ भी यही मत रखती हैं?"

"अवश्य; मनु कहते हैं—'जिसे पति ने त्याग दिया हो, या जिसका पति मर गया हो, वह फिर विवाह करके पुत्र पैदा कर सकती है।' याज्ञवल्क्य-स्मृति में भी लिखा है कि—'कुमारी या विधवा विवाह करने में स्वतन्त्र है। पाराशर स्मृति में लिखा है—'पति खो जाय, मर जाय, संन्यासी हो जाय, नपुंसक या पतित हो, तो स्त्रियाँ दूसरा विवाह कर सकती हैं।' बौद्धायन धर्म शास्त्र में भी लिखा है— अक्षत-योनि स्त्री का विवाह किया जा सकता है'।"

ब्राह्मण ने कहा—"परन्तु क्या प्राचीन काल में ऐसे विवाह हुए हैं?"

"बहुत से; 'पद्म-पुराण' में लिखा है कि प्राचीन काल में शङ्ख-द्वीप में एक राजा रहता था, उसकी एक रूप गुणवती सुन्दरी कन्या थी। उसका विवाह उसने एक राजकुमार से कर दिया, पर वह मर गया। राजा ने उसका पण्डितों की सम्मति से फिर विवाह कर दिया। वह पति भी मर गया! इस प्रकार उसके २१ विवाह हुए।

"महाभारत में लिखा है कि सुवर्ण ऐरावत ने नागराज की कन्या के पति को मार डाला था। नागराज ने उसका विवाह फिर यशस्वी अर्जुन से किया।

"ये उद हरण जो मैंने दिये हैं, बहुत साधारण हैं। प्राचीन इतिहास इनसे भरे पड़े हैं—यदि आप विचार करें। परन्तु

मेरा कहना तो यह है, कि इस सम्बन्ध में हमें स्वाधीनता से काम लेना चाहिये।"

ब्राह्मण ने कहा—'क्या कानून-सरकार इस विषय में कुछ नहीं कहती?"

"अँग्रेज़ी क़ानून में हिन्दू लॉ, विधवाओं के परम हितैषी पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के उद्योग से बना था। उसके आधार पर किसी भी उच्च कुल की हिन्दू-विधवा को विवाह करने की कोई रोक-टोक नहीं है। इस क़ानून का सार यह है—

'ब्रिटिश शासन में बहुत-सी हिन्दू-विधवायें फिर विवाह नहीं कर सकतीं, और उनकी यदि सन्तान होती है, तो वह नाजायज़ समझी जाती है।

'यह हिन्दू धर्म-शास्त्रों के प्रतिकूल है। इसलिये यदि कोई ऐसा विवाह करना चाहे, तो उसमें कोई क़ानूनी रोक नहीं है। इससे शान्ति और सदाचार की वृद्धि होने की आशा है।

'इसलिये हिन्दु-विधवाओं का कोई विवाह नाजायज़ न होगा। परन्तु मृत पति की जायदाद उसे न मिलेगी।"

इसके बाद कुछ देर के लिये बातचीत बन्द हो गई। पिता के आने पर कमला कुण्ठित हो गई थी। उसके पिता ने एक बार कुछ दिन पूर्व कमला से संकेत से उसके फिर विवाह करने की बात कही भी थी। आज उसे इसी विषय पर सुधीन्द्र से विवाद करते पिता ने देख लिया है,—यह जानकर ही कमला कुण्ठित हुई थी।

भोजन तैयार था। वृद्ध और सुधीन्द्र ने भोजन किया—सुधीन्द्र को ज्वर था। वे कुछ खा न सके। उन्होंने भोजन बनाने में भी प्रयास किया था, और बोलने में भी—इससे

उनकी तबियत और भी घबरा गई थी. पर वे आज जा रहे थे। इस प्रेमी और मधुर छोटे-से परिवार के साथ सहभोज का यह सुअवसर वे क्यों खो देते? उन्होंने बहुत चाहा कि कमला भी साथ ही भोजन करे. पर उसने स्वीकार न किया। वह परसती रही। दोनों ने चुपचाप भोजन किया।

भोजन करके वृद्ध बाहर चले गये। सुधीन्द्र ने कहा—"दीदी, तुम भी मेरे सामने खालो तो मैं जाऊँ। कमला के टप-टप आँसू टपक पड़े—वह बैठ गई। सुधीन्द्र ने उसे भोजन स्वयं परोस दिया—वह मीठी-मीठी गप्प उड़ाने लगे। कमला चुपचाप खाने लगी।

भोजन समाप्त कर कमला ने कहा—

"फिर कभी आओगे?"

"यदि जीवित रहा।"

"तुम जीवित रहोगे।" कमला ने मुस्करा दिया।

"तुम्हारा यह आशीर्वाद सत्य हो।" सुधीन्द्र ने झुककर कमला के पैर छूना चाहे। कमला पीछे हटकर रोने लगी।

सुधीन्द्र ने साहसपूर्वक कहा—

"दीदी, रोना नहीं।"

कमला ने आँसू पोंछे। सुधीन्द्र ने कहा—

"ज़रा हँसोगी नहीं?"

कमला हँस दी।

सुधीन्द्र जिस बनावटी साहस से काम ले रहे थे—वह कमला के इस त्यागपूर्ण हास्य से कहीं विलीयमान् हो गया। सुधीन्द्र तब पीठ फेरकर चल दिये। उन्होंने फिर लौटकर नहीं देखा। कमला सब जड़वत् खड़ी देखती रही।

———

१९

सुधीन्द्र जब वहाँ से चले, उस समय उनकी हालत बहुत ख़राब हो रही थी। ज्वर ख़ूब तेज़ था, और सिर दर्द के मारे फटा पड़ता था। वे ख़ूब साहस करके चल दिये थे। कमला के प्रति एक विचित्र भाव उनके हृदय में उत्पन्न हो गया था। वह क्या था, यह हम नहीं कह सकते, परन्तु वह अपवित्र तो नहीं था। कमला के मन की दुर्बलता भी वे समझ गये थे। कमला के सामने स्त्रियों के पुनर्विवाह की चर्चा छेड़कर जो आग इन्होंने सुलगायी थी, उसे याद करके भी वे विकल हो रहे थे। कमला के सामने एक क्षण भी रहना वे अब ख़तरनाक समझते थे। वे इसी से चुपचाप इस अवस्था में चले आये।

स्टेशन वहाँ से चार पाँच मील के अन्तर पर था। उस समय धूप ख़ूब तेज, गर्मी भी ख़ूब थी। सुधीन्द्र बदहवास की भाँति चले जा रहे थे, आँखों से आग की चिनगारियाँ निकल रही थीं। जैसे तैसे करके स्टेशन पर पहुँचे। वहाँ पानी पीने की इच्छा से वे कुएँ की तरफ गये। देहात का छोटा-सा स्टेशन था, कुएँ पर कोई आदमी न था—डोल-रस्सी भी न थी—वे कुएँ के पास उसके चबूतरे का सहारा लगाकर पड़ गये, पड़ते ही वे बदहवास होगए। वे दिन भर उसी भाँति धूप में पड़े रहे। बेसुधी की हालत में उन्होंने कई बार सुना कि कुएँ पर कोई पानी भर रहा है, पर वे पुकार न सके।

सन्ध्या हो गई। एक रेल का खलासी उधर से निकला। बूढ़ा आदमी था, उसने देखा, कोई आदमी बदहवास जमीन

पर पड़ा है। उसने उन्हें देखा—बहुत चिल्लाने-उल्लाने पर सुधीन्द्र ने आँखें खोलीं—और इशारे से पानी माँगा। पानी पीने पर उनमें बोलने की कुछ शक्ति आई। वे अपनी अवस्था पर भी विचार कर सके। उनकी दशा देख,खलासी एक साथी के साथ सहारा देकर उन्हें पास की धर्मशाला में लेगया। धर्मशाला कच्ची तथा बेमरम्मत हो रही थी, एक टूटी हुई कोठरी में एक पुरानी खटिया पर सुधीन्द्र बदहवास पड़ गये। वही खलासी बीच-बीच में उन्हें देख जाता था। एक मिट्टी के घड़े में उनके लिये पानी रख दिया गया था—पर उन्हें पिछले तीन दिनों से उसमें से पानी पीने की सुध तक न थी। खलासी ने एक बार उनसे उनके घर का पता पूछा था। खत लिखने को भी कहा था, पर सुधीन्द्र ने उन्हें कुछ बताया नहीं। इसके बाद तो वे बिलकुल बदहवास होगये।

कई दिन बाद उन्होंने कुछ-कुछ होश में आकर देखा—एक संन्यासी उन्हें दवा खिला रहे हैं। संन्यासी युवा थे। वे भगवे वस्त्र के ऊपर केनविस का बूट डाटे थे—नाक पर सोने की कमानी का चश्मा चढ़ाए थे। उनके भगवे रँग की कमीज की जेब में एक फाउन्टेन पेन भी था। उनके बाल काले-काले घूँघर-वाले और खूब बड़े-बड़े तथा सुन्दर थे। उनके आगे एक सुन्दर चमड़े का बेग खुला था, जिसमें होमियोपैथी दवा की छोटी-छोटी शीशियाँ थीं। उन्हीं में से वे सुधीन्द्र को दवा दे रहे थे।

सुधीन्द्र ने तनिक ध्यान से उनकी तरफ देखा—संन्यासी का रँग श्याम वर्ण था। आँखें खूब गहरी काली और चमकीली थीं—मुख पतला और कुछ लम्बा था। क़द भी ज़रा लम्बा था।

उन्होंने दवा सुधीन्द्र के मुख में डालकर अंग्रेजी भाषा में कहा—"अब कुछ अच्छे मालूम होते हो न ?"

सुधीन्द्र ने लड़खड़ाती जबान से हिन्दी भाषा में कहा—

"मालूम तो होता है,क्या आप ही की कृपा का यह फल है ?"

उन्होंने अँग्रेजी में कहा—

"कृपा ईश्वर की है, परन्तु हम तीन दिन से तुम्हारी सुश्रूषा कर रहे हैं। हम अचानक इधर आ पड़े—उड़ीसा जाना था, आपको इस हालत में देखकर विवश रुकना पड़ा।"

सुधीन्द्र ने अँग्रेजी भाषा में कहा—

"मैं आपका अत्यन्त आभारी हूँ, आपको बहुत कष्ट हुआ।"

इतने में संन्यासी का साथी दूध गर्म कर लाया। संन्यासी ने सुधीन्द्र को धीरे-धीरे दूध पिलाना आरम्भ किया। सुधीन्द्र चुपचाप दूध पीने लगे। दूध पीने पर उन्हें कुछ बल प्रतीत हुआ। उन्होंने बैठने की इच्छा प्रकट की। संन्यासी ने सहारा देकर उन्हें बैठा दिया।

संन्यासी के नेत्रों में कुछ विचित्रता थी। सुधीन्द्र टकटकी बाँधकर उन्हें देखने लगे। संन्यासी ने हँसकर कहा—

"इस तरह क्या देख रहे हैं ?"

"आप साधारण संन्यासी नहीं दीख पड़ते।"

"यह तो स्पष्ट ही है।"

"आप कहाँ से आ रहे हैं ?"

संन्यासी ने ज़रा हिचकिचाकर कहा—"पंजाब से। किन्तु आप अभी बातचीत न कीजिये—थोड़ा विश्राम कीजिये।" उन्होंने सुधीन्द्र को लेटा दिया। अब उन्होंने देखा, कि उनके

नीचे संन्यासी का कम्बल भी बिछा है। सुधीन्द्र चुपचाप लेट गये, इसके बाद ही उन्हें नींद आ गई। वे सो गये।

एक-दो दिन में ही सुधीन्द्र चङ्गे हो गये। ज्वर बिल्कुल न था। संन्यासी और उनके साथी बड़े यत्न से उनकी सुश्रूषा कर रहे थे। संन्यासी किसी से कुछ माँगते न थे, खर्च भी खुले हाथों करते थे। जब जितने पैसे दर्कार होते—उनके चमड़े के मनीबेग से निकल आते थे। एक दिन प्रातःकाल का समय था। संन्यासी सुधीन्द्र के पास बैठे थे। बातचीत अँग्रेज़ी में चल रही थी। सुधीन्द्र ने हँसकर कहा—

"तब आप कोरे संन्यासी नहीं, और भी कुछ हैं।"

"और भी नहीं, और ही कुछ हैं।"

"क्या मैं जान सकता हूँ, कि आप क्या हैं?"

"यही मैं कई दिन से सोच रहा हूँ, कि अब मेरी तुम्हारे पास रहने की आवश्यकता तो रही नहीं। मैं अब चल दूँ, या तुम्हें बताऊँ कि, मैं क्या कहूँ।"

"यदि आप विश्वास कर सकें, तो अवश्य बताइये।"

संन्यासी कुछ ठहरकर बोले—

"मेरी इच्छा है कि विश्वास करूँ। तुम्हारे नेत्रों में वह तेज, और होठों में वह दृढ़ता मैं देख रहा हूँ, जो किसी भी विश्वसनीय आदमी में होनी चाहिये। अच्छा कहो—तुम देश को प्यार करते हो?"

"अपने प्राणों से भी अधिक।"

"सिर्फ़ प्राणों से ही?"

"लोक-परलोक से भी अधिक" सुधीन्द्र उत्तेजित हो गये।

संन्यासी के चेहरे पर प्रसन्नता की चमक आई। उन्होंने मर्मवेधिनी दृष्टि से घूरकर सुधीन्द्र को देखा। फिर कहा—

"क्या तुमने कभी देश के लिये कुछ किया है ?"

"कुछ भी नहीं।"

"क्यों ?"

"क्या करूँ, कुछ सूझता ही नहीं। असहयोग के समय में मैंने नौकरी छोड़ दी थी। असहयोग और सत्याग्रह के युद्ध की सफलता का रहस्य मैं समझा नहीं। मैं कदाचित् उतना वीर नहीं कि दूसरों की चोट चुपचाप सह लूँ। मुझे जेल से बहुत घृणा है—मैं जेल नहीं जाना चाहता।"

'जेल से डरते हो—पर अभी तुमने कहा—कि तुम प्राण से अधिक देश को चाहते हो।"

"हाँ मैं प्राण दे सकता हूँ। जेल में प्राण तो नहीं जाते, आत्मा बन्दी होती है। अपमान और बेगैरती का जीवन मैं सहन नहीं कर सकता।"

संन्यासी की आँखें फूल गईं। उन्होंने कहा—"तुम प्राण दे सकते हो ?"

"अवश्य, प्रत्येक वस्तु का एक मूल्य है। मेरे प्राणों का भी है। वह मूल्य मिलते ही मैं क्षण-भर में प्राणों को दे दूंगा।"

"और वह मूल्य क्या है ?"

"आत्म तुष्टि, केवल आत्म-तुष्टि के लिये ही मैं प्राण दे सकता हूँ।"

संन्यासी जरा चिन्तित हुये। उन्होंने दूर क्षितिज पर अपनी दृष्टि जमाकर कहा—"आत्म-तुष्टि का तो कोई माप ही नहीं है।"

सुधीन्द्र जल्दी से बोल उठे—

"माप है, वह शिक्षा और ध्येय की विचार-परम्परा से

उत्पन्न होता है। जिनकी आत्मा संस्कृत है, उनकी आत्म तुष्टि का विषय कभी भी व्यक्तिगत नहीं हो सकता। वह उच्च, त्याग-पूर्ण और सार्वजनिक होगा।"

"निस्सन्देह!" संन्यासी प्रसन्न होकर बोले—"परन्तु याद रखो, देश भक्ति भी एक स्वार्थ है, वह केवल छोटे से जरा बड़ा है।"

"मैं मानता हूँ, और इतना स्वार्थी होने में मुझे तनिक भी लज्जा नहीं प्रतीत होती।"

"तब क्या तुम देश के लिये कुछ किया चाहते हो?"

"यदि वह काम मेरी आत्म-तुष्टि के अनुकूल हो।"

"यह तुम्हें कभी प्रतीत होजायगा। अच्छा कहो—क्या मातृ-भूमि को दलित और विदेशी राज्य के पैरों में कुचली देखकर तुम्हारी छाती नहीं फटती?"

"फटती तो है।"

"तब इसके लिये कुछ करते क्यों नहीं?"

"मुझे कुछ मार्ग नहीं दीखता। मैं देखता हूँ—यह लोह-पुरुषों का काम है—जो लोहे का शरीर, लोहे की आत्मा, लोहे की ज़बान, और लोहे का हाथ-पैर रखते हों। मैं तो अपने को वैसा नहीं पाता। मुझे चारो ओर अन्धकार ही अन्धकार दीखता है। मैं अपने देश के उद्धार के मार्ग में प्रकाश की एक कोर भी नहीं देख पाता। मैं हताश हूँ, मैं समझ ही नहीं पाता, कि क्या करने से देश का उद्धार होगा।"

"हम लोगों ने इसपर कुछ दूसरी ही दृष्टिकोण से विचार किया है। हम प्रतिक्रिया से देश में आतंक उत्पन्न किया चाहते हैं, हमारा संगठन बहुत मज़बूत है। परन्तु उसमें आप-जैसे

तेजस्वी-मेधावी युवकों की जरूरत है" इतना कहकर संन्यासी कठोर दृष्टि से सुधीन्द्र को देखने लगे। वे सोच रहे थे—अपना भेद इसप्रकार खोल देना क्या ठीक हुआ?

सुधीन्द्र ने गम्भीर होकर कहा—"आप कौन हैं, यह समझ गया था परन्तु शोक है, कि आप से सहमत नहीं हो सकता"

"क्यों?" संन्यासी और भी कठोर दृष्टि से सुधीन्द्र को घूरकर देखने लगे।

सुधीन्द्र ने संयत स्वर में कहा—

"आप लोगों के कार्य-क्रम में दो बातों की सिद्धान्त-सम्बन्धी भारी त्रुटियाँ हैं। एक त्रुटि तो यह है, कि आपके सगठन की प्रतिक्रियायें गुप्त हैं—इससे आप सर्व-साधारण की रू कल सहायता तथा अनुकूलता नहीं प्राप्त कर सकते। दूसरी आपका ध्येय गुप्त हत्यायें हैं। मेरा मत इससे विपरीत है। मैं खुली क्रान्ति का पक्षपाती हूँ।"

"खुली क्रान्ति ही तो महात्मा गान्धी का मत है, वही न?"—युवक सन्यासी ने विरक्ति से होठ सिकोड़कर कहा—"परन्तु यदि तुम विचार करो तो देखोगे कि आज देश के बाहर और भीतर देश के उत्कृष्ट पुत्र बहुत कुछ करते फिर रहे हैं। वे दिन अब चले गये, जब कि अंग्रेज का मुँह देखते ही भय से कँपकँपी छूटती थी। आज देश निर्भय होरहा है। देश, जेल और फाँसी हँसते-हँसते सहन कर रहा है। महात्माजी इन्हें अज्ञान और गुमराह बताते हैं। परन्तु मैं कहूँगा, देश की भीरुता कम करने का श्रेय तो इन्हीं गुमराहों और अज्ञानी जनों को है। आप जैसे युवकों को उनसे सहानभूति तक नहीं।"

सुधीन्द्र ने मृदु स्वर में कहा—"आपकी बातें सत्य हो सकती हैं, यह मैं स्वीकार करता हूँ,—परन्तु केवल सहानभूति से ही कुछ नहीं होता। मेरे मन में प्रत्येक उस देश के सपूत के लिये प्यार है, जो देश के लिये जूझ रहा हो। परन्तु—उसमें अज्ञान और भ्रम हो सकता है। इसपर गम्भीरता से विचार करने की जरूरत है।"

सुधीन्द्र ने कहा—

"मैं इस बात पर प्रकाश डालना चाहता हूं, इस प्रकार के षड्यन्त्र और व्यक्तिगत खून-खराबियों से जनता क्योंकर सहयोग करेगी? उसका इससे भला ही क्या होगा?"

"क्या अन्य देशों में ऐसा नहीं हुआ है?"

"हुआ है, परन्तु राजनीति अनुकरण की वस्तु नहीं, देश-काल को देखकर राजनीति कायम करनी चाहिये।"

"फिर भी आदर्श राजनीति की रीढ़ की हड्डी है।"

"इसमें किसे इन्कार है, परन्तु आदर्श तो हमारे गौण नहीं,—एक सार्वजनिक स्वाधीनता तो हमारा आदर्श है।"

"और वह स्वाधीनता आतङ्कवाद से ही प्राप्त हो सकती है?"

"मेरा यह विश्वास नहीं, स्वाधीनता-प्राप्ति के लिये राष्ट्र का संगठन चाहिये।"

"आपका मतलब क्या है?"

"यह, कि आज भारत कोई राष्ट्र नहीं है, भिन्न-भिन्न जाति और सम्प्रदाय के लोग नगण्य बातों पर मतभेद रखते हैं। आज यदि हम ग्रेट-ब्रिटेन से स्वाधीनता प्राप्त कर भी लें, तो भी वह कायम न रहेगी। लोग बहते हैं—हम परस्पर निपट

लेंगे परन्तु मैं यह नहीं समझ सकता। मेरी राय में अभी हमें ग्रट-ब्रिटेन से लड़ने की अपेक्षा, अपने-आप ही से लड़ने की ज़रूरत है। हमारे घर में ६॥ करोड़ अछूत कुत्तों से भी बदतर जी रहे हैं। क्या आप इन ६॥ करोड़ मर्द-बच्चों की कोई क़ीमत ही नहीं समझते? ७ करोड़ मुसलमान हैं, जिनका मुँह दिन में पाँच बार काबे की तरफ होता है, और जो आपने देश के हिन्दू की बनिस्बत अरब के मुसल्मान के ज्यादा निकट हैं। २॥ करोड़ विधवाएँ हैं, जिनके रहते पाप और शोक हमारे घरों में से नहीं जा सकता। ब्राह्मण हैं, जो हमें उन्नत नहीं होने देते, युग-धर्म का हमें अनुसरण नहीं करने देते। जो स्वयं पतित हैं, पर सर्वश्रेष्ठ होने का जो अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझते हैं, भले ही वे मूर्ख, लम्पट, चोर, ज्वारी, पाखण्डी, धूर्त, छली, हत्यारे क्यों न हों। क्षत्रिय हैं, जो पशुओं की भाँति अपने हीरा-मोती से जड़े वस्त्रों की चमक में अच्छे हो रहे हैं, गरीबों के खून चूसने का जिनका पुराना पेशा है। वैश्य हैं, जिन्होंने सूदखोरी पर कमर कमकर अपनी सूरत और भी मनहूस बना ली है। आप समझते हैं, इन सब को लेकर आप देश में वह क्रान्ति कर सकते हैं, जो राज्यसत्ताओं का तख्ता पलट सकती है? कहिए?

सन्यासी विचलित हुए। कहने लगे—"मैं स्वीकार करता हूँ, कि हिन्दू-समाज का संगठन बहुत छिन्न-भिन्न है, और उसके नवीन निर्माण की बहुत जरूरत है। मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि यह कार्य बहुत दुस्साध्य है, पर हमें यह न भूलना चाहिये, कि जब तक विदेशी शासन-तन्त्र

जो भेद-नीति से परस्पर विरोधी भावों को जाग्रत करते रहकर ही शासन करने में सफल हैं, तब हमारा यह सर्व-प्रथम कर्त्तव्य हो जाता है कि हम उस शासन की जड़ को उखाड़ फेंकें।

"यह सच है, पर शासन-तन्त्र की जड़ को उखाड़ने की शक्ति चाहिए। वह शक्ति संगठन-हीन छिन्न भिन्न और दिमागी गुलामी में ग्रसित राष्ट्र के पास नहीं हो सकती; शासन-तन्त्र को उखाड़ने के लिये राष्ट्र बहुत शक्ति खर्च करनी पड़ती है।

"हाँ, ठीक है, पर वह शक्ति भारतीय राष्ट्र उत्पन्न कर रहा है।"

'आतंकवाद द्वारा नहीं; इसका श्रेय महात्मा गाँधी को है। जो राजनीति भारत के चुने हुए उच्च-कोटि के वकीलों की जबाँदराजी का विषय था, आज वह घर-घर किसानों की चर्चा का विषय बन गई। यह महात्मा गाँधी का प्रताप है। महात्मा ने देश को जगाया है—देश अपने दर्द से वाकिफ हुआ है। उस दर्द को दूर करने में उसे समय लगेगा।"

संन्यासी कुछ देर मौन रहे। उन्होंने कुछ धीमे स्वर में कहा—

"जो हो, मैंने चाहा था, मैं तुम्हें इस पवित्र यज्ञ में सम्मिलित करूँगा। पर देखता हूँ, तुम्हारे विचार दूसरी धारा पर हैं। अस्तु मुझे वचन दो, हमारी जो बातें हुई हैं, गोपनीय रखेंगे।"

"प्राण रहते। आप मेरे प्राण-पालक हैं—यह मैं नहीं भूल सकता।"

कुछ देर और बात-चीत करके सन्यासी चल दिये। सुधीन्द्र कुछ देर चुपचाप उनके विषय में सोचते रहे। फिर वे भी धीरे-धीरे धर्मशाला से निकलकर निकट के गाँव की ओर चल दिये। इस समय काफी धूप चढ़ गई थी।

———

२०

वैसाख बीत रहा था। गेहूँ की अन्तिम कटाई होरही थी। गाँव के स्त्री-पुरुष-बालक सब खलिहान में एकत्रित थे। राच्छ अन्न की राशि एक ओर पड़ी थी, भूसा दूसरी ओर इकट्ठा होरहा था। एक कोने में कण्डे सुलग रहे थे। आम के पेड़ के नीचे दो चारपाइयाँ पड़ी थीं। वहाँ एक कुत्ता चुपचाप सो रहा था। सुधीन्द्र ने वहां पहुँचकर एक किसान से कहा—

"कुछ खाने को दोगे ?"

किसान ने सुधीन्द्र को देखा—उनके बाल बढ़े हुए थे, कपड़े मैले थे—आँखें भीतर गढ़े में धँसी थीं चेहरा फीका होरहा था। जूते भी बहुत गन्दे हो रहे थे। एक युवा किसान दाँय चला रहा था, बोला—"कौन हो तुम ?"

दूसरे ने, जो जरा बूढ़ा था, कहा—"कोई हो, बेचारा भूखा है। उसे कुछ देना चाहिये।" उसकी स्त्री ने आकर कहा—"वहाँ खाट पर बैठ जाओ, थोड़ी देर में तुम्हें खाना मिल जायगा।"

सुधीन्द्र बैठ गये। बच्चे उनके इर्द-गिर्द इकट्ठे होगये। सभी मैले और नङ्गे थे। उनकी आँखों में कीचड़ भरी थी,

नाक बह रही थी, पेट निकले हुए थे, दाँत मैले थे। सभी रोगी और दुबले-पतले थे।

सुधीन्द्र ने एक बालक को निकट बुलाकर उसकी पीठ पर हाथ फेरकर कहा—"तुम्हारा नाम क्या है, भैया?"

बालक इस प्यार और आदर को समझा नहीं। वह हँसकर भाग गया। सुधीन्द्र फिर किसी बालक से बोले नहीं। वे चुचचाप उन भाग्य-हीन बच्चों को देखकर कुछ सोचने लगे।

एक नवजवान बालक धूप में नंगा घास पर खड़ा था। वह जोर जोर से रोने लगा। सुधीन्द्र का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हुआ। उन्होंने एक पास खड़े बालक से पूछा—"यह किसका बालक है? इसकी माँ से कहो—इसे धूप में से उठाकर दूध पिला दे।"

बालक ने उँगली से संकेत करके बताया, कि उसकी माँ वहाँ उस खेत में काम कर रही है। सुधीन्द्र ने देखा, कि उस चमचमाती धूप में वह कछना कसे, अभी गट्ठर पीठपर लिये आ रही है। सुधीन्द्र ने एक बार फिर बालक को देखा, और उठाकर उसे गोद में बैठा लिया। सुधीन्द्र के इस व्यवहार से सब बच्चे जैसे उनसे और भी परच गये। वे अब चारों तरफ से घेरकर और भी निकट खड़े होगये। सुधीन्द्र बच्चे को छाती से लगाकर प्यार करने लगे। किसान की स्त्रियों ने देखा—वे प्रेम और कौतुक-भरी दृष्टि से सुधीन्द्र का यह व्यवहार देखने लगे। धीरे-धीरे सुधीन्द्र बच्चों से बहुत सी बातें कर गये। सभी बच्चे उनकी चारपाई पर बैठ, उनकी बातें सुन रहे थे।

भोजन का समय हुआ। सभी स्त्री-पुरुष उस वृक्ष के नीचे आ जुटे। सुधीन्द्र खाट से उतरकर नीचे आ बैठे। वह बालक उनकी गोद में सोया था। उसकी माँ ने कृतज्ञ दृष्टि से सुधीन्द्र को देखा और बालक को गोद में ले लिया। सुधीन्द्र ने हँसकर कहा—"ऐसे सुन्दर बच्चे को घास पर लिटाकर तुम काम पर चली गई। बच्चा भूखा रो रहा था।"

स्त्री ने कहा—"बच्चे को लिये रहें तो काम कैसे चले? हम लोग मजदूर आदमी ठहरे।"

"यह तो ठीक है, पर बच्चे को भी तो समय पर खिलाना-पिलाना जरूरी है।"

एक किसान बोला—"जरूरी तो सब कुछ है, पर हमारे बच्चे यदि शुरू ही से इस तरह न पाले जावें, तो फिर वे मजबूत कैसे बनेंगे? तुम जानते हो कि धूप-मेह में हमें दिन-दिन भर काम करना पड़ता है।"

सुधीन्द्र ने कहा— काम तो करना पड़ता ही है। पर देखो, यदि सब काम करने का समय बाँट लिया जाय, बच्चों के लिये पालना रख दिया जाय, या सब बच्चों की हिफाजत को बारी बारी से एक स्त्री कुछ देर उनके पास रहे, तो इस तरह काम में भी हर्ज न होगा—बच्चे भी आराम से रहेंगे।"

एक स्त्री ने कहा—पराये बच्चों की ममता किसे होती है? अपने-अपनों को सब रख सकते है।"

"इसमें ममता की क्या बात है, ममता तो बच्चों से सभी को है। यह तो परस्पर के सहयोग के भाव हैं। आप सब लोग मिलकर एक दूसरे की मदद प्रेम से करो, तो सब बातें ठीक-ठीक होती चली जायेंगी।"

एक बूढ़े किसान ने कहा—

"तुम बाबू लोगों में रहे मालूम होते हो, तभी ऐसा करते हो। हमलोग दिन भर मेहनत-मजदूरी करते हैं—तब चार-छै पैसे हमें आमदनी होती है। उसी में गुजारा करना पड़ता है। किसान का काम कितना कड़ा है, यह सब लोग नहीं जानते—जो जानते है, वही समझ सकते हैं।"

सुधीन्द्र ने गम्भीरतापूर्वक कहा—

"भाइयो, यह तो सच है कि मेरा किसान भाइयों में रहने का बहुत कम अवसर हुआ है, पर मैं उनके दुःख-दर्द को खूब जानता हूँ, उनके प्रति आदर और श्रद्धा भी रखता हूँ। शायद तुमलोगों को तो अपनी हालत का ज्ञान भी नहीं; क्योंकि तुम लोग पढ़ते-लिखते नहीं। पर जो लोग पढ़ते-लिखते हैं, वे भारतीय किसानों के दुःख भली भाँति जानते हैं।" इसके बाद कुछ चुप रहकर वे बोले—

"तमाम ब्रिटिश-भारत में २२ करोड़ किसान हैं। जिनमें ८० फ़ीसदी हिन्दू हैं, ये ३९ करोड़ एकड़ भूमि को प्रति वर्ष जोतते-बोते हैं। जो पदार्थ इस जमीन में ये किसान उत्पन्न करते हैं, उनका मूल्य १५०० करोड़ रुपया है। जिसका औसत फी आदमी ६८) रुपये से कुछ अधिक पड़ता है।

"यह १५०० करोड़ (?!) रुपया—यानी १५ अरब रुपया प्रति वर्ष धरती माता की गोद से बाहर निकालनेवाले २३ करोड़ मनुष्य किसप्रकार जी रहे हैं, इस भयानक और हृदय-विदारक मामले पर अब देशके नेता विचार कर रहे हैं।

एक विद्वान् का कथन है कि:—

"जो देश केवल साधारण खेती में लगे रहते हैं, उनमें

मन की मन्दता, शरीर का भद्दापन, पुराने अन्ध-विश्वासों और रीति-रिवाजों पर प्रेम, सभ्यता, वैभव और समृद्धि का तथा स्वतन्त्रता का अभाव पाया जाता है। दूसरी ओर जो देश व्यापार में लगे हैं—उनमें मानसिक और शारीरिक गुणों की उन्नति के, निरंतर उद्योगी बने रहने के, मुकाबिला करने के, और स्वतन्त्रता के भाव पाये जाते हैं।

"आप लोगों से यह छिपा नहीं है कि ये महान् वीर किसान जो १५ अरब (?) रुपया प्रति वर्ष पैदा करते हैं—सब अलग-अलग गावों से रहते है। तमाम ब्रिटिश भारत में ८ लाख गाँव हैं। इनमें उपरोक्त २३ करोड़ किसानों के साथ ५ करोड़ उपजीवी, कुल मिलाकर २८ करोड़ मनुष्य रहते हैं। शेष तीन करोड़ स्त्री-पुरुष कस्बा-शहरों और नगरों में रहते है। ब्रिटिश-भारत में २२ हजार कस्बे, शहर और २ लाख और उससे अधिक की आबादी के शहर १० हैं। एक लाख से २ लाख तक के ७७ शहर हैं। इन्हीं में उपरोक्त ३ करोड़ मनुष्यों का निवास है।

"अब गावों की दशा पर गौर करिये—क्या भारत का ऐसा भी कोई पुरुष है, जो गाँवों की दुर्दशा से नावाकिफ हो, सरकार जहाँ नगरों और शहरों की स्वास्थ्य-रक्षा के लिये अनेकों उद्योग करती और करोड़ों रुपया खर्च करती है— वहाँ इन गाँवों की तरफ उसका रत्ती भर भी खयाल नहीं है। फलतः खुली हवा का स्वाभाविक सुयोग पाकर भी ये अभागे रोगी, कुरूप और महामारियों के शिकार बने रहते है। उनकी इतनी बड़ी आय लगभग तीस प्रति सैकड़ा सरकार, तीस प्रति सैकड़ा सूदखोर बनिये और तीस प्रति सैकड़ा जमींदार के पापिष्ट पेट में चली जाती है।

"हैजा, प्लेग, मलेरिया और चेचक आपके घरों में घर किये सदा विराजमान रहते हैं। और इनसे बचने का का आप के पास कोई उपाय—कोई प्रतिकार नहीं है। आपको लोट-पीटकर—मरना होता है तो मरते हैं, जीना होता है—तो जीते हैं।

"किसी भी गाँव में हम जायें—बिलकुल घर की दीवारों से मिला हुआ, मैले और सड़े हुए पानी का गढ़ा हमें दीख पड़ेगा। बरसात में यह खूब बड़ा हो जाता है, और रास्ता बन्द कर लेता है। कभी कभी बरसात में गलियों और दर्वाजों तक में कमर-कमर भर पानी चढ़ आता है। इन बेचारे स्त्री-पुरुषोंको महीनों तक खड़े-खड़े ही शौच क्रिया करनी पड़ती है।

"गाँव में घुसकर देखते हैं—मैले, टूटे-फूटे, कच्चे, बेडौल, बिना सरो-सामान छोटे-छोटे घेरे. एक तरफ छप्पर, उसी में एक कोने में चूल्हा है, दूसरे में सोने के गूदड़े, सामने पशु बँधे हैं। गोबर-पिशाब का बीच में ढेर लगा है। स्त्री, बच्चे, पुरुष, बूढ़े, जवान—सभी कुछ-न-कुछ जीवन के उद्योग में लगे हैं। घर में यदि दूध का पशु है, तो वह बनिये से रुपया उधार लेकर लिया गया है। उसका रत्ती रत्ती दूध जमा करके घी उसकी दूकान पर जाता है। सिर्फ छाछ पीने को मिल जाती है। सारी फ़सल बनिये के घर सीधी जाती है। साल भर के खाने को मोटा अन्न और कपड़े बराबर उसी से उधार आते रहे हैं। रात को कोई विनोद नहीं, कोई जीवन नहीं, चुपचाप पड़े-पड़े हुक्का पिये जाना. प्रातःकाल अँधेरे में उठकर हल-बैल कन्धे पर रखकर खेत में जा पिलना. धरती की छाती में ८ अंगुल गहरी जुताई करनी,कड़ी धूप या भयानक वर्षा उसमें बाधा नहीं डाल सकती। कभी-कभी घुटनों-घुटनों पानी में

१६-१६ घण्टे तक खड़े होकर निराई करना।

"ऐसी भयानक मेहनत और ऐसे निकृष्ट पोषण तत्व से रहित अन्न खाकर क्या कोई भी मनुष्य सुंदर-बलवान या मनुष्य ही बना रह सकता है?

"आपके बाग अलग-अलग बसे होते हैं। इनके निवासियों को बन, पर्वत, घाटी और मैदानों में जीवन ब्यतीत करना पड़ता है। आप गाँव से बाहर नहीं जाते, बाहर की बात नहीं जानते—नहीं समझते। आप अपने पैत्रिक खेतों में जोंक की तरह चिमटे रहते हैं। फुरसत में दिन-रात काहिल की तरह सोते हैं। उत्साह, साहस, नवीनता, ज्ञान, वीरता आप में कहाँ से आवे? न्याय, शासन, अधिकार की गूढ़ बातें आप कैसे समझें?"

इसी बीच में सुधीन्द्र के चारों ओर बहुत से आदमियों की भीड़ लग गई थी। लोग बड़ी दिलचस्पी से सुधीन्द्र की ओजमयी भाषा में अपनी दुर्दशा का हाल सुन रहे थे। उन्होंने उन्हें पहले एक भिखमंगा समझा था। अब वे समझे, कि यह कोई खास आदमी है। उनमें से एक किसान जरा पढ़ा-लिखा था। यह नवयुवक था, और अखबार प्रायः पढ़ता रहता था। उसने कहा—

"यह तो आप ठीक कहते हैं,पर ताल्लुकेदार और जमींदार ही चाहें, तो किसानों की दशा को सुधार सकते हैं। जब वे स्वयं कुछ नहीं करते, तब किसान बेचारे क्या करें? आखिर वे भी तो किसान ही हैं। खेती की उपज ही उनका धन है।"

सुधीन्द्र ने उस युवक के प्रति दृष्टि-निक्षेप करके कहा—"नहीं, ताल्लुकेदार और जमींदारों को किसान कहना तो

अन्याय होगा। ये तो सरकार और किसानों के बीच भयानक कमीशन एजेण्ट हैं। इनका काम तो लात-जूते लगाकर किसानों से लगान वसूल करना है। सरकार मालगुजारी वसूल करने में कानून की पाबन्द है। वसूल न होने पर वह बाकायदा कुर्की लाती है। बन्द मकान कुर्क नहीं हो सकते, रातको भी कुर्की नहीं हो सकती। परन्तु इन लोगों का क़ैसा कानून? नादिरशाही की जीती जागती प्रथा जमींदारों की है। क्या तुम नहीं जानते, कि प्रायः बड़े बड़े जमींदार ताल्लुकेदारों के यहाँ भंगी रहते है, और वे सिर्फ़ मालिक के हुक्म से चाहे भी जिसको जूतियाँ मारा करते हैं। पकड़कर बन्द कर देना, जूतियाँ लगवाना, मूँछें उखड़वाना साधारण बातें हैं। मुँह में पेशाब करना और पेड़ पर नंगा करके लटकाने तक की सजायें हमने अपनी आँखों से देखी हैं!!!"

सुधीन्द्र की आँखों में पानी भर आया, और उसकी वाणी गद्‌गद् हो गई। सभी लोग उनसे प्रभावित हुए। वे स्नेह की दृष्टि से सुधीन्द्र को देखने लगे। उसी युवक ने कहा—"तब सरकार को कुछ करना चाहिये। वह चाहे तो बहुत कुछ किसानों का भला कर सकती है। सुना है, कि सरकार कुछ न कुछ कर रही है। उसने बहुत से औजार बनाये हैं। बिजली किसानों को दे रही है, खेती का काम सिखाने को स्कूल और मॉडल फार्म खोले हैं।"

सुधीन्द्र ने उत्तेजित स्वर में कहा—"सरकार की क्या पूछते हो? इन १५ अरब रुपयों में से लगभग ४॥ अरब रुपये मिलते हैं, पर सरकार इन अभागे भाइयों के लिये कुल २४ लाख रुपये खर्च कर रही है। इससे किसानों को कुछ चुने हुए बीज, कुछ नये-नये खाद्य, कुछ बिलायती ढंग के हल और

औजार आदि देनेके सिवा और कुछ भी किसानोंका भला नहीं हो रहा । यह सरकार की सच्ची सहायता नहीं कही जा सकती । क्या आप जानते हैं कि गैर देशों की सरकारें अपने देश के किसानों की कितनी सहायता कर रही है । आप सिर्फ ऑस्ट्रेलिया और अमेरिका की ही बात लीजिये । वहाँ किसानों की सहायता के लिए दर्जनों विभाग खुले हुए हैं, जो खेती, फल और तरकारी की उपज, दूध घी आदि की पैदावार, पशु-पालन आदि सम्बन्धी व्यवस्थायें ठीक-ठीक रखते हैं । वहाँ यह बात भी जाँच ली गई है, कि किस भूमि में कौन तत्व अधिक है । कहां नाइट्रोजन, पोटेशियम, सोडियम, क्लोरीन, चूना, नमक और फास्फेट हैं । ये ही पदार्थ पौधों के भोजन हैं । कोई पौधा किसी को अधिक चाहता है, कोई किसी को—यह बात जानकर ही—आलू, तम्बाकू, ईख, गेहूँ, मकई इत्यादि की फ़सल बोई जाती है । खाद भी इसी वैज्ञानिक पद्धति पर दिये जाते हैं । उपरोक्त अधिकारी इन्हीं सब कामों में किसानों की अपूर्व मदद देते हैं । कृपक लोग अपनी-अपनी धरती के नमूने भेजकर जाँच कराते हैं ।

"मनुष्यों और पशुओं की तरह ही वनस्पतियों को भी कई प्रकार के रोग होते हैं । जिनसे फ़सलों को बहुत हानि होती है । सेव, नीबू, सन्तरा आदि में एक काला दाग पड़ जाता है । यह भी एक रोग है । आलू में भी एक रोग होता है । आलू के इस रोग से अकेले जर्मनी देश में एक ही वर्ष में ४५ करोड़ रुपये की हानि हुई थी । अमेरिका में फलों के रोगों के कारण प्रति वर्ष ५ करोड़ रुपये की हानि हुआ करती थी । अकेले न्यूयार्क में एक वर्ष में ३ करोड़ रुपयों के फल इस रोग से नष्ट हो गये थे । इन रोगों से फलों के बगीचों और

खेतों को सुरक्षित रखना, चिकित्सा करना, बनस्पति-निदान-शास्त्रियों का कार्य है। केलीफ़ोर्निया रियासत में एक रोग की उचित समय पर चिकित्सा करने से एक ही वर्ष में सवा लाख रुपये के फल बच गये थे।"

इसके बाद सुधीन्द्र ने कुछ धीमे स्वर में कहा—"खेद है कि हमारे अनाथ देश में—जो कभी फल फूल बनस्पतियों का भण्डार था—असंख्य रुपयों की फ़सल बर्बाद हो रही है। जहाँ मनुष्यों की नसल सुधारने और निरोग रखने का कोई बन्दोबस्त नहीं, जहाँ मनुष्य टेढ़े, तिरछे, काने, कुबड़े मरियल, सड़ियल उत्पन्न हो रहे हैं—जहां गाय, भैंस, घोड़े, बकरी आदि पशुओं की नस्लें सत्यानाश हो रही हैं, वहां बनस्पति फल और अन्न की क्या आशा की जाय? मैले-कुचैले हलवाइयों की दूकानों की दूध-मिठाई, जिनपर तोला छः माशा मक्खियों का मल और छटाँक आधा पाव मल-मूत्र से युक्त सड़क की धूल मिली रहती है। पूरियाँ, जिनमें कीड़े भी आटे के साथ पीसे जाते हैं, और शाक जिनमें कीड़े भी पका लिये जाते हैं—खाकर कोई कैसे तन्दुरुस्त रह सकता है? वहाँ हरेक दूध दही बेचनेवाले को लायसेन्स लेना पड़ता है और उसे स्वच्छ रखने का पूरा पूरा ध्यान रखना पड़ता है। बालकों की शोचनीय मृत्यु और क्षय रोग, हैज़ा, सन्निपात, मधुर ज्वर अशुद्ध आहार खाने के परिणाम हैं।"

इसके बाद कुछ देर चुप रहकर सुधीन्द्र ने कहा—"क्या आप लोग जानते हैं कि देश में कौन चीज कितनी उत्पन्न होती है, और उसकी खपत कहाँ-कहाँ है?"

एक बूढ़े किसान ने कहा—"भला यह हम कैसे जान सकते हैं, हम तो खेतों की ही बात को जातते हैं।"

"यही तो बात है कि आप लोग दरिद्र हैं। जब तक आप देश की उपज की और उसका उपयोग न जानेंगें—आपका कभी भी भला न होगा।"

"बृटिश भारत में खाने की चीजों में—धान, गेहूँ, ज्वार, बाजरा, चना—सब लगभग २। लाख एकड़ जमीन में तथा ईख, २॥ हजार एकड़ में. तेलहन, कपास, जूट, नील, पोस्ता, चाय, ये लगभग ४५ हजार एकड़ में बोये जाते रहे हैं। कुल खेती के सैकड़े ६ में कपास बोई जाती है। गत बीस वर्षों में कपास की खेती सैकड़ा ६७ बढ़ गई है। देश में भी कपास की बहुत माँग है। फिर जापान, चीन, अफ्रीका और मध्य एशियावाले भी बराबर खरीदने के इच्छुक हैं। गत २५ वर्षों में मद्रास में १० लाख, बम्बई में १५ लाख, पञ्जाब में ९ लाख और मध्य-प्रदेश में १५ लाख एकड़ वृद्धि कपास की उपज में हुई है। गेहूँ पश्चिमोत्तर-भारत का प्रधान खाद्य द्रव्य है। इस कारण पञ्जाब, यू० पी०, मध्य-प्रदेश इसकी बड़ी खेती करता है। कुल खेती का दशमांश गेहूँ होता है। इधर १२ वर्षों में प्रायः ८५ लाख एकड़ गेहूँ की खेती बढ़ी है। उपज का सैकड़े ७० ८० तो देश में रह जाता है। शेष इँग्लैंड, बेल्जियम, फ्रान्स, मिश्र और इटली चला जाता है।"

अब आप सोचिये कि इतने काम की और कीमत की उपज आप लोग उत्पन्न करते हैं, फिर भी आपकी दशा इतनी शोचनीय है। युवक ने कहा—"इसका खास कारण क्या हो-सकता है?"

सुधीन्द्र ने कहा—"इसका सब से बड़ा कारण तो 'भूमि-कर' संबंधी कानून है। जो लोग सिर्फ मेहनत से १५ अरब

रुपया प्रति वर्ष कमाते हैं, उनका इतना भयानक दरिद्र होना अधिकतर इस 'कर' के कारण ही है। इतना लगान तो कभी मुगल बादशाहों ने भी नहीं लिया था। अँग्रेजी 'कर-नीति' में यह बात अप्रकट रूप से मान ली गई है कि भारतवर्ष की धरती के स्वामी भारतवासी नहीं—सरकार है, और उसका कर-संचय का ढंग बहुत-ही बनावटी और खर्चीला है। इसका फल यह है, कि किसानों के पनपने की कोई आशा हो नहीं है, और वे यहाँ तक गिर गये हैं कि अपने टूटे-फूटे बर्तन गिरवी रखकर पेट को अन्न जुटाते हैं। अच्छा कहो, आप लोग सरकार की नई सहायताओं से लाभ क्यों नहीं उठाते? वैज्ञानिक खाद क्यों नहीं खरीदते? अच्छे औजारों से काम क्यों नहीं लेते?"

एक बुड्ढे किसान ने कहा—

'यह हम कैसे कर सकते हैं। इतना पैसा हमारे पास कहाँ है? कि हम लकड़ी लेकर जलावें, और गोबर बचाकर उसकी खाद बनायें? कीमती औजार भी कहाँ से खरीदें?"

"बस, यही तो बात है। इसलिये आवश्यक है, कि आप लोग संगठित हूजिये। स्वयं पढ़िये, बच्चों को पढ़ाइये। अपनी हालत सुधारिये। परस्पर विश्वास और प्रेम पैदा कीजिये। फिर आप-ही-आप आपका रास्ता खुल जायगा।"

इतना कहकर सुधीन्द्र चुप हो गये। दो चार किसानों ने हाथ जोड़कर उन्हें नमस्कार किया, और कहा—धन्य भाग कि हमारे गाँव में आप-जैसे देवता पुरुष आये। आपने हमारी आँखें खोल दीं।"

इसके बाद सब लोग खाना खाने बैठ गये। मोट-मोटी

चना-ज्वार की रोटी, ताजा छाछ—और मूली के टुकड़े, ठण्डा पानी। सुधीन्द्र ने उन प्रेमी किसानों का भोजन प्रेम से खाया। इसके बाद वे उनसे विदा होकर सीधे काशी आये, आज तक भी उनका शरीर दुर्बल हो रहा था।

———

२१

काशी में सुधीन्द्र के बहुत से मित्र थे। उनमें अनेक बड़े आदमी थे। परन्तु वे सभी मित्रों से दूर रहना चाहते थे। एकान्त विचार, और विश्व दर्शन उनकी यात्रा का प्राण था। उन्होंने एक धर्मशाला में अपना डेरा-डण्डा जमाया। धर्मशाला के प्रबन्ध महाशय के परम अनुग्रह से उन्हें एक छोटी-सी कोठरी मिल गई थी। उसी में अपना कम्बल बिछाकर वे दीवार से पीठ देकर चुपचाप आँख बन्द करके अनेक परस्पर-विरोधी विचारों में लीन हो गये। उन विचारों के समुद्र में माया और सुधा के मुण्ड तैर रहे थे। ज्योंही सुधीन्द्र के मानस-चक्षु ने उन्हें देखा, वे मुण्ड परस्पर युद्ध करने लगे। कभी वह अतल में डूबने और फिर उभर कर ऊपर आने लगे। इस झंझट से घबड़ाकर उन्होंने आँखें खोलकर कोठरी के चारों ओर देखा।

एक खूब मोटे-तगड़े पण्डेने आकर कोठरी के द्वार पर अपनी लाठी की ठोकर दी। उसके बाद ही उसने मेघ-गर्जन की भाँति उच्च स्वरमें कहा—"अभी स्नान-भोजन नहीं हुआ, बाबू साहेब?

स्नान कीजिये, बाबा विश्वनाथ के दर्बार का दर्शन कीजिये—ब्राह्मणों को कुछ भोजन कराइये, और आनन्द मनाइये। आपकी जय रहे।"

सुधीन्द्र जरा सावधान होकर बैठ गये। उन्होंने पण्डे की ओर मुस्कराकर देखा, और धीमे स्वर में कहा—"वही तो सोच रहे हैं, महाराज!"

साहस पाकर पण्डाजी आगे पैर बढ़ाकर कोठरी में घुस गये। उन्होंने सुधीन्द्र के सन्मुख पद्मासन से बैठ, सुरती की झोली निकाली, सुरती हथेली पर रखकर मली, और होठों में दबाकर बोले—"बाबू साहेब का कहाँ से आना हुआ?"

सुधीन्द्र ने कहा—"कहाँ से कहूँ—कई जगह से भटकता हुआ आ रहा हूँ।"

"बहुत अच्छा है, तीर्थ-पर्यटन से सब पाप-ताप दूर होते हैं। अब स्नान भोजन हो—ब्राह्मण को भी भोजन मिलना चाहिये।"

"अवश्य ही होना चाहिये। यही तो मैं सोच रहा हूँ। स्नान तो अनायास ही हो जायगा, परन्तु भोजन में बाधा दीखती है। पास में तो पैसा है नहीं।"

पण्डे ने अप्रतिभ होकर कहा—"बिना पैसे तीर्थ दर्शन कैसा बाबूसाहेब?"

"आप सच कहते हैं पण्डाजी, परन्तु सोचा था, तीर्थ लाभ भी होगा, साथ ही कोई छोटी-सी नौकरी मिल जायगी। आप यहाँ के बड़े भारी पण्डे हैं। छोटे-बड़े सभी से आपका परिचय है। कहीं कुछ लगवा दीजिये। बड़ा उपकार होगा।" पण्डेजी को कुछ क्रोध-सा आरहा था। उन्होंने विरक्ति के स्वर में कहा—

"बाबू साहब, यहाँ यह धन्धा नहीं करते। कहो, स्नान करायें, सङ्कल्प पढ़ें, देव दर्शन करायें ?"

'यह तो सब ठीक है, पर ब्राह्मण भोजन कैसे होगा ?"

पण्डाजी निरुपाय हो अपना विशाल शरीर लेकर वहाँ से चल दिये।

सुधीन्द्र हँसक उठे। गमछा और धोती ली, तथा घाट की ओर चले।

मणिकर्णिका घाटपर उस दिन यात्रियों की बड़ी भीड़ थी। कदाचित् कोई बड़ा भारी पर्व था। स्त्री पुरुषों का ठट्ठा जमा था। सभी जाति और सभी आयु के स्त्री पुरुष थे। स्त्रियाँ सङ्कोच छोड़कर डुबकियाँ ले रही थीं। उन्हें अपने शरीर और वस्त्र की भी सुध न थी। स्वभाव से ही स्त्रियाँ जल को देखकर मस्त हो जाती हैं। वृद्धा भी किलोलें कर रही थीं। लोग भाँति-भाँति के स्तोत्र पाठ कर रहे थे। एक आ रहा था, एक जा रहा था। जल में असंख्य नावें लहरों के थपेड़ों से हिल रही थीं। धूप बढ़ गई थी परन्तु दिन बहुत सुन्दर था। सुधीन्द्र बड़ी देर तक काशी की इस विभूति को देखते रहे। इसके बाद स्नान कर डेरे पर लौट आये—आकर कोठरी के द्वार बन्द करके सो गये। उन्होंने भोजन नहीं किया।

दिन-भर वे सोते रहे; या यों कहिये सोने की चेष्टा करते रहे। सन्ध्या-समय हाथ-मुँह धोकर वे घूमने को बाहर निकले। काशी के बाजार भी मनुष्यों से परिपूर्ण थे। देश-देश के स्त्री-पुरुषों से चौक बाजार भर रहा था। सुधीन्द्र नीचे दृष्टि किये कुछ देख लेते थे। उन्हें ऐसा प्रतीत होता था, इस कोलाहल और जन-रव के समुद्र में वे एक रज-कण की भाँति डूब रहे हैं।

"हलो सुधीन्द्र, हिअर यू आर ?" इन शब्दों के साथ खूब ऊँचे स्वर से अट्टहास की ध्वनी सुनकर वे चौक पड़े। इसके साथही किसी ने उनके दाहिने हाथ को खूब जोर से पकड़कर झकझोर डाला। सुधीन्द्र ने घबड़ाकर देखा—उनके यूनिवर्सिटी के पुराने सहपाठी राजा दीपनारायणसिंह हैं। सुधीन्द्र ने मुस्कराकर मित्र से हाथ मिलाया। राजा साहब ने उन्हें छाती से लगा लिया।

राजा साहब ने हँसते-हँसते पूछा—"यह अचानक किधर टपक पड़े ? न खबर, न तार।"

"यों ही भटकता फिर रहा हूँ। सोचा काशीवास का भी एक दिन का सुख लूट लूँ।"

"काशी-वास का एक दिन का सुख ? यह खूब कही। अब तुम्हें १५ दिन यह सुख लूटना पड़ेगा। छूट नहीं सकते, सुना नहीं, विनोद का व्याह है। निमन्त्रण तो पहुँचा होगा ?"

"सम्भव है; मैं तो तीन मास से घर से बाहर हूँ।"

"अरे तीन मास से ? भाभी साहेबा वहाँ अकेली तारे गिनती होंगी ? कहो, वे अच्छी तो हैं ?"

जिस प्रकार मनुष्य सन्मुख साँप को पाकर चौंक उठता है, उसी भाँति सुधीन्द्र इस प्रश्न को सुनकर चौंक उठे। वे फिर पुरानी बातें सोचने लगे। इस पद का अधिकारी कौन है, माया या सुधा ? वे करुण नेत्रों से राजा साहब की ओर देखने लगे।

राजा साहब ने शङ्कित होकर कहा—"खैरियत तो है ? भाई, इस तरह क्यों ताक रहे हो ? भाभी साहेबा हमें भूल गईं, पर हमें उनके उस दिन के रसगुल्ले याद हैं।"

सुधीन्द्र ने नीची नज़र करके कहा—"वे इस संसार में नहीं रहीं।"

"यह क्या कहते हो ?" राजा साहब ने सुधीन्द्र के दोनों कंधों पर हाथ धरके आश्चर्य के स्वर में कहा।

सुधीन्द्र के होठ काँपे, पर वे हँस दिये। उन्होंने कहा—"उस बात को जाने दीजिये, मैंने फिर ब्याह कर लिया है।"

"वण्डरफुल ! यार, हो किस्मत के धनी। नई आई, पुरानी को दूर करो। एक हम हैं, बचपन से एक ही को घसीटे जा रहे हैं। कभी-कभी तो तबियत कोफ़्त हो जाती है।" इसके बाद वे बड़े जोर से हँस दिये। कुछ ठहरकर कहा—'ख़ैर, इसकी मुबारिकवादी फिर दे दी जायगी, अभी आप घर तशरीफ ले चलिये।" राजा साहब की बात से सुधीन्द्र के हृदय पर चोट लगी, परन्तु सुधीन्द्र का आग्रह-निवेदन कुछ न चला। उन्हें राजा साहब का आतिथ्य स्वीकार करना ही पड़ा।

———

२२

बड़े आदमियों की शादी भी बड़ी चीज़ कहनी चाहिये। राजा बहादुर तो बड़े आदमी हैं ही, फिर शादी की धूम का क्या कहना है ! गाजा, बाजा नाच-रंग, भांड़, नक़ल, सभी कुछ था। यार-दोस्त, चपरक़नातिये भी बहुत थे। उन सब को मिलाकर आनन्द-उल्लास न कहकर भयानक अशान्त दृश्य कह सकते हैं। सभी कोई न कोई काम कर रहे थे—लोगों के चेहरों पर परेशानी और घबड़ाहट थी। राजा बहादुर अपने

कमरे में बैठे, लोगों को भाँति-भाँति के हुक्म दे रहे थे। परेशानीने उनके मुँह को विचित्र बना रखा था।

सुधीन्द्र के सिर कोई काम न था। बीमारी की सुस्ती उनके शरीर में थी। वे काम-काज में व्यस्त लोगों के बीच निरर्थक घूमते, कभी-कभी किसी निठल्ले आदमी से कुछ गप्पें लड़ाते रहते थे। उनका मन उस शोर और अशान्ति में नहीं लगता था। वे भागना चाहते थे —पर राजा साहेब का लिहाज़ रखना ज़रूरी था।

वे चुपचाप बाग़ीचे में एक पत्थर की बेंच पर बैठे थे। राजा साहेब जल्दी जल्दी-जल्दी उधर से होकर गुज़रे। उन्होंने सुधीन्द्र को वहाँ बैठे देखकर कहा—"यार, यहाँ छिपे बैठे हो। आओ, एक काम करो—कुछ लोग आ रहे हैं, मोटर तैयार है। ज़रा स्टेशन से उन्हें ले आओ, और ७ नम्बर कोठी में में ठहारा दो। वहाँ उन लोगों के लिये सब प्रबन्ध तैयार है। पर फिर भी एक बार देख लेना—जिस चीज़ की ज़रूरत हो, दीवानजी से कह देना।"

सुधीन्द्र ने आगन्तुक कौन है—यह नहीं पूछा। वे चुपचाप जाकर मोटर में बैठ गये। जो लोग आरहे थे, वह एक वेश्या और उसके साथी थे। वे लोग दिल्ली से आरहे थे। सुधीन्द्र को प्रथम तो बड़ी ग्लानि हुई। वेश्या की उम्र २५-३० के लगभग होगी। रंग उज्ज्वल श्याम था, शरीर ज़रा भारी था। पर आकृति गम्भीर, मधुर और रुआबदार थी। वह पैरिसकट ज़रीकोर की बढ़िया साड़ी तथा न्यू फ़ैशन का ब्लाउज डाटे थी। उसके हाथमें एक कुत्ते की चांदी की जंजीर थी। कुत्ता एक बड़े चूहे के बराबर निहायत ख़ूबसूरत था।

सुधीन्द्र की दृष्टि उस सुन्दर चीनी कुत्ते पर जाकर अटक गई। वेश्यासे साक्षात् करने और उसका अभिवादन करने को सुधीन्द्र का मन न हुआ। परन्तु वेश्या को देखकर उनके मन में उसके प्रति श्रद्धा होगई। वह एक उच्च कुल की प्रतिष्ठित महिला दीख पड़ती थी। वे उसकी ओर से दृष्टि हटाकर फिर कुत्ते को देखने लगे। इसके बाद वे दो क़दम आगे बढ़कर उसके पास जाकर बोले—"आपका कुत्ता तो बहुत ख़ूबसूरत है!"

वेश्या ने हँसकर कहा—"मगर आप से ज़्यादा नहीं, लीजिये!" उसने अनायास ही ज़ंजीर सुधीन्द्र के हाथ में पकड़ा दी। सुधीन्द्र कुछ भी न सोच सके—उन्होंने ज़ंजीर पकड़ ली। उन्हें छूटते ही ऐसा करारा जवाब मिला था, कि वे घबरा गये। यह मेरी तारीफ़ हुई, या तौहीन, वे सोच ही न सके। परन्तु वेश्या क्या वस्तु है, यह वे तत्काल ही समझ गये। उन्होंने हँसकर कहा—

"यह आपने कहाँ से मँगाया था?"

"चीन से। दो थे; एक बेचारा मर गया।"

नौकर सामान सम्हाल रहे थे। सुधीन्द्र ने कहा—"राजा बहादुर की तरफ़ से आपकी तवाज़ा के लिये मैं गँवार ही मुक़र्रिर हुआ हूँ। चलिये, आप को ठिकाने लगा दूं।"

"बहुत ख़ूब गँवार साहेब, बहुत ख़ूब! मगर मेरा ख़याल है, हम लोग ठिकाने लग चुके हैं।" वह ख़ूब खिलखिलाकर हंस पड़ी। इसके बाद सुधीन्द्र के और पास खसककर, कटाक्ष-भरे नेत्रों का एक उनपर वार करके कहा—

"चलिये, मेहरबान!"

सुधीन्द्र को एक आल्हाद मन में उत्पन्न हुआ-सा जान पड़ने लगा। स्त्री की यह उत्फुल्ल मूर्ति तो उन्होंने कभी देखी थी ही नहीं। यह विनोद, हास्य-व्यंग, इतने सलीक़े से, ऐसे मीठे ढंग से इतने अल्प परिचय में किये जाते हैं, यह उन्हें मालूम न था। उन्होंने हाथ छुड़ाया नहीं, और भी ज़रा दबाकर कहा—

'चलिये।"

दोनों मोटर में जा बैठे। उसके शरीर-स्पर्श से सुधीन्द्र विमूढ़-से होने लगे। उसके सुवासित वस्त्रों से निकली वायु ने उन्हें मत्त बना दिया। अब भी वेश्या का हाथ उनके हाथ में था। कोठी में आकर उन्होंने देखा—पलँग, गद्दे, चाँदनी, मसनद, क़ालीन, उगालदान—सब कुछ लैस था। वेश्या ने मसनद पर लुढ़कते हुये, सुधीन्द्र का हाथ खींचकर कहा—

"बैठिये।"

सुधीन्द्र मन्त्र-मुग्ध से बैठ गये। वेश्या ने पान की डब्बी निकालकर कहा—"पान खाइये।"

खान-पान के झूठे ढकोसलों की तरफ़ उनका कुछ विश्वास न था। उन्होंने पान लेकर खा लिया।

वेश्या ने पूछा—"आपका शुभ नाम?"

मुझे लोग राजदुलारी कहते हैं, आप क्या यहीं बनारस के रहनेवाले हैं?"

"नहीं, मैं राजा बहादुर का मेहमान हूँ।"

"मेरे अहोभाग्य, कि आप से मुलाक़ात हो गई। शायद आपको एक रज़ील औरत से इतने पास बैठकर बात करने का पहिला ही मौका है?"

"शायद देखने का भी।"

"यह तो आपकी शर्म और झिझक भरी आँखें ही कह रही हैं। खैर, कहिये, आपको बहुत बुरा लग रहा है?"

'नहीं, परन्तु मुझे आशा नहीं थी। मैं वेश्याओं से बहुत घृणा करता हूँ। आप सत्य बात कहने से नाराज़ तो न होंगी"

'ज़रा भी नहीं। पर यह तो आप कहिये, वेश्याओं ने आपका ऐसा क्या बिगाड़ा है, कि आप उनसे इस क़दर नाराज़ हैं?"

"वे समाज की दूषण हैं।"

"मेरा ख़याल कुछ और ही है। मैं समझती हूँ कि वे समाज की मोरी और नाबदान हैं।"

"इससे आपका क्या मतलब है?"

"मतलब साफ़ है। जैसे किसी मकान में मोरी और नाबदान होता है, उसी तरह समाज में वेश्याएँ हैं।"

"यह तो वेश्याओं के लिए कुछ गौरव की बात नहीं।"

"मेरे ख़याल में सबसे ज्यादा गौरव की है।"

"कैसे?"

"हर घर में मोरी और नाबदान एक गौरव की चीज़ है। सिनेटरी-डिपार्टमेण्ट इसकी साक्षी दे सकता है। जो लोग अपने मकान में इन दो चीज़ों का कुछ गौरव नहीं समझते, उनका सारा घर गन्दा रहता है। लोग चाहे जहाँ पेशाब-पाख़ाना करेंगे। मनुष्य के समाज में वेश्या वही पेशाब और पाख़ाने की जगह हैं, जहाँ समाज के अभागे आदमी अपनी गन्दी ज़रूरत रफ़ा करते हैं। इससे गन्दगी गन्दी जगह रह जाती है, बाक़ी समाज की शुद्धता बच जाती है

सुधीन्द्र कुछ भी नहीं समझ सके, कि उसका ऐसी आत्म-प्रतारणा की बात कहने से क्या तात्पर्य हो सकता है। वे चुपचाप बैठे उसे देखते रहे। कुछ ठहरकर उसने धीमे स्वर में कहा—

"आप लोग शरीफ़ और इज्ज़तदार हैं, आपकी बहू-बेटियाँ हैं, वे सधी अस्मतदार हैं। अस्मत पर वे जान और ज़िन्दगी को न्यौछावर कर देती हैं। मैं समझती हूँ, औरत के लिये अस्मत बड़ी चीज़ है। जान और जहान से भी बढ़कर करोड़ों औरतें उसी अस्मत को आञ्चल में सम्हाले रहती हैं। परन्तु आप शरीफ़ों में कुछ ऐसे शरीफ़ज़ादे भी हैं, जिनके मन की हविस इन शरीफ़ज़ादियों से नहीं मिटती। उन्हीं के लिये हमें रज़ीलपने का साइनबोर्ड लगाकर बैठना पड़ता है, और अस्मत-फ़रोशी करनी पड़ती है।"

सुधीन्द्र ने गम्भीरता से कहा—"अस्मत-फ़रोशी तो सौदा है—पैसे का लेन देन है। जब आप लोग अस्मत के दाम लेती हैं, तब इतनी आत्म प्रतारणा क्यों?"

वेश्या के होंठ घृणा से सिकुड़ गये। उसने कहा—"दाम? यह आपने खूब कही, अस्मत के हम दाम लेती हैं? वह तो हमारी रोटियों का खर्चा है। न लें तो खायें क्या? उन ताँबे के टुकड़ों के बदले हम लोग जो कुछ देती हैं, उसका तो कोई मूल्य ही नहीं।"

क्या आप जानते हैं कि हम लोग सिर्फ़ पैसे के लालच से नहीं, किन्तु समाज के नियम से ऐसा करने को मजबूर हैं? क्या आपको मालूम है, कि हिमालय की पवित्र तराई में लाखों लड़कियाँ विवाह करने के अधिकार से समाज की

रूढ़ि के आधार पर वंचित की गई हैं ? वहाँ जाति-की-जाति बेटियों को वेश्या बनाना धर्म और विवाह करना अधर्म समझती है। दक्षिण में भी आपको ऐसी ही अभागिनी जातियाँ मिलेंगी। क्या आप कह सकते हैं, कि ये अभागिनी नारियाँ पैसे के लोभ में या ऐयाशी के लिये वेश्यायें बनी हैं ?"

सुधीन्द्र कुछ देर चुप बैठे रहे। फिर बोले—"फिर भी ऐयाशी तो है ही।"

"बाबू साहब, जो स्त्री इस बात का ज़रा भी अधिकार नहीं रखता कि वह जिस आदमी को पसन्द करे या प्यार करे उसे अपना शरीर अर्पण करे—जिस दिन धन देकर कोढ़ी, कलंकी, लुच्चे, शराबी, बूढ़े लम्पट, डाकू, खूनी भी उपयोग में ला सकते हैं, उस तपस्विनी को आप ऐय्याश कह सकते हैं? आपकी इतनी जुर्रत ?"

फिर कुछ ठहरकर उसने कहा—"प्रत्येक वेश्या तपस्विनी है—पाप से रहित है। उसने घृणा—विरक्ति, मान अपमान को जीत लिया है। वह समाज में घृणित कीड़े से भी बदतर हैसियत में रहकर हँसती है। जो लोग हमारे सामने कुत्ते की तरह दुम हिलाते और जूतियाँ सीधी करते तथा थूक चाटते हैं, वे भी अपनी माँ बहिनों से हमारी मुलाक़ात नहीं करा सकते। यह सब हमने सहन किया है। आप लोग छिपकर व्यभिचार करते हैं, प्रकट में पवित्र सज्जन बनते हैं—हम आपके व्यभिचार की पूर्ति करती हैं, और आपके बदले हम व्यभिचार का काला टीका अपने माथे पर लगाए संसार में मुँह दिखा रही हैं, आप क्या हमारे इस त्याग और सेवा को समझ सकते हैं ? हम, जो अपने रहन-सलीक़े और समस्त ललित गुणों के कारण स्त्री-जाति के उत्कृष्ट गुणों की अधि-

कारिणी होने योग्य है, आपकी बेहूदी, गँवार, गन्दी और मूर्खा स्त्रियों की अपेक्षा अछूत, समाज-बहिष्कृता और पतित हैं।

राजदुलारी इतना कहकर चुप हो गयी। सुधीन्द्र सकते की हालत में उसे देखते रह गये। उनकी इच्छा हुई कि उस परम बुद्धिमती तेजस्विनी स्त्री के चरणों में सिर झुकावें। उन्होंने कहा—"देवी, मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आपसे मिलकर मैं धन्य हुआ। मैं आप से खुलकर बातें करूँगा। इस सम्बन्ध में मैं बिलकुल अज्ञान था। आज से मैं प्रत्येक वेश्या बहिन को आदर पूज्य दृष्टि से देखूँगा।" इतना कहकर सुधीन्द्र उठ खड़े हुए।

राजदुलारी भी उठी। उसने और दो बीड़े पान उन्हें दिये। फिर हँसकर बोली—"नाराज़ तो नहीं हो गये आप? अब कब आइयेगा?"

"जल्द, मैंने आपकी ख़ातिरदारी का ज़िम्मा लिया है। मैं शामको फिर मिलूँगा।"

उन्होंने वेश्या को नमस्कार किया, और चले आये।

२३

वेश्या सुधीन्द्र के विचारने की वस्तु हो गई। उसने जो तीखे और खरे तीर मारे थे, उनसे सुधीन्द्र का हृदय घायल हो गया था। वेश्या के नाम से उन्हें घृणा थी—परन्तु जिस वेश्या से उनका परिचय हुआ वह क्या घृणा की वस्तु है? क्या उसकी बातें मूर्खतापूर्ण हैं? क्या वह पतित स्त्री है? उसकी वाणी में वह तेज, नेत्रों में यह भेदन शक्ति, भाषा में

वह प्रवाह क्या उसे साधारण स्त्री साबित करता है ? वे जितना भी विचारते गये, उनके मन में वेश्याओं के प्रति प्रेम और आदर का भाव उत्पन्न होता गया। उन्होंने धीरे-से राजा बहादुर के पास जाकर कहा—"आपके प्रतिष्ठित मिहमानों को ठिकाने लगा दिया है। अब यदि इजाजत हो तो उन्हीं लोगों की मिज़ाजपुर्सी में हाजिर रहूँ। आख़िर यहाँ भी तो बेपेंदी का लोटा बना फिर रहा हूँ।"

राजा बहादुर ज़ोर से हँस पड़े। उन्होंने कहा—"क्या कहने हैं—क्या दिलचस्प काम पसन्द किया है, जाइए मगर याद रखियेगा—"काजर की कोठरी में कैसो हू सयानो जाय, काजर की रेख वाके लागि है पै लागि है।"

सुधीन्द्र बोले नहीं, मुस्कराते चले गये।

सन्ध्याकाल था। चाँदनी छिटकी थी। कोठी के बाहर रमने में संग-मर्मर के चबूतरे पर राजदुलारी बैठी थी, उसके बाल खुले थे और सफेद रँग की ढाके की हल्की साड़ी वह पहने थी, सुधीन्द्र ने पहुँचकर प्रणाम किया। राजदुलारी तपाक से उठ खड़ी हुई। उसने कहा—

"यह आप मुज कनीज़ को शर्मिन्दा करते हैं।"

"शर्मिन्दा तो आप करती हैं कि बार-बार आप अपने लिये ऐसे शब्द कहती हैं जो कदापि आपके योग्य नहीं हैं।"

"जाने दीजिए। यह दुपहरी का वक्त नहीं—जो सिर-दर्दी की जाय—देखिये क्या चाँदनी छिटकी है, हवा कैसी धीमी बह रही है, चम्पा क्या रँग दे रहा है, बैठिये न।" उसने हँसकर यह शब्द कहे और खींचकर सुधीन्द्र को निकट बैठा लिया।

सुधीन्द्र बैठकर चुपचाप उस प्रभावशालिनी स्त्री का उन्मुक्त रूप निहारने लगे। इस समय वे उसकी दोपहर की बातों को सोच रहे थे—"क्या सचमुच स्त्रियों के उन्नत गुणों का पूर्ण विकास इसमें नहीं है। अदब, कायदा, तमीज़, सज्जनता, शृङ्गार, सच्चाई सभी कुछ तो साधारण है। केवल यही न एक बात है कि ये अस्मत-फरोश हैं। परन्तु धन के लिये, वासना की तृप्ति के लिये नहीं। ऐसी अवस्था में वे व्यभिचारिणी नहीं कही जा सकतीं। क्योंकि व्यभिचारिणी स्त्री तो वह है जो पर पुरुष से प्रेम के साथ शरीर का आदान-प्रदान करे यहाँ धन देकर कोई भी चाहे जब इनके शरीर का स्वामी बन जाता है, तब व्यभिचारिणी तो ये हैं ही नहीं—अभागिनी अवश्य हैं। परन्तु विचारना यह है, कि क्या यह सच है कि धन ही के लिए ये लोग इस अपमानजनक और नीच कर्म को करती हैं? नहीं, जब समाज की मर्यादा ने जाति-की जाति को वेश्या-वृत्ति करने को विवश किया है, तब धन भी इसका माध्यम नहीं। इसका कथन सत्य है कि जो धन व्यभिचारी-गण वेश्या को देते हैं, वह चाहे भी जितना अधिक हो—व्यभिचार के अधिकार का मूल्य नहीं वह अधिकार तो उन्हें वेश्या-कुल में जन्म लेने के कारण ही उनके घर में प्राप्त हो जाता है। वह धन तो उनके पतित और असहाय जीवन के निर्वाह के लिए है।"

सुधीन्द्र अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक यह सब सोच रहे थे।

राजदुलारी ने उनका कन्धा हिलाकर कहा—"मिहरबान, आप सो रहे हैं या जाग रहे हैं। उसने उनको गुदगुदी की—फिर खिलखिलाकर हँस पड़ी। इसके बाद उसने नौकर को तम्बूरा लाने और उस्ताद को तबला ले आने को कहा। इसके

बाद उसने सुधीन्द्र से कहा—"अगर नागवार मालूम न हो तो एकाध अलाप तम्बूरे पर लूँ, यों महफिल में तो आप सुनें होंगे, पर यह बात और है।"

सुधीन्द्र बहुत अच्छे अभ्यस्त गवैये तो न थे। पर गान-विद्या के पक्के जानकार थे, उन्होंने कहा—"यदि आप ऐसा करेंगी तो मुझ मुर्दार पर अमृत वर्षा करेंगी।"

"क्या आपको भी कुछ शौक़ है ?" रामदुलारी ने हँसकर पूछा।

"ज्यादा कुछ नहीं, सुना बहुत है। कान सदा प्यासे रहते हैं।"

वेश्या ने तम्बूरा हाथ में लेते हुए कहा—"ऐसा कुछ ज्यादा तो नहीं जानती, पर जो कुछ उस्तादों से सीखा है—कहती हूँ।"

उसने धीरे से खम्माच की तान ली। तम्बूरा स्वर पर लहरा उठा। तबले ने मीठी थपकी दी। सुधीन्द्र के हृदय का सोया हुआ उल्लास मानों जाग-सा गया। उनके शरीर में छरहरी-सी मच गई, और आँखों में आँसू आगये। राजदुलारी ने गले को हिलाकर एक दून की तान ली। इसके बाद उसने स्निग्ध स्वर में गाया—

'चलत पवन सो रही अँगना, वैरनियाँ लग गई आँख।'

दो बार, चार बार, छै बार—यह छोटा-सा वाक्य सौ-सौ मूर्ति धारण कर वहाँ खेलने लगा। उसकी उँगलियाँ तम्बूरे पर जादू की भाँति हिल रही थीं। वह नृत्य कर रही थी, भाव-प्रदर्शन भी कर रही थी। 'चलत पवन, वाह पवन कैसी चली।'—यह उसने किस भाव-भङ्गी से बताया—'सो रही

अङ्गना, मानों वह सो ही गई। फिर 'लग गई आँख' ओहो! भला, आँख कैसे लगी? यह तो प्रत्यक्ष दीख पड़ा। फिर वे 'बैरनियाँ आँखें' यह भी तो उसने बता दिया। तानपूरे की झङ्कार तो चल ही रही थी, तबले की ठुमक चाल भी जारी थी। फिर राजदुलारी की स्निग्ध-कोमल, मधुर वाग्धारा उस चाँदनी में बिखर गई। उससे प्रथम सुधीन्द्र, उसके बाद, बाग़ बन फूल-पत्ते सभी डूब गये।

गायन की कलाओं का अब विकास चला। तान-पर-तान चलने लगी, पल्टे उलटने लगे। वर्षा के तूफानी समुद्र की भाँति वह शब्द-सागर की लहरें वातावरण पर टक्करें ले-लेकर उछलने और बिखरने लगीं। सुधीन्द्र ने माया ग्रस्त होकर देखा—शीतल, मन्द, सुगन्ध समीर का झोंका खाकर मानो माया की आँखें लग गई हैं। दुलारी ने तड़प लेकर फिर मिसरा गाया—

'चलत पवन सो रहो अङ्गना, बैरनियाँ लग गई आँख।'

सुधीन्द्र की आँखों से अश्रु-धारा बह चली। वे असंयत होगये। उनकी इच्छा हुई कि वे नाचें। प्रत्येक ताल पर ठुमकी लें। राजदुलारी ने अन्तरा छेड़ा, और उसकी सरस तान आध घण्टे तक उस वातावरण में हाहाकर मचाती रही। सुधीन्द्र एकदम बेसुध-से हुए उस स्वर-लहरी में खोगये।

गीत समाप्त होने पर राजदुलारी ने तम्बूरा रखकर सुधीन्द्र से कहा—"शायद अच्छा नहीं लगा।"

सुधीन्द्र ने गद्गद् कण्ठ होकर सराहना करते हुए कहा—

"आप सचमुच सरस्वती का अवतार हैं। मैं आपकी पूजा करता हूँ।"

राजदुलारी हँस दी। नौकर शर्बत ले आया। सुधीन्द्र ने शर्बत पिया, पान खाया—और चलने की इजाजत माँगी।

राजदुलारी ने कहा—"बैठिये! आप तो मेरे वतन ही के हैं—कुछ अपनी सुनाइये, यहाँ क्या कारबार करते है?"

"कारबार मेरा कहीं कुछ नहीं है।"

"तब कहीं नौकर हैं आप।"

"नौकर था—पर अब नहीं हूँ।"

"तब अब क्या कर रहे हैं?"

"भटकता फिर रहा हूँ।"

"क्यों?"

"कोई कारण तो नहीं।"

"आखिर इस तरह भटकने से फ़ायदा?"

"फ़ायदा नुक़सान का ख़याल ही दिमाग़ में नहीं आया।"

"तो यों कहिये—घर की ज़िमीदारी है, बाप दादे कमाकर रख गये हैं। क्या परवाह है?"

सुधीन्द्र ने हँसकर कहा—"मुझे राजाबहादुर न समझिये। मैं बहुत ग़रीब आदमी हूँ।"

"क्या मुजायक़ा है? ग़रीब क्या दुनिया में रहते नहीं? दिल अमीर होना चाहिये।"

"मेरा दिल भी मेरे ही जैसा ग़रीब है।"

"अगर सचमुच आप जैसा है, तब तो बहुत ख़ूबसूरत होगा। जिसपर जायगा उसके नसीब खुल जायेंगे। कहिये, बहूजी घर में हैं?"

सुधीन्द्र इस प्रश्न की प्रतीक्षा ही में थे। इस बार चौंके नहीं। बोले "है।"

"कैसी हैं ?"

"अच्छी हैं।"

"आप प्यार नहीं करते ?"

सुधीन्द्र का कण्ठ काँपा। पर उन्होंने स्थिर स्वर में कहा—"करता हूँ।"

"तब आप उन्हें अकेला छोड़ यों कैसे भटक रहे हैं।"

"आप लोगों के दर्शन भी किसी तरह हों।"

राजदुलारी हँस पड़ी। उसने कहा—"आख़ाह! देखा, हमलोगों का असर—कि आप भी पैंतरा बदलकर बातें करना सीख गये।"

सुधीन्द्र हँसकर उठ खड़े हुए। चलती बार उन्होंने पीठ फेरकर राजदुलारी को देखा—वह एकटक उन्हीं को देख रही थी। उनके जाने पर वह चुपचाप मसनद पर लेट गई। उसे ऐसा प्रतीत हुआ—कि उसकी वेश्यावृत्ति मर-सी गई है। और उसके चिर शून्य हृदय-सिंहासन पर सुधीन्द्र आसीन होगये हैं। वह सुधीन्द्र की बात सोचती-सोचती सो गई।

———

२४

राजाबहादुर एक अजब मन चले आदमी थे। इनकी उम्र ४० को पार कर गई थी, पर देखने में खूब हट्टे-हट्टे करारे थे, चेहरे पर फ्रेंचकट दाढ़ी थी। बड़ी-बड़ी आँखें, लम्बा क़द, खुला कण्ठ-स्वर और प्रभावपूर्ण डील डौल था। बोलने में बड़े हँसमुख, परन्तु राजापन तो उनकी नस-नस में था ही। बारात

कलकत्ते जा रही थी। बड़ी धूम-धाम थी। साथ में कोई एक हज़ार बाराती थे। सटर-पटर नौकर-चाकर, ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे भी बहुत थे। प्रबन्ध कुछ न था। स्पेशल ट्रेन फर्स्ट सैकेन्ड क्लास की तैयार थी। उसमें नौकरों के लिये कुछ थर्ड क्लास डब्बे जुड़े थे। सुधीन्द्र उन्हीं में से एक में, एक साधारण कुर्ता धोती पहने बैठे थे। राजा बहादुर से यह कहकर उन्होंने आज्ञा माँग ली थी कि नौकरों पर निगरानी करने को एक विश्वस्त आदमी की ज़रूरत है। सुधीन्द्र-जैसे विश्वस्त पुरुष यदि स्वेच्छा से थर्डक्लास में जाय, नौकरों पर निगरानी रखे तो भला इसमें राजाबहादुर को क्या आपत्ति हो सकती है।

एकबार चलती बार उन्होंने सुधीन्द्र से यह कहा अ श्य था कि यदि वे उनके साथ फर्स्टक्लास में रहें तो अच्छा होगा—पर यह केवल उनका शिष्टाचार था। सुधीन्द्र के वहाँ आर्सीन होने से वे बहुत खुश थे।

नौकरों के साथ बैठकर सुधीन्द्र ने धीरे धीरे उनसे मित्रता के भाव पैदा करने प्रारम्भ किये। राजा साहेब का एक खास मुँहलगा नौकर था. उसका नाम था रामचरण। वह बड़ी धूमधाम से सब पर रोब गाँठ रहा था। गाड़ी चल दी थी, मगर उसकी ज़बान और हाथ पैर अब भी चल रहे थे। वह सभीको डाट रहा था। रसोइये को उसने एक डाट देकर कहा—"तुम उल्लू की भाँति वहाँ बैठे बैठे क्या कर रहे हो। उठो, ज़रा एक बार सब असबाब को देख भाल डालो। कोई अदद खोगया तो मुझसे जबाब तलब होगा, तुम लोगों का क्या बिगड़ेगा। आखिर तुम लोगों की तो कुछ इज्जत-आबरू है नहीं। क्या सभी तुम-से ही हैं।"

रसोइया महाराज मजे से तम्बाखू पी रहे थे, वे तनककर

बोले—'एक तुम्हीं तो आबरूवाले रह गये हो ? जो तुम्हें न जानता हो उसे कहो—चुप नहीं बैठते जाकर।"

राजा बहादुर के बटलर को भला ताव कहाँ ? उसने आस्तीन चढ़ाकर कहा—'दो कौड़ी का गुलाम' बराबरी करता है।"

रसोइये ने माथे पर आँखें चढ़ाकर कहा—"अरे वाहरे, इज्जतदार, रहने दे, तेरे बाप तक की हैसियत मैं जानता हूँ।"

बटलर महाशय का क्रोध का पारा एकदम चोटी पर चढ़ गया। वह दाँत पीसकर कुछ कहनेवाला ही था, कि सुन्धीद्र ने हँसकर कहा—

"माफ़ करो भाई, आपस में इस तरह मत लड़ो। तुम भी नौकर, यह भी नौकर, फिर लड़ने से क्या लाभ होगा ? तुम्हें तो मिलकर प्रेम से रहना चाहिये। इसी में आराम पा सकते हो।"

रामचरण ने नर्मी से कहा—"आप ठीक कहते हैं बाबूजी, मगर देखिये तो, यह ज़बान कैसे चलाता है।"

रसोइया महाराज ने हाथ ऊँचा करके कहा—"क्या किसी का दिया खाते हैं, जो चुप रहें। कहेंगे और लाखों में कहेंगे।"

सुधीन्द्र ने उसके पास पहुँचकर कहा—"महारज, कहना-सुनना ही है, तो किसी दुश्मन से कहो। आपस में क्यों लड़ते हो ?"

"बाबूजी, यह सभी को गुलाम समझता है। सब पर रोब गाँठता है।"

सुन्धीन्द्र ने उसका हाथ दबाकर कहा—"भाई मेरे, इसमें तुम्हारी और इनकी, दोनों की भूल है। रुआब गाँठने से यह

मालिक न हो जायगा, और तुम भी जो कुछ हो, वही रहोगे।"

"यही बात इससे कहिये।"

"हम तो सभी से कहते हैं। तुम लोगों को यह जानना चाहिए, कि जब तक बराबरीवालों में प्रेम और एकता नहीं होगी, तुम लोग कभी भी जीवन में सुखी नहीं हो सकते।"

रसोइया ने कहा—'हम मालिक का नमक खाते हैं, इसलिये मालिक का हुक्म अच्छा-बुरा सहन कर सकते हैं, पर सब का नहीं। यह भी तो हमारी ही भाँ त नौकर है।"

"नौकर तो है, पर तुम जानते हो कि लाट साहेब से लेकर अदना सिपाही तक, सभी सरकार के नौकर हैं, पर सभी अपने-अपने अफ़सरों का हुक्म मानते हैं। यदि हुक्म न मानें, और यही कहें कि हम सरकार के नौकर हैं, सरकार का हुक्म मानेंगे, तुम्हारी नहीं, तो क्या इस भाँति काम चल सकता है?

रसोइया ने दबकर कहा—"तो क्या यह हमारा अफ़सर है।"

"नहीं भाई, यह मैं नहीं कहता। मैं यह कहता हूँ, कि तुम लोग परस्पर प्रेम से मिलकर रहो। अपने-अपने कार्यों को मन लगाकर करो, सुख-दुःख में एक-दूसरे की सहायता सेवा करो, तभी तुम्हारा जीवन सुखी हो सकता है।"

सब लोग सुधीन्द्र के चारों ओर इकट्ठे होगये थे। एकने कहा—नौकरी ही पाप की जड़ है। सुधीन्द्रने कहना शुरू किया—

"यदि नौकरी करना पाप है, तो चोरी करना धर्म समझना चाहिये। पर चोरी करने से बचने के लिये आदमी

नौकरी करता है। नौकरी वही कर सकता है, जो परले दर्जे का इमानदार और परिश्रमी आदमी है। और जो आदमी ईमानदार और परिश्रमी है, वह संसर के सभी मनुष्यों में श्रेष्ठ है। वह आदमी जो आलसी की भाँति गद्दी पर पड़ा है, परिश्रम नहीं करता, इमान-दार भी नहीं—लाखों रुपयों का स्वामी होने पर भी अभागा और दरिद्र है। तुमलोग नौकरी करना अपने को छोटा बनना समझते हो, यही तुम्हारी भूल है। अपने को छोटा समझकर यदि तुमलोग अपने गौरव और प्रतिष्ठा को कम न करो—तो दूसरे कब तुम्हारी प्रतिष्ठा कम कर सकते हैं।'

रसोइया महाशय ने हँसकर कहा—

"बाबूजी, आपस की फूट ही सब झगड़ों की जड़ है।"

'हाँ', सुधीन्द्र ने नर्मी से कहा—"बिलायत में नौकरी की बड़ी बड़ी समाजें हैं, वहां वे परस्पर मिलते हैं, अपनी उन्नति की बातें सोचते हैं। अखबार पढ़ते हैं। मालिक लोग उन पर जुल्म नहीं कर सकते, उन्हें समाज में कोई नीच नहीं समझता उनके अखबार हैं, जिनमें करोड़ों रुपये की पूँजी लगी है। उनपर जुल्म करने की किसी की ताव नहीं।"

इस समय सुधीन्द्र के पास बहुत से आदमी इकट्ठे हो गये थे, सब लोग मन लगाकर उनकी बातें सुन रहे थे। एक बूढ़े कहार ने कहा—

"महाराज, नौकर-नौकर है, मालिक मालिक है। सब की बराबरी थोड़े ही हो सकती है।"

"वाह, अरे भाई नौकर और मालिक दोनों आदमी हैं। दोनों के आँख, नाक, कान, मुँह एक-से हैं। नींद, भूख और

आवश्यकताएँ भी एक सी ही हैं। सिर्फ काममें फर्क है। यह मैं प्रथम कह चुका कि जो कोई मेहनत और ईमानदारी से काम करेगा वही प्रतिष्ठा के योग्य है।"

"क्या बिलायत में सब लोग बराबर हैं। वहाँ नौकर, मजदूर, सेठ सब बराबर की तरह रहते हैं?"

"हाँ।"

"वर्तमान रूप में स्त्री पुरुष सभी मज़दूरी करते हैं। तभी उन्हें रोटियाँ मिल सकती हैं। इसलिये कल-कारखानों में काम करनेवाली स्त्रियों को ४ मास की और आफ़िसों में काम करने वालियों को ३ मास की सवेतन छुटी बच्चा प्रसव करने के लिये मिलती है। डाक्टरी पेशा तथा नाचनेवालियों को भी ४ मास की छुट्टी मिलती है। गर्भावस्था में उन्हें नियमित रूप से अस्पताल में जाना पड़ता है। और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें विशेष प्रकार का भोजन भी दिया जाया है। यदि कहीं गर्भवती स्त्री को क्षय रोग की शिकायत हुई तो स्पेशल अस्पताल में उसकी चिकित्सा की व्यवस्था की जाती है। इस प्रकार गर्भवती स्त्रियों के स्वास्थ्य पर पूरा ध्यान दिया जाता है।"

अब बटलर महाशय ज़रा लियाक़त दिखाकर बोले—

"भला जी, जब वहाँ औरत मर्द दिन-रात काम करते हैं, तब उनके बच्चों का क्या हाल होता होगा। जनने के लिये तो उन्हें खैर छुट्टी मिल गई। पर उन्हें पालना पोसना भी तो है, पढ़ाना-लिखाना भी है। हमारी तो घरवाली एक दिन को खाट में पड़ जाय तो उस दिन हम बच्चों के ही हो रहते हैं। नाक में दम हो जाता है।"

सुधीन्द्र ने कहा—"उनके बच्चों के जन्मने के बाद उनकी

देखरेख बच्चों के अस्पताल में इतनी अच्छी होती है, कि वहाँ प्रति एक हज़ार में सिर्फ़ १२८ बच्चे मरते हैं। प्रसव के बाद जब माता काम करने लगती है, तब भी उसे १॥ घण्टे की छुट्टी बच्चे के खिलाने के लिये मिलती है। इसके लिये कारख़ानों के निकट ही कमरे बने हुए हैं। जहाँ बच्चे पालनों में रखे जाते हैं। इसके बाद बच्चे धात्रीगृहों में रखे जाते हैं।"

"ये धात्रीगृह ३ विभागों में विभक्त होते हैं। पहले में २ से ९ मास तक के बच्चे रखे जाते हैं। यहाँ एक कमरे में अधिक से अधिक दस बच्चे रखे जाते हैं। वे खूब स्वच्छ मोटे कपड़े के बिछौनों पर सुलाये जाते हैं। एक लाल कुर्ता के अलावा वहाँ के बच्चे कुछ नहीं पहनते। उनकी छाती और कंधे इसलिये खुले रहते हैं, कि जिससे अधिक से-अधिक स्वच्छ वायु उनके शरीर को लगे। वहाँ के सभी दरवाज़े और खिड़कियाँ खुली रहती हैं। जिनमें मक्खियाँ न घुसने के लिये जाली लगी रहती है। उन्हें परीक्षा किया हुआ स्वच्छ दूध ही पीने को मिलता है।"

"दूसरे भाग में ९ से १८ मास की आयु तक के बच्चे रखे जाते हैं। यहाँ उन्हें खड़ा होना तथा धीरे धीरे चलना सिखाया जाता है तीसरे भाग में १८ मास से ३ वर्ष तक के बच्चे होते हैं। उनके लिए छोटी-छोटी कुर्सियाँ और मेजें हैं, जहाँ वे खेलते और परस्पर बातचीत करते हैं। वहाँ उन्हें अच्छी आदतें भी सिखाई जाती हैं।"

रसोइये ने कहा—"क्या वे बच्चे जन्म भर वहीं रखे जाते हैं।"

"नहीं, ३ वर्ष तक वहाँ रखकर उन्हें किण्डरगार्टन में शिक्षा के लिये भेजा जाता है। जहाँ वे सात वर्ष की आयु

तक रहते हैं। वहाँ उनकी प्रारम्भिक शिक्षा का प्रारम्भ होता है।"

"इसके लिए फ़ीस-वीस भी तो जमा करनी पड़ती होगी?"

"नहीं, यह सब सरकार के खर्च से होता है।"

रसोइये महाराज खिलखिलाकर हँस पड़े। उन्होंने कहा—"तब तो बड़ी बहार है। हम रमसुखवा की फ़ीस देते-देते ही मर मिटे। तिसपर खत पढ़ना नहीं आया। चलो, चरन, रूस में ही चला जाय।"

बटलर को ही चरन कहकर सम्बोधित किया था। बटलर ने खुश होकर कहा—"वहाँ गुलाम तो नहीं कहोगे। याद रखो, गुलाम कहा और पीटे गये।"

इसपर सब खिलखिलाकर हँस पड़े। बटलर महाशय ने एक तोता मारका सिग्रेट निकालकर रसोइया को देते हुए कहा—"पीओ महाराज. अरे हमारी-तुम्हारी लड़ाई क्या—हमारा-तुम्हारा १०-१० बरस का जोड़ है; कोई नये थोड़े ही हो।"

रसोइये ने सिग्रेट सुलगाते हुए कहा—"अरे, चार बर्तन हों, तो खड़कें ही। इसमें बुरा मानने की क्या बात है?"

सुधीन्द्र ने देखा—सब प्रसन्न हैं। वे स्वयं बहुत प्रसन्न हुये। सोचने लगे, ये सब कैसे सरलहृदय पुरुष हैं, कितनी जल्द घुल-मिल गये। यदि इन्हें शिक्षा दी जाय, इनका सङ्गठन किया जाय, तो ये लोग समाज के एक उत्कृष्ट अंग बन सकते हैं। वे इसी विषय की चिन्ता करने लगे। उस चिन्तन में थककर वे सो गये।

२५

विवाह की धूमधाम से हमें कुछ मतलब नहीं। राजा बहादुर के बेटे का व्याह धूमधाम से न होना ही आश्चर्य की बात थी। इस विवाह में बहुत व्यस्त रहने, अधिक परिश्रम करने और कुसमय खाने-पीनेसे सुधीन्द्र फिर बीमार पड़ गये। बारात ठीक समय पर लौट आई, किन्तु सुधीन्द्र यात्रा के योग्य न थे। सुयोग्य राजा बहादुर ने मित्र की तीमारदारी को एक नौकर छोड़ दिया, डाक्टर की भी व्यवस्था कर दी और उनका बिल उन्हीं के पास भेज दिया जाय, यह सब प्रबन्ध करके बेटे का व्याह कर वे घर लौट आये।

सुधीन्द्र को इस बार ज्वर के साथ सन्निपात के लक्षण प्रतीत होने लगे। धीरे-धीरे वे बिलकुल बेसुध होगये। जिस मकान में उनका पलङ्ग था, वहां से गङ्गा की धारा स्पष्ट दीख पड़ती थी। अपनी विकारावस्था में वे एक-टक उस गङ्गा की धारा को देखते रहते। उन्हें ऐसा प्रतीत होता था; मानो गङ्गा की धारा पूर्व की ओर न बहकर, आकाश-मार्ग को जा रही है। एक सिद्ध पुरुष हाथ में त्रिशूल लिये असंख्य जीवों को उस प्रवाह में बहने के लिये उत्तेजना दे रहे हैं। नर-नारी बालक और पशु भी उस अथाह प्रवाह में बहे जारहे हैं। सुधीन्द्र देखते, सिद्ध पुरुष बार-बार उन्हे दिवंगत होने को बुला रहे हैं। जब-जब वे उन्हें बुलाते, वे बलपूर्वक उठने की भारी चेष्टा करते। तब ५ ६ मनुष्य भी बड़ी कठिनाई से उन्हें क़ाबू में कर सकते थे।

राजा बहादुर जो कुछ कर गये थे, वह ऐसे नाजुक मरीज के लिए बहुत ही नगण्य था धीरे उनकी चिकित्सा शिथिल

होती गई और उनका रोग गम्भीर होता गया। सुधीन्द्र का प्राण सङ्कट में था और उनके घर पर ख़बर देनेवाला भी कोई न था।

राजदुलारी विवाह से निपटकर कलकत्ते ठहर गई थी। मुजरे में उसने सुधीन्द्र को देखा नहीं था—वह कहाँ है, इसका उस हुल्लड़ में पता भी नहीं लगा। अब एकाएक उसने सुना, कि वे बहुत बीमार पड़े हुये हैं। यह सुनते ही राजदुलारी उन्हें देखने को आई और उनकी दशा देखकर उसने यत्न से उनकी चिकित्सा सेवा प्रारम्भ कर दी।

१७ दिन तक सुधीन्द्र बेहोश रहे। उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं था, कि कहाँ हैं। राजदुलारी रात-दिन उनकी शैया के पास बैठी रहती। एक बार दवा पिलाते हुए सुधीन्द्र ने उसकी बाँह चबा डाली, एक काँच का गिलास चबा डाला। राजदुलारी को उनके मल-मूत्र भी साफ़ करने पड़ते थे। उसकी सेवा से सुधीन्द्र धीरे-धीरे संज्ञा लाभ करने लगे।

एक दिन प्रातःकाल उनकी जब आँखें खुलीं, तो उन्हें ठीक-ठीक संज्ञा थी। उन्होंने देखा—बगल में एक छोटी सी शैया पर कोई लाल दुशाला ओढ़े सो रहा है, तब तक भी उनका दिमाग़ चकरा रहा था, किन्तु वे कुछ विचार सकते थे। वे बड़ी देर तक उस दुशाले पर का सुनहरा काम ध्यान से देखते रहे। इसके बाद जब वे जगे, तो उनकी प्रकृति ठीक थी, और वे सोच विचार सकते थे। घड़ी ने ९ बजाये। उन्होंने देखा, डाक्टर आये हैं, उनके साथ एक भद्र महिला भी है। सुधीन्द्र ने बड़ी देर तक उसकी तरफ़ देखकर उसे पहचान लिया। वे उत्तेजना के मारे उठना चाहते थे, पर उठ न सके। वे बड़बड़ाकर रह गये। उन्होंने पहचान लिया—वह राजदु-

लारी है। वह उनके सिरहाने धीरे से उनका सिर गोद में लेकर बैठ गई। डाक्टर रोगी की परीक्षा करने लगे और सुधीन्द्र एक-टक राजदुलारी को देखने लगे।

नुसखा लिखकर और पथ्य-पानी की सब व्यवस्था करके जब डाक्टर उठे, तो उन्होंने प्रसन्न होकर कहा—"ज्वर बिलकुल नहीं है, हालत सब तरह अच्छी है, कोई चिन्ता की बात नहीं, एक हफ्ते में बिलकुल ठीक हो जायँगे।"

डाक्टर के जाने पर राजदुलारी धीरे-धीरे सुधीन्द्र के माथे पर हाथ फेरने लगी। सुधीन्द्र को उसका यह स्पर्श अमृत के समान प्रतीत हुआ। उन्होंने चुपचाप हाथ बढ़ाकर राजदुलारी का हाथ धीरे से पकड़ लिया। आनन्द से विह्वल होकर राजदुलारी की आँखों से आँसू टपक पड़े। उसने धीरे से कहा—

"क्या मुझे पहचानते हो ?"

"पहचानता हूँ, आप यहाँ कब से हैं ?"

"क्या इससे प्रथम कभी नहीं देखा ?"

"शायद स्वप्न में या सचमुच अभी देखा। कोई लाल शाल ओढ़े सो रहा था, क्या वह आप ही थीं, ?"

'हाँ, मैं यहाँ ११ दिन से हूँ। ईश्वर ने आपकी प्राण-रक्षा की, बड़ी बात हुई।"

"क्या मैं बहुत बीमार हो गया था ?" सुधीन्द्र चारों तरफ आँखें घुमा-घुमाकर देखने लगे। धीरे-धीरे उन्हें सब बातें याद पड़ने लगीं। राजा बहादुर की शादी की याद करके वे बोले—

'आह ! मैं कितने दिन से यहाँ पड़ा हूँ।..... "

सुधीन्द्र चुपचाप आँखें बन्द कर सो गये। राजदुलारी

उसी भाँति बैठी, उनके सिर पर हाथ फेरती रही। उस समय सुधीन्द्र रोग-मुक्त होकर प्रथम बार ही सुख की नींद सोये।

२६

सुधीन्द्र का मस्तिष्क इस रोग में इतना कमजोर होगया था, कि वे बहुत सोचने पर भी सुधा को स्मरण न कर सके। जब उनके सामने उनके स्वसुर साहिब का पत्र रखा गया, उसे पढ़कर वे बड़ी देर तक यही सोचते रहे, कि ये कौन सज्जन हैं। इस समय उनके स्वसुर की बदली अमृतसर को होगई थी। उस पत्र में उनके कुशल-समाचार के हालात पूछे थे, सुधा अच्छी है? यह भी लिखा था। उन्हें सीधे अमृतसर जाना चाहिये, यह भी लिखा था। सुधीन्द्र उस दिन शाम तक यही सोचते रहे, कि यह पत्र किनका है। सुधा का नाम परिचित सा है। मानों सुधा, रायसाहिब, कुछ और लोगों की स्मृतियाँ उनके मस्तिष्क में उदय होती थीं, परन्तु वे यह याद नहीं कर पाते थे, कि इन सब से उनका क्या सम्बन्ध स्थापित हुआ है। इसके बाद उन्होंने माता और भाई की चिट्ठियाँ पढ़ीं। एकाएक उन्हें माया की याद आई, और उसके बाद माया की मृत्यु तथा सुधा के विवाह का ध्यान आया। सुधा से विवाह होने का ध्यान करते ही वे एकदम फूट-फूटकर रो पड़े। बहुत से विचित्र विचार उनके मस्तिष्क में टक्कर मार रहे थे। वे

यह सोच रहे थे, कि यदि मैं इस विदेश में मर जाता, तो सुधा की क्या दशा होती! वे रोते-रोते ही सो गये, और बड़ी देर तक सोते रहे। जब जाग कर उठे, तो उन्होंने पैरों के पास एक युवक को बैठे देखा। उन्होंने पहचाना, वह मधुसूदन थे। सुधीन्द्र अश्रु-प्रवाह को न रोक सके। वे उठकर उनसे लिपट गये। मधुसूदन भी रोये। स्वस्थ होने पर सुधीन्द्र ने देखा—उनके सिरहाने, पलंग की पट्टी की एक कोर पर राजदुलारी बैठी है। उसे देखते ही सुधीन्द्र ने उसे प्रणाम करना चाहा, पर दुलारी ने प्रथम ही नत-मस्तक होकर प्रणाम किया। मधुसूदन दुलारी की आकृति देखकर यह समझ गये थे, कि वह वेश्या है—उन्हें इस बात पर घोर आश्चर्य हो रहा था, कि सुधीन्द्र जैसों के साथ भी ऐसी पतिता स्त्रियों का कोई सम्बन्ध स्थापित हो सकता है? पर वे कुछ कह न सके। बीच-बीच में छिपी नजर से वे दोनों को भाँपने लगे। उन्होंने दबी जबान से उसका परिचय पूछा। सुधीन्द्र ने जिस भाव और भाषा में परिचय दिया, उससे मधुसूदन को और भी आपत्ति हुई। परन्तु वे इसपर अधिक विचार न कर सके। सुधीन्द्र बहुत दुर्बल होगये थे, परन्तु मधुसूदन को देखते ही सुधा का उन्हें स्मरण हो आया—वही केसरिया परिधान, वही पीपल के पत्ते की भांति कांपता हुआ उसका गात्र, उन मृदुल गौरवर्ण कलाइयों में मोतियों से जड़ी चूड़ियां, वह अपरिमित शोभा-सौन्दर्य और न जाने क्या-क्या। सुधा को स्मरण कर उनके नेत्रों से झर-झरकर जल बहने लगा। उन्होंने बहुत साहस सञ्चय करना चाहा, कि सुधा के विषय में कुछ पूछें, पर उनके मुँह से बात नहीं निकली। उन्होंने मधुसूदन का

हाथ अपने हाथ में लेकर छाती पर रख लिया। मधुसूदन ने आंखों में आंसू भरकर कहा—"सुधा भी आने की जिद कर रही थी, मगर लाना ठीक नहीं समझा। उसने बहुत जिद की है। आपको अब सीधा अमृतसर ही चलना होगा। पिताजी और माताजी ने भी बहुत कह दिया है।"

राजदुलारी अब तक चुप बैठी थी। उसने कहा—

"अभी कमजोरी तो है, पर आपको अब यहां से चल देना ही मुनासिब है। अब भाई साहब भी आगये हैं। इसलिये मुझे आज्ञा हो, तो मैं घर चली जाऊँ।"

सुधीन्द्र ने मधुसूदन से सलाह ली। मधुसूदन राजदुलारी की इस घनिष्टता को न तो समझ सकते थे, न पसन्द करते थे। उन्होंने कहा—'क्या हर्ज है, आपको जाने दीजिये।"

सुधीन्द्र ने मानों उनकी बात सुनी ही नहीं। उन्होंने कहा—"नहीं हमलोग साथ ही चलेंगे। परन्तु क्या मैं चल सकने योग्य हूँ?"

राजदुलारी ने गम्भीरता से कहा—'यह बिना डाक्टर की सम्मति के कैसे कहा जा सकता है।" सुधीन्द्र की इच्छा देखकर मधुसूदन डाक्टर को बुलाने चले गये।

राजदुलारी ने एकान्त पाकर कहा—"यदि आपको दो-चार दिन ठहरना ही हो, तो आप मुझे जाने दीजिये। हम लोगों का साथ चलना ठीक नहीं। भाई साहब को शायद यह पसन्द न होगा।"

"मैं उन्हें समझा दूंगा।" सुधीन्द्र ने उसका हाथ पकड़ कर कहा—

एक कोमल भावना से ओतप्रोत होकर राजदुलारी कुछ देर चुप बैठी रही। सुधीन्द्र ने कहा—

"मधुसूदन क्या प्रथम तुम्हारे ही पास पहुँचे थे ?"

"हां, वे तुम्हें ढूँढ़ते फिर रहे थे। मैंने बैठाकर उनका परिचय प्राप्त किया, तब मैं उन्हें ले आई। मेरा परिचय प्राप्त करके मालूम होता है, उन्हें ग्लानि उत्पन्न हुई है।"

"वे नहीं जानते, कि आप मेरी प्राण-रक्षिका हैं ?"

"यहां आप कौन हैं, तुम कहिये।"

"नहीं, आप सदैव ही मेरी आदर और श्रद्धा की पात्री रहेंगी। केवल इसीलिये नहीं, कि आपने मेरे जीवन की रक्षा की है, वरन् इसलिये भी, कि आपका व्यक्तित्व इसी प्रतिष्ठा के योग्य है।"

मधुसूदन डाक्टर को ले आये। डाक्टर ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"आप अब बिलकुल अच्छे हैं। खुशी से यात्रा कर सकते हैं। सिर्फ कमजोरी है, वह एक दो सप्ताह में दूर हो जायगी। मैं आपको एक शक्तिदायक दवा लिख देता हूँ।"

राजदुलारी ने कहा—"डाक्टर साहब, अब कोई भय तो नहीं है ?'

"नहीं" कहकर उन्होंने अपना हैण्ड-बैग उठाया, और चल दिये। डाक्टर के बाद ही राजदुलारी भी उठ गई।

एकान्त पाकर मधुसूदन ने कहा—"इस औरत से आपसे इतनी घनिष्टता कैसे होगई ! यह तो वेश्या है न ?"

"हां, परन्तु यह एक विदुषी, बुद्धिमती और प्रतिष्ठित महिला हैं। इन्हींने मेरी प्राण-रक्षा की है। ये न होतीं, तो शायद यह शरीर भी न बचता।'

इसके बाद उन्होंने धीरे-धीरे राजा बहादुर की शादी में

आने, वहां उसका परिचय होने और बातचीत की सब बातें कीं। यह सुनकर भी मधुसूदन का सन्देह न गया। वे चुप हो गये।

उस दिन वहां से घर चल देने का निर्णय होगया, और सन्ध्या समय राजदुलारी, सुधीन्द्र और मधुसूदन एक ही डब्बे में बैठकर रवाना होगये।

२७

सुधीन्द्र सीधे अमृतसर पहुँचे। विवाह के बाद सुसराल जाने का यह प्रथम अवसर था। उनके पैर कांप रहे थे। माता को उन्होंने सूचना दे दी थी। यहां भी तार भेज दिया था। घर भर में हलचल मची थी। सुधीन्द्र सोच रहे थे अब तो सुधा से साक्षात्कार करना ही होगा, वे सुधा की बात सोच रहे थे, वे रास्ते भर उसी की बात सोचते आये। अब वे उसे देखने, उसे एक बार छाती से लगाने को अधीर हो उठे।

वे मोटर से उतरकर धीरे धीरे बँगले की सीढ़ी पर चढ़े। राय साहब बरांडे में खड़े थे। सुधीन्द्र ने उनके पैर छुए। राय साहेब ने आँखों में पानी भरकर कहा—इतने दुबले हो गये—खबर भी नहीं दी। उन्होंने धीरे से उन्हें आराम-कुर्सीपर बैठाया। मधूसूदन अस्बाब उतार कर सीधे अन्तःपुर में जा पहुँचे, वहाँ उन्होंने यशोदा को जलपान और प्रबन्ध-सम्बन्धी दर्जनों हिदायतें दे दीं। यशोदा ने आठ दिन से मधुसूदन को

नहीं छुआ था। उसने उनकी सब बातों को मानो अनसुनी करके कहा—ज़रा इधर तो आओ, एक बात है। मधुसूदन को भीतर ले जाकर वह उन्मत्त की भाँति लिपट गई। वह रोने लगी। इतनी देर में क्यों आए। इतने दिन क्यों लगाए। यही उसका भीषण आरोप था। मधुसूदन ने पत्नी को हृदय से लगाकर बार बार चूमा। यशोदा शान्त होकर अपने काम में लग गई। मधुसूदन बाहर आये।

सुधीन्द्र की सास आकर उनके पास बैठ गई। धीरे-धीरे वह बहुत-सी बातें पूछने लगीं—सुधीन्द्र ने उस मातृ मूर्ति की पीठ के पीछे छिपी दो आँखें देखी। उन्होंने कहा—वह कौन है? "राधा।" गृहणी ने हँसकर कहा—बहुत सीधी बनी बैठी है, तीन दिन से दम नहीं लेने दिया—जीजी जी की रट लगा दी थी, अब छिपकर बैठी है। 'राधा' की धवलदन्त पंक्ति की एक झलक देखी और वह वहाँ से भाग गई।

वह सीधी सुधा के पास गई। वह चुपचाप बैठी कोई पुस्तक पढ़ रही थी, पर उसका हृदय धड़क रहा था। पति के आगमन की सूचना मिल चुकी थी। राधा ने अन्धी की भाँति उसके ऊपर गिरकर कहा—जीजी, वे तो बहुत कमज़ोर हो गये हैं। सुधा कुछ बोली नहीं। राधा वहाँ से उठकर भाभी के पास पहुँची, वह चाय का प्रबन्ध कर रही थी। यशोदा ने कहा—"कहो जीजा जी कैसे हैं?"

'बिल्कुल भैया जैसे, पर बहुत कमज़ोर हो गये हैं।'
चाय ट्रे में लगाती हुई उसने कहा—
"बीमारी कितनी भोगी—लो चाय दे आओ।"
राधा ने कहा—"ना मैं न जाऊँगी।"

"वाह अच्छी साली हो, जीजा जी के पास जाते भय लगता है। जाओ।"

'राधा, नहीं गई। चपल चञ्चल लड़की सुधीन्द्र से अपने अर्द्ध-विकसित यौवन को छिपाने की जगह ढूँढ़ रही थी, मानो उसे ऐसा प्रतीत होता था, कि उसके शरीर में कुछ ऐसी चीज़ है जिसे छिपाना चाहिए।

यशोदा के बहुत अनुरोध से राधा चाय का ट्रे लेकर सुधीन्द्र के पास आई। उसकी माता अभी तक वहीं बैठी थी, चाय का ट्रे पास खसकाकर राधा भागी। सुधीन्द्र ने बाधा देकर कहा—"राधा भागती क्यों हो ? क्या डर लगता है ?"

राधा रुक गई। वह बोली नहीं—माता के पीछे छिप गई। सुधीन्द्र चाय पीने लगे।

मधुसूदन खूब खटपट में पड़े थे। बहुत-सी बातों की व्यवस्था करते फिर रहे थे। उन्होंने देखा माता सुधीन्द्र को बातों से दम मारने नहीं देती—उन्होंने कहा—अम्मा, अब इन्हें ज़रा आराम करने दो। डाक्टर का कहना है-इन्हें आराम की बहुत ज़रूरत है। वे सुधीन्द्र को उठाकर भीतर ले गए। वहाँ पलङ्ग पर दुग्ध-फेन के समान शैया बिछी थी। उसपर माया के अवसान के बाद प्रथम बार सुधीन्द्र सुख से लेटे। उस सुखद पलङ्ग पर लेटते ही उनका हृदय हाहाकार करने लगा। परन्तु सुधा की स्मृति उन्हें शान्ति देने लगी। वे सोचने लगे सुधा के क्या अभी दर्शन होंगे।

सुधा इस समय भी अपनी कोठरी में बैठी अपनी पुस्तक पढ़ने में संलग्न थी। उसे मानो आज किसी बात की सुध नहीं

थी। वह सबसे छिपकर उस परम सुख की अनुभूति किया चाहती थी—जो उसे आज प्राप्त हुआ था।

यशोदा ने वहीं पहुँचकर कहा—

"देवीजी किस ध्यान में हो, देवता, घर आ गए हैं, उठो पूजा ऊजा करो।

सुधा चुपचाप सिर झुकाये बैठी रही। यशोदा ने कहा—

"अब हम ग़रीबों से बोलोगी भी नहीं।"

सुधा ने किंचित हँसकर कहा—"भाभी सताती क्यों हो?"

"तब उठो, देवता की पूजा कर आओ।"

"मैं पूजा ऊजा कुछ नहीं जानती।"

"वह मैं सिखा दूँगी।"

"मुझे सीखने की ज़रूरत नहीं है।"

"देवता को है।"

"जाओ भाभी तंग न करो?"

"हाँ जी, अब तो हम काँटे की भाँति खटकने लगे न।"

यशोदा ने सुधा के पास बैठकर उसे गोद में ले लिया। सुधा ने आँखों में आँसू भर के यशोदा की ओर देखकर कहा—

"भाभी क्या वे बहुत बीमार हो गये थे?"

"बीमार, पहिचाने भी नहीं पड़ते।"

"अब तो अच्छे हैं?"

"अब तुम अच्छा कर दो रानी, तुम्हारा हाथ लगते ही अच्छे हो जावेंगे।"

इसके बाद यशोदा ने राधा को बलपूर्वक उठाया और उसके शृङ्गार में लग गई। सुधा की एक न चली। राधा ने भी

भाभी का साथ दिया। दोनों ने मिलकर सुधा को उबटन करके स्नान कराया, सिर गूथा, स्वच्छ साड़ी पहिनाई और धकेल-धकालकर सुधीन्द्र जिस कमरे में सोये थे पहुँचा दिया।

२८

विशुद्ध चाँदनी रात थी, उसकी रूपहली किरणें पृथ्वी पर सुधा बरसा रही थीं। सुधीन्द्र छत पर सुख से सो रहे थे। उनका पलँग फूलों से परिष्कृत किया गया था, तकिया क़ीमती सुगन्धों से परिपूर्ण था, सिरहाने शीतल जल की सुराही रखी थी, सुधीन्द्र का थकित दुर्बल शरीर था। ठण्डी हवा के झोके खाकर वे मीठी नींद सो रहे थे। यह सब राधा की कारस्तानी थी, राधा और यशोदा ने मिलकर षड़यन्त्र रचाया, उ ब राधा सुधीन्द्र की शैय्या को फूलों से सजाकर सुगन्धित करने में व्यस्त थी, उस समय यशोदा सुधा का फूलों से शृङ्गार कर रही थी। उसने सुधा के लाख रोकने पर भी फूलों से उसकी चोटी गूदीं थी, जूही और मोलसरी की झुमकियाँ पहनाई थी, गुलाब का एक बड़ा सा फल उसके पिन में खोंस दिया था, उस चन्द्रमुखी का यह अनोखा शृङ्गार कर जब यशोदा ने उसके शुभ ललाट पर कुँकुम का टीका लगाया तो सुधा भावावेश में भाभी को लिपट गई। यशोदा सुधा से बहुत ही प्यार करती थी। उसने आनन्दातिरेक से आँखों में आँसू भरके कहा—"आज तुम्हारी सुहागरात है, स्त्री के लिये यह दिन जीवन में सिर्फ एक बार आता है, सुधा बीबी तुम्हें यह दिन शुभ हो।" उसने सुधा का मुँह चूमा। यशोदा को मानो उसका पुरस्कार मिल गया।

राधा ने आकर कहा—"भाभी वे सो रहे हैं। जीजाजी बड़े भोंदू हैं, जीजी तो सज धज रही हैं, वे सो रहे हैं। सुधा ने हँसकर उसके एक धौल जमा दी। यशोदा खिल-खिलाकर हँस पड़ी उसने सुधा के हाथ पकड़कर कहा—अब चलो उन भोंदू महाशय के पास।"

राधा तो भागकर अपनी भाभी की कोठरी में घुस गई। सुधा ने बहुत ना, ना, की पर यशोदा ने उसे ज़ीने पर चढ़ाकर द्वार बन्द कर दिया।

धीरे-धीरे सुधा पद-ध्वनि को यत्न से छिपाती स्वामी की शैय्या के पास पहुँची। देखा वे सो रहे हैं। शुभ्र चाँदनी में उनका दुर्बल पीत मुख बहुत सुन्दर, बहुत ही मधुर प्रतीत हो रहा है, वह बड़ी देर तक उस परम प्रिय मुख को देखती रही। इसके बाद उसने हाथ की पान की तश्तरी धीरे से टेबुल पर रखकर वहीं धीरे से शीतलपाटी पर बैठ गई। उसने प्रथम पति के चरणों में मस्तक नवाकर प्रणाम किया, पीछे उसने अपनी आँखें उनके चरणों में लगायीं।

कोमल और शीतल स्पर्श पाकर सुधीन्द्र की आँखें खुलीं। उन्होंने देखा—सुधा उनके चरणों पर मस्तक झुकाये बैठी है। उन्होंने आगे हाथ बढ़ाकर उस कोमल और कण्टकित हाथ को पकड़ लिया और फिर खींचकर पलँग पर बैठाया, सुधा लाज और संकोच से बेसुध हो रही थी, उसके समस्त शरीर में पसीना बह रहा था, वह आँखें बन्द किये इस प्रकार खिचकर सुधीन्द्र की छाती में चुपक गई जैसे सुई चुम्बक से चुपक जाती है। इतनी वेदना और यातना के बाद, इतने कठिन रोग से परित्राण पाने के बाद—सुधा का कोमल स्पर्श पाकर सुधीन्द्र

के मानो प्राण हरे हो गये, वे सुधा को हृदय से लगाये बेसुध से होकर पलँग पर लुढ़क गये।

सुधा के हृदय की धुकधुकी बढ़ रही थी, उसका कौमार्य भाव से परिपूर्ण यौवन उस प्रथम आलिंगन को पाकर सतेज हो गया। लाज का दुर्दम्य बाँध भी उस तेज को न रोक सका वह पति में मानो लीन हो गई।

कुछ देर में सुधीन्द्र सावधान हुए। सुधा उनके शिथिल बाहुपाश से मुक्त हो भीता चकिता हरिणी की भाँति चकित हो गई। सुधीन्द्र ने आँख उठाकर दूर आकाश में बिखरे असंख्य तारागणों को देखा। एक प्रकाशमान तारे पर उसकी आँखें अटक गई। उनकी विचारधारा का प्रवाह कुछ दूसरी ही ओर को चल दिया। धीरे धीरे उनकी आँखों से आँसुओं की धारा बह चली, गरम आँसू टपक टपककर सुधा पर बिखरने लगे। मनि की आँखों में आँसू देखकर सुधा घबराई। उसने लाज संकोच सब त्यागकर पति का हाथ पकड़ लिया— कातर कण्ठ से उस रुदन का कारण पूछना चाहा, पर उसके मुख से शब्द न निकला, वह नेत्रों में प्रार्थना भरे पति की ओर ताकने लगी। उसके होठ काँप रहे थे। सुधा की उस मुख मुद्रा को देखकर सुधीन्द्र हृदय फाड़कर रोने लगे। यह देखकर अबोध मुग्ध बालिका सुधा भी पति की गोद में सिर डालकर रोने लगी।

पाठक-पाठिकाएँ शायद ही ऐसी सुहागरात की कल्पना कर सकती हैं। सुधा को इस प्रकार फूट-फूटकर रोती देखकर सुधीन्द्र ने रोना बन्द कर भरे कण्ठ से कहा— 'तुम क्यों रोती हो सुधा ?"

सुधा रोती ही रही। सुधीन्द्र ने उसे उठाया। उसकी आँखों से अश्रुधारा बह रही थी उन्होंने उसे फिर कसकर हृदय से लगा लिया उन्होंने बारम्बार उसके अविरल आँसू पोंछकर कहा—

'सुधा रोओ मत, तुम्हें क्या दुःख है, सुधा-सुधा। बहुत बार कहने पर सुधा का कण्ठ खुला। उसने बहुत ही धीमे स्वर में काँपते-काँपते कहा—

"आप क्यों रोते हैं ?"

"आह, प्यारी !" सुधीन्द्र कुछ कह न सके, उन्होंने फिर सुधा को कसकर हृदय से लगाया। इस बार फिर वे खूब रोये, सुधा से कुछ कहते न बना, पर अत्यन्त भयभीत-चिन्तित और व्याकुल होकर पति को देखने लगी। उसकी इच्छा हुई कि वह अपने इस शृङ्गार को नोंच फेंके। उसे भाभी पर क्रोध आ रहा था। वह समझी पति को उसे देखकर—पाकर दुःख हुआ है; वह वहाँ आने के लिये अपने को धिक्कार रही थी।

एकाएक सुधीन्द्र ने उसके दोनों हाथ पकड़कर कहा—"सुधा, तुमने मुझ अभागे को जीवन-दान दिया। क्या तुम्हें मालूम है, मैं कितना बीमार हो गया था ? तुम्हारे भाग्य से ही मैं बच सका। यदि तुम मेरे जीवन में न आई होतीं, तो मैं कभी न बचता। तुम मेरे भाग्य की रानी हो !" उन्होंने सुधा को अपनी ओर खींचकर उन्मत्त प्रेम से एक मधुर चुम्बन लिया।

सुधा कृतार्थ हो गई। वह उनकी ओर न ताक सकी। सुधीन्द्र ने कहा—"सुधा, क्या बोलोगी नहीं ? मुझसे बात न करोगी ?'

सुधा ने धीमे स्वर से कहा—

"आप बहुत बीमार हो गए थे ?"

"हाँ, सुधा ।"

"ख़बर क्यों न दी ?"

"भूल गया, जैसे जगत् में मेरा कोई रहा ही नहीं ।"

सुधा कुछ देर चुप रही । फिर उसने कहा—

'अपने आदमी को ऐसे भूल जाया करते हैं ?'

"सुधा, मेरी बड़ी मूर्खता हुई, मैं तुम्हें भूल गया था ।"

सुधा रोने लगी । वह कुछ और ही समझा । उसे भाव आ गया । सुधीन्द्र ने लाड़ से उसका हाथ अपने हाथ में लेकर कहा—"क्षमा करो सुधा, दुःख और रोग ने मेरी बुद्धि नष्ट कर दी थी ।"

सुधा ने करुण नेत्रों से पति की ओर देखा । सुधीन्द्र ने अति स्निग्ध स्वर में कहा—

"सुधा क्या तुमने कभी मुझे स्मरण किया था ?"

सुधा चुप बैठी रही । सुधीन्द्र उसकी स्निग्ध अलकावलियों से कुछ क्षण खेलते रहे । पीछे उन्होंने कहा—

"समझा तुम भी मुझे भूल गई थीं ।"

'हम क्या आप जैसे हैं ?" सुधा ने एक कटाक्ष-पात करके कहा ।

"तब सच कहो, तुम याद करती थीं ?"

"राधा बहुत याद करती थी ।"

"और तुम ?" सुधीन्द्र हँस दिये । सुधा ने लजाकर उनकी छाती में मुँह छिपा लिया ।

धीरे धीरे बातों का प्रवाह चला । दोनों आत्मायें उस

स्निग्ध चाँदनी से भरी रात में, हीरे की भाँति दमकते हुए असंख्य तारागणों की छाँह के नीचे मिलकर एक हो गईं। सुधा अपने सौभाग्य के आँचल में पति की दृढ़ता से बाँधकर पति की सुरक्षित गोद में सो गई।

२९

सुधा स्त्रीत्व का एक कोमल अवतरण थी। बहुत ही नन्हा सा हृदय अपने स्वर्ण शरीर में छिपाये, स्वामी के साथ स्वामी के घर आई। इस बार उसे स्वामी से परिचय और घनिष्टता बढ़ गई थी। इसलिये इस बार उसे सुसराल आना प्रथम की भांति उतना अपरिचित एवं अस्वाभाविक सा नहीं प्रतीत हुआ। फिर भी वह बहुत भोली, सर्वथा मुग्धा, और अतिशय लजीली बालिका थी। इस समय उसकी आयु १५ वर्ष से कुछ ही ऊपर थी।

सुधीन्द्र की आयु तो ३० के लगभग थी। उनका शून्य और सन्तप्त हृदय यद्यपि सुधा को प्यार दिखा चुका था, उस अनुपम प्यार और स्पर्श का प्रथम अनुभव सुधा के लिये सर्वथा अनोखा था. पर उसे बहुत मीठा नहीं कह ककते।

प्यार के सदैव ही दो रुख हैं। हृदय भी, जो प्यार का यन्त्र है, दो प्रकार का है। एक हृदय वह है, जो शरीर है। वह लगभग ४.५ छटांक का मांस-पिण्ड है। वह प्रति क्षण शरीर को जीवन दान करता है, प्रगति का अधिष्ठाता है।

परन्तु दूसरा रूप जो हृदय का है, वह आध्यात्मिक है। उसकी कोई रूप रेखा नहीं। वह भावनाओं की लहरों का एक अदृश्य समुद्र है। प्यार हृदय का मुख्य व्यापार है। परन्तु चूँकि हृदय के दो अस्तित्व हैं—एक शरीर, दूसरा आध्यात्म, इसलिए उसके प्यार के भी दो ही रूप हैं। शरीर-प्यार तो शरीर का केन्द्र चाहता ही है, परन्तु आध्यात्म-प्यार आत्मा से सीधा सम्बन्ध रखता है। यह बात तो सच है कि आध्यात्म-प्रेम ही यथार्थ प्यार है। पर प्रकृति का स्वरूप ही यह है कि अध्यात्म-प्यार के लिए शरीर-प्यार का अवलम्ब चाहिये ही। चिरकाल से लोग ईश्वर को आध्यात्म वस्तु समझते हैं। परन्तु लोगों ने उससे सन्तुष्ट नहीं होकर, उसके सैकड़ों शरीर और पार्थिव मूर्तियाँ बना ली हैं। वे उनमें ईश्वर की कल्पना करते हैं।

पति और पत्नी में दो सम्बन्ध जगत् में, ख़ासकर मानव-समाज में, अप्रतिम हैं। यह कहा जा सकता है कि स्त्रीत्व और पुरुषत्व इन्हीं दो केन्द्रों पर अपनी पूर्ण कलाओं का विस्तार करता है। स्त्री यद्यपि प्रसव करके स्त्रीत्व की एक पृथक् प्रतिष्ठा रखती है, परन्तु पुरुषत्व की कसौटी तो एक-मात्र पत्नीत्व ही है। इसलिये ये सम्बन्ध और सब सम्बन्धों की अपेक्षा वैज्ञानिक हैं। कहना चाहिये, स्त्री और पुरुष का अस्तित्व ही इन्हीं के लिये है। इस सम्बन्ध का प्राण प्यार है, जो हृदय का व्यापार है, और वह पार्थिव और आध्यात्म दो स्वरूपवाला है। इसलिये साधारण तथा और सम्बन्धों में—परन्तु ख़ास तौर पर पति-पत्नीत्व सम्बन्धों में—वह अपने दोनों प्रकारों का पूरा विस्तार और विकास चाहता है। प्यार के पूर्णोदय के लिए शरीर से शरीर और आत्मा से आत्मा का सम्मिलन होना ही चाहिए।

पति-पत्नी के बाद माता और सन्तान के प्यार का सम्बन्ध है, परन्तु माता से सन्तान एक बार प्रसव होकर पृथक् होती है, और वह प्रति क्षण पृथक् होती ही जाती है परन्तु पति-पत्नी परस्पर पृथक् से सम्मिलित होते हैं, और प्रति क्षण एकत्र होते जाते हैं। उनका शरीर और आत्मा परस्पर में प्रविष्ट होता है. और उस सन्निकटत्व की चरम सीमा यह है कि दोनों से एक नया शरीर प्रसव होता है, जिसका शरीर और आत्मा दोनों के शरीर और आत्मा के अंश से संयुक्त होकर बना है।

माया और सुधीन्द्र दोनों ऐसे दम्पति थे, जो पूर्णार्थ में परस्पर तृप्त थे। जिस प्रकार अनुकूल ऋतु और जलवायु पाकर पौधा पनपता है, उसी भाँति अनुकूल प्रकृति, स्वभाव और भावना से दोनों के शरीर और आत्मा घुल मिलकर एक हो गए थे। प्यार वहाँ सफल था।

परन्तु अब तो बात ही जुदा थी। माया का शरीर तो नष्ट हो गया था। सुधीन्द्र के साथ माया का केवल आध्यात्मिक सम्बन्ध ही रह गया था। सुधीन्द्र के आध्यात्मिक हृदय में माया ही माया थी। वह रूप-रेखा और छायाहीन माया जब-तब, सोते-जागते सुधीन्द्र के भीतर-बाहर घूमती रहती थी। कभी न मिटनेवाली स्मृतियों ने उस आध्यात्म प्यार को शरीर-प्यार के निकटतम ला रक्खा था। इसलिये स्मृतियों के उदय होते ही उनका पार्थिव हृदय माया के पार्थिव प्यार के लिये हाहाकार कर उठता था, परन्तु शरीर के अवयव से वे केवल माया से आध्यात्मिक-प्यार ही कर सकते थे। इसलिये प्यार के प्राण-स्वरूप उत्साह, आनन्द, किल्लोल, उल्लास, जो होना चाहिये, वह गम्भीर शोक और विकलता में परिणत हो गया

था। माया का प्यार अब उन्हें उल्लसित नहीं करता था, वह उन्हें अति अचिन्त्य, गम्भीर शोक में डुबा देता था।

फिर भी इसमें एक स्थिति तो थी। वे निर्विघ्न भाव से पार्थिव प्यार को संयम से विसर्जन करके आध्यात्म-प्यार के अलक्ष्य माया को देकर गहन आनन्द के आँसू बहाया करते थे। उनमें एक उन्माद भर गया था, जिसने मानों उन्हें विदेह बना दिया था। जिस प्रकार योगीजन अभ्यास करते-करते परमात्मा के आध्यात्म स्वरूप के निकट पहुँचकर परमहंस हो जाते हैं. और इच्छा, द्वेष, प्रयत्न से जड़वत् रह जाते हैं, ठीक वही दशा सुधीन्द्र की हो रही थी। उनकी जीवन शक्ति पार्थिव शरीर से दूर हटकर उनकी आत्मा में प्रविष्ट हो गई थी, और वे माया के लिये धीरे-धीरे आध्यात्मिक बन रहे थे।

परन्तु पत्नी की जगह—कहना चाहिए, माया के पार्थिव प्यार के सिंहासन पर सुधा आ बैठी। सुधीन्द्र की आत्मा ने उसका विरोध किया। वे सोचने लगे कि कोई भी स्त्री क्या माया के अधिकार को छीन लेगी? वे इसी विद्रोह के प्रवाह में घर छोड़कर भटकते फिरे। पर धीरे-धीरे वे सोचने लगे—सुधा, केवल 'कोई स्त्री' ही नहीं, उनकी पत्नी है। यह पत्नीत्व क्या चीज़ है? कुछ प्रक्रियाओं के बाद क्या कोई भी स्त्री किसी पुरुष की पत्नी बन सकती है—पत्नी? इस 'पत्नी' शब्द ने मस्तिष्क में खूब ही उपद्रव मचाया। वे घर गये और स्वीकार किया—हाँ, सुधा पत्नी तो है ही। पर माया का आध्यात्म-आकर्षण उन्हें विदेह बना रहा था। वे सुधा से भय खाते दूर-दूर भागते रहे।

परन्तु शरीर, सूक्ष्म अध्यात्म और स्थूल पार्थिव का माध्यम है। उनका हृदय उन्हें जगत् से दूर माया के निकट ले

जा रहा था, पर शरीर रहते वे पूर्णतया माया के पीछे न दौड़ सके। उन्हें सुधा के पास आना पड़ा। उन्होंने सुधा का अर्थ किया—उसका हृदय। उन्होंने देखा, एक अतिशय पवित्र, भोली मुग्धा आत्मा, तन-मन से उनकी थी। सुधा के मूक आत्मदान को सुधीन्द्र जैसे सहृदय क्या न समझ सकते? उन्होने विचारा—पत्नी ही तो है, यह सुधा। पत्नी-शरीर के लिए मेरा पार्थिव हृदय तड़प रहा है। .....अब नहीं। उन्होंने असंयत होकर सुधा को अपना पार्थिव हृदय समर्पित कर दिया। इससे उन्हें बहुत सुख मिला; मानो नवीन जीवन पाया। उनका शरीर मानो पल्लवित हो गया। वे विभोर होकर सुधा के पार्थिव प्यार को प्यासे की भाँति पीने लगे।

परन्तु बड़ी कठिन समस्या आई। यह कैसे हो सकता है—कि पार्थिव प्यार सुधा को और आध्यात्म माया को अबाध रूप से मिलता रहे? एक ही तो हृदय है, और पत्नीत्व में जो दो प्रकार का प्यार है, उसके केवल दो प्रकार मात्र हैं, वह चीज़ तो अन्ततः एक ही है। सुधा और माया के प्यार में—कहना चाहिए, सुधीन्द्र के पार्थिव और आध्यात्मिक हृदय में—अब घनघोर द्वन्द छिड़ गया। सुधीन्द्र महाज्ञानी थे, और उनका आध्यात्म, शरीर को परास्त करने योग्य था, पर सुधा के कुसुमसम और चन्द्रमा की चाँदनी के समान निर्मल व्यक्तित्व ने उन्हें सुधा से मुस्तैदी से विद्रोह न करने दिया। वे कभी आध्यात्म प्रेम के साथ होकर पार्थिव प्रेम से भागने की चेष्टा करते और कभी पार्थिव प्रेम में सराबोर हो, दीन दुनिया को भूल जाते।

जिस किसी के साथ जीवन की यह दुस्सह कठिनाई चली हो—वही उनके इस अन्तर्द्वन्द्व को समझ सकता है। सुधीन्द्र

गम्भीरता भाग गई। वे चञ्चल, व्यग्र, आतुर, अधीर और असहनशील हो गये। परिजन और मित्र सब उनके इस स्वभाव-परिवर्तन से परेशान थे।

वे कभी दिन-दिन सुधा के साथ एक कमरे में बन्द रहते, खाना-पीना भी भूल जाते, कभी कई-कई दिन तक इधर-उधर भटकते रहते। कभी वे बहुत प्रसन्न दीखते—कभी एकदम अत्यन्त भिन्न। थोड़ी सी बात मन के विपरीत होने पर वे खीज उठते थे। वास्तव में वे अपनी पराजय को समझ गये थे, और अपने ऊपर क्रुद्ध थे। इस प्रकार उन्होंने अबोध सुधा को लेकर अपना नया संसार चलाने का उपक्रम किया।

———

३०

बसन्त आ गया था। होली को १०५ दिन रह गये थे। सुधीन्द्र को प्रकृति-निरीक्षण का पुराना शौक़ था। प्रातःकाल का समय था. सुहावनी हवा चल रही थी। वे अपने छोटे से कमरे में क़ालीन पर मसनद के सहारे पड़े, सामने के वृक्ष को देख रहे थे। वृक्ष के सब पत्ते झड़ रहे थे, हवा का झोंका जाता था और ढेर-के ढेर पत्ते झड़कर उड़ जाते थे। वृक्ष पर नई कोपलें खिली थीं, वे लाल-लाल चमक रही थीं। उन्होंने दुःखपूर्ण मुस्कुराहट मुँह पर लाकर कहा—"यही बसन्त है! सूखे पत्तों को झाड़ना और नये पल्लवों को विकसित करना उसका काम है। शायद यही प्राकृत जीवन का रूप है। वाहरे बसन्त! वे एक बार फिर मुस्कुराए। पर साथ ही एक ठण्डी सास उनके मुख से निकल गई।

इन्दिरा दौड़ी हुई तूफान की भाँति झपटती हुई उनके पास आई। उसके हाथ में एक कापी थी, दौड़ने से उनका साँस चढ़ गया था। उसने एक ही साँस में कहा—"भैया, देखो, भाभी ने यह क्या लिखा है ?"

सुधीन्द्र ने देखा—बड़े टेढ़े-मेढ़े अक्षरों में 'सुधा' लिखा था। वे जड़वत् उन दोनों अक्षरों को देखते रहे। उनके मुँह से बात न निकली। उन्होंने आँख उठाकर देखा—सुधा आँगन में काम करते-करते भाग गई है। उन्होंने कापी एक ओर रखते हुए कहा—"तुझे यह कापी कहाँ से मिली ?"

इन्दिरा एकदम निकट बैठकर बोली—"मैंने भाभी से कहा, नाम बताओ। बताती ही थीं कि मैंने कहा. लिख दो। तब उन्होंने लिख दिया।" वह जोर से हँस पड़ी। सुधीन्द्र हँसे नहीं, उन्होंने कापी वापस देकर कहा—"जाओ।" इन्दिरा अप्रतिभ हो, चली आई।

वे पुस्तक पढ़ने लगे। कुछ देर बाद सुधीन्द्र ने एक पान माँगा। पान माँगने का कोई खास उद्देश्य न था. परन्तु उन्होंने एकाएक पुस्तक से मुँह उठाकर देखा—सुधा घूँघट में सर्वाङ्ग लपेटे, पान लिये खड़ी है। उन्होंने यह भी देखा—उसके दोनों हाथ और सारी साड़ी कत्थे से रँग गई है। उँगली सरौते से कट गई है, उसमें तत्काल की ताज़ी पट्टी बँधी है। इस दशा को देखकर सुधीन्द्र चिरकाल बाद अनायास ही ठठाकर हँस पड़े। सुधा पान की तश्तरी फेंक, वहाँ से भाग गई। उस दिन, वह दिन-भर घर में छिपी रही।

सुधीन्द्र उसे इधर-उधर काम करती देखने और उससे बातचीत करने को बेचैन हो गये। मालूम होता था, वे सुधीन्द्र न थे; एक बहुत ही बेसब्र बालक थे। वे इधर-उधर घर के

चक्कर काटने लगे। पर सुधा उन्हें न दीखी। रात को सुधा ने सास के पास आसन जा जमाया। सुधीन्द्र खीझ उठे।

इस बार उनका समस्त आध्यात्म उनके स्थूल शरीर में अवतरित होगया। वे सब स्मृतियों को धकेलकर—उन्हें एक ओर छिपाकर, अपने प्राणों को आत्मा से अलग करके. शरीर में ले आए। माया का आध्यात्मिक प्यार जैसे सूख गया। वे अधीर हो, सुधा को देखने, प्यार करते-करते बातें करने को छटपटाने लगे। परन्तु वे जितना ही इसका सुयोग ढूँढ़ते थे, उतना ही सुधा सावधानी और सतर्कता से उनके इस प्रयास को विफल करती थी। सुधा के प्राण उसके नेत्रों में और नेत्र स्वामी पर थे, यह तो था ही। और स्वामी उसके लिये कितने विकल हैं, यह भी वह जान गई थी। उसके और उसके स्वामी के बीच माया है, इस पर उसने कभी विचार नहीं किया। माया के विषय में उसने अभी बहुत-कुछ सुना था। लोग उस से बहुत कम इस विषय में बात करते थे। फिर भी वह माया की बात में दिलचस्पी तो लेती ही थी; क्योंकि माया ही उसके स्थान पर थी। उस अबोध ने यह नहीं सोचा कि वही माया के स्थान में है, इस स्थान की वास्तविक अधिकारिणी माया है। इसलिये अपने प्रति पति की प्यास देखकर वह उत्फुल्ल हृदय से सास की सेवा और गृह-कार्य्य प्रातः अंधेरे से आधी रात तक करती फिरती, पर पति से बचने की घात में वह सुधीन्द्र से ज्यादा सतर्क रही। अन्त में वे खीझ उठे। उन्होंने एक दूसरी युक्ति सोची।

एक दिन अत्यन्त भोर ही उठकर उन्होंने अपने बिस्तर बाँधने की धूम मचा दी। वे बड़ी सरगर्मी से अपने कपड़े लत्ते ट्रंक में सजाने लगे। पति कहीं जा रहे हैं, यह देखकर

सुधा का कण्ठ सूख गया, उसका हृदय धक्का, उसने राजेन्द्र
पति से छिपती तो फिरती थी, परन्तु पति ए
आँख से ओझल न हों—यह भी वह चाह राजेन्द्र ने कहा,
हृदय और नेत्रों में पति का ही तो प्रकाश था। कपड़े निका-

धीरे-धीरे माता ने सुधीन्द्र के पास आकर पूछा—"कैसे बिस्तर बँध रहे हैं, बेटे ?"

सुधीन्द्र ने बहुत सावधानी से संयम धारण कर, शान्त शिष्ट स्वर में कहा—अम्मा, चलो हरद्वार, गंगा-स्नान कर आवें। बड़ा अच्छा मौसम है। पड़े-पड़े मन कैसा हो रहा है। तुम कई बार तो कह चुकी हो।" गृहणी ने पुत्र की विफलता तो गत ४-५ दिन में देख ली थी। वे समझ गई थीं कि बहू को दुष्प्राप्य समझकर ही बेटा यह यात्रा कर रहा है—बहू को दण्ड देने के लिये। उन्होंने मन की बात छिपाकर धीरे-से कहा—'बेटे, बहू को घर में अकेली छोड़, अम्मा कहीं गङ्गा नहाने जा सकती है ?"

"अकेली क्यों ? घर में बहुत आदमी हैं;—नहीं उसे न ले चलो।" सुधीन्द्र माता से आँखें न मिला सके पर वे साहस करके कह ही गए।

माता का मधुर मातृ-हृदय जैसे हँस पड़ा। वे क्षण-भर उस हास्य को मुख पर न आने का प्रयत्न करके बोलीं—"बेटे, बुड्ढी अम्मा तुम्हारे साथ कहाँ-कहाँ दौड़ेगी, तुम बहू को गङ्गा-स्नान करा लाओ। उसका मन भी बहल जायगा।

सुधीन्द्र ने चाँद पाया। पर मन का वेग दबाकर कहा—"इसे मैं कहाँ कहाँ साथ लगाये फिरूँगा!" माता ने पुत्र के मुख प दृष्टि जमाकर कहा—"यह बात तो करना ही है, बेटे अब म सब बात भूलकर उसे अपनाओ, गृहस्थी बनाओ।

चक्कर काटने लक्ष्मीमुखी करो।" उनके नेत्रों से टपटप दो बूँद सास के पास ३ एक बार माया सशरीर वहाँ आ खड़ी हुई।

इस बार उनत्तर न देकर वहाँ से बाहर चले गए। अवतरित होगयार उन्होंने राजेन्द्र से कहा—"देखो, जरा झोर छिपाकर तो ठीक कर दो। हरद्वार जाना है, अम्मा से पूछ लो और कोई जायगा। उसका सामान भी रख दो, पर देख लेना, फालतू सामान न हो।"

यह कहकर मानों उन्होंने किला फतह कर लिया। वे वहाँ से एकदम एकान्त में चले गये।

माता ने बहू से कहा—"ओ रानीजी, भैया हरद्वार जा रहे हैं। तुम भी गङ्गा-स्नान कर आओ।"

सुधा जैसे लाज में गड़ गई। उसने जड़वत् होकर तुरन्त अपनी असम्मति प्रकट की। गृहिणी ने दुलार से कहा—"जाओ बेटी, हरद्वार की सैर भी तो होगी।"

"तब तुम भी चलो अम्मा!"

गृहिणी हँस पड़ी। उन्होंने दुलार से बहू को गोद में लेकर कहा—"बेटा, बूढ़ी अम्मा तुम्हारे साथ कहाँ-कहाँ दौड़ेगी? दो गोते अम्मा के नामके नाम भी लगा देना। बस, अम्मा का भी गङ्गा-स्नान हो जायगा।"

सुधा का मन उमंग में भर गया। परन्तु उसने जाने से इन्कार कर दिया। वह अकेली कैसे उनके साथ जायगी, कैसे बातें करेगी, यही तो उसके विचारने का विषय था। परन्तु माता ने एक मधुर झिड़की देकर उसका विरोध किया। राजेन्द्र ने आकर अपने स्वभाव-सिद्ध धीमे स्वर में मुस्कराकर कहा—"क्या-क्या कपड़े रक्खे जायेंगे—और कौन-कौन [illegible] है?"

तुम्हारक

सुधा ने डूबते हुए तिनके का साहारा पाया, उसने राजेन्द्र से कहा—"चलो फिर तुम भी।"

"अच्छी बात है" उसी भाँति मुस्कराकर राजेन्द्र ने कहा, और भाभी के बक्स खोलकर साड़ियाँ और कपड़े निकालने लगा। सुधा ने बाधा न दी। देवर का आसरा पाकर उसे पति के साथ यात्रा का सहारा हो गया। उसने विरोध न कर, चुपचाप तैयारी कर ली।

सुधीन्द्र ने घर में आकर देखा—सब कुछ तैयार है। माता ने आवश्यक हिदायतें कर दीं। राजेन्द्र को साथ तैयार देखकर उन्होंने कहा—"तुम भी चल रहे हो क्या?" उसने उसी भाँति मुस्कराकर कहा—"नहीं, आप चलिये तो।" सुधा ने सुना, सन्देह किया। प्रश्न किया और वैसी ही धीमी मुस्कराहट और भनभनाहट में उसने सुना—"हाँ हाँ, चल रहे तो है।' तीनों प्राणी ताँगे में बैठ, स्टेशन को रवाना हुये।

रेल आई—सुधा गाड़ी में इण्टर-क्लास के डब्बे में बैठ गई। सुधीन्द्र पास प्लेटफार्म पर खड़े बातें करने लगे। राजेन्द्र इधर-उधर घूम रहे थे। सुधा ने बार-बार उनसे गाड़ी में बैठने का अनुरोध किया। उसने उनकी टोपी छीनकर अपनी गोद में रख ली। इसपर भी सन्तोष न हुआ।—उनका पल्ला कसकर मुट्ठी में पकड़ लिया। गाड़ी ने सीटी दी। सुधीन्द्र लपककर गाड़ी में चढ़ गये। सुधा ने राजेन्द्र का पल्ला खींचकर कहा—"बैठो बैठो, गाड़ी जा रही है।" राजेन्द्र ने प्लेटफार्म टिकट दिखाकर कहा—'थर्ड क्लास का टिकट है, मैं दूसरे डब्बे में बैठता हूँ।" गाड़ी खसक चली, सुधा के बहुत प्रयत्न करने पर भी उसके हाथ से राजेन्द्र का पल्ला छूट गया।

वह पुकारकर भी रोक न सकी। उसने झाँककर देखा—वे बैठे नहीं, प्लेटफार्म पर खड़े-खड़े हँस रहे हैं और हाथ जोड़कर 'नमस्ते कर रहे हैं। सुधा ने बारम्बार हाथ से गाड़ी में बैठने का संकेत किया। अन्त में इस धोखेधड़ी में खीझकर रोने लगी। अब कैसे वह पुरुष के साथ अकेली यात्रा करेगी, जिससे वह सदा दूर दूर रहती रही? सुधीन्द्र बढ़कर सीट पर बैठकर चुपचाप सुधा का रोना देखने लगे। उनका आध्यात्म-प्यार हिलोरें लेने लगा। माया उनके चारों ओर चक्कर काटने लगी। वे किसी भी भाँति अपने को संयमित न करके एकाएक बड़े जोर से रो पड़े। उनके इतने वेग से एकाएक रो पड़ने से चौंककर सुधा अपना रुदन भूल गई। उसका शील-संकोच भी गायब हो गया। उसने घबराकर कहा—

"क्या है, आप क्यों रोते हैं?" उसने अपना बरदहस्त सुधीन्द्र के सिर पर रक्खा। बारम्बार प्रश्न किया। इससे सुधीन्द्र फूट-फूटकर और भी जोर से रोने लगे।

डब्बे में सिर्फ एक दम्पति और यात्रा कर रहे थे। वे एक भद्र पुरुष थे। उन्होंने आकर सुधीन्द्र को सन्त्वना दी। उनकी पत्नी सुधा के पास आ बैठी। कुछ देर में सुधीन्द्र प्रकतिस्थ हुए। सुधा का संकोच तो पति के रुदन ने खो दिया। पति को संयमित होते देख उसने उठकर भोजन-सामग्री निकालकर उनके सामने रखकर कहा—"थोड़ा कुछ खा लीजिये।" उसका घूँघट भी उड़ गया था। उसमें छनकर उसका मुखचन्द्र का नीचे का भाग सुधीन्द्र अनायास देख सकते थे। उत्फुल्ल होठ और कोमल चिबुक की ओर वे एकटक देखते रहे, और जब उन मधुमय होठों से 'खा लीजिये' यह अनुरोध वाक्य निकला, तो सुधीन्द्र ने धीरे से कहा—"तुम भी खाओ।"

"मैं पीछे खाऊँगी, अभी भूख नहीं। आप खाइये।" सुधा ने कातर कण्ठ और कम्पित स्वर में कहा। सुधीन्द्र भोजन करने लगे। सुधा सन्तुष्ट होकर देखती रही। फिर वह बड़ी सावधानी से पान बनाने में लगी। इस प्रकार यह नवीन दम्पति परस्पर घनिष्ट होते होते पति-पत्नी के स्थान पर आरूढ़ होने लगे।

गाड़ी तो दौड़ ही रही थी।

३१

सुधा रात भर सोई नहीं। वह डब्बे की सीट पर एक ओर सिमटकर चुपचाप पति के मुर्झाये और उदास मुख की विवेचना करती रही। उस अबोध बालिका को ऐसी गम्भीर विवेचना करने का प्रथम ही अवसर था। वह सब कार्य्यों को समझ नहीं सकती थी। परन्तु पति इतने उदास और दुःखी क्यों हैं? यह वह जितना ही सोचती, उतना ही व्याकुल हो जाती। उन्हें सुखी करने के लिए उसे क्या करना चाहिए, यही उसका ध्येय विषय होगया पर वह कुछ भी निर्णय न कर सकी

डब्बे में अन्धकार था। गाड़ी वेग से बढ़ी चली जा रही थी। रात धीरे-धीरे गम्भीर होती जा रही थी। सुधा ने देखा—सुधीन्द्र गहरी नींद में एक अलवान लपेटकर सो रहे हैं। उसने साहस करके धीरे से उनके सिर को दबाना शुरू किया। इसके बाद उसने उठाकर उसे गोद में रख लिया। इतना होने पर भी पति जागे नहीं, इससे सुधा बहुत आनन्दित हुई। वह अति

आनन्द-विभोर होकर धीरे-धीरे पति के मस्तक पर अपना अमृत-हाथ फेरती रही।

ऊषा का उदय हुआ। हरिद्वार निकट आने लगा। सुधीन्द्र ने करवट ली और आँख खोलकर देखा। सुधा की सुखद गोद में अपना सिर रखा देख तथा सुधा के कोमल हाथ का माथे पर स्पर्श देखकर सुधीन्द्र आनन्द-विभोर हो गये। पति को जागते देख, सुधा ने झट से अपना हाथ हटा लिया, सिर भी तकिए पर रखकर हटने लगी। पर सुधीन्द्र ने झपटकर सुधा के चरण चूम लिये। उन्होंने फिर उसके कोमल हाथों को हाथ में लेकर बारम्बार चुम्बन लिया। सुधा घबरा उठी। वह निषेध न कर सकी।

सुधीन्द्र उठे। उन्होंने पूछा—"क्या तुम रात-भर सोई नहीं?" सुधा बोली—"नहीं।" उसने मुस्कुराकर एक तिरछी दृष्टि से पति को देखा। सुधीन्द्र के बहुत कहने पर भी वह सोई नही। खिड़की से प्रातःकालीन वायु आ रही थी और पूर्व की ललाई की किरणें छन-छनकर सुधा की केसरी रङ्ग की साड़ी के भीतर पहुँचकर, सुधा की रूप सुधा को द्विगुणित कर रही थीं। सुधीन्द्र का हृदय आनन्द, उत्साह और जीवन से भर रहा था। गाड़ी की चाल ताल पर उन्होंने आलाप लिया और वे मानो उन्मत्त भावावेश में विलीन होकर भैरवी की एक चीज गाने लगे। प्रथम धीरे-धीरे फिर एकबारगी ही मुक्त कण्ठ से उस गीत को गाकर सुधीन्द्र का हृदय मानो पवित्र हो गया। सुधा ने पति को प्रफुल्ल और उत्साहित देखा, उनका अप्रतिम प्रेम पाया। वह उत्साहित होकर उस महातीर्थ को निकट आते देखने लगी। सुधीन्द्र ने सामान बाँधना शुरू किया। उनका गुनगुनाना तो जारी ही था।

उन्होंने हर की पैड़ी पर ही डेरा डाला। वहाँ जमघट की शोभा देखकर सुधा आनन्द से नाच उठी—उसने सैकड़ों स्त्री-पुरुषों को स्नान करते देखकर उमंग में आकर कहा—

"चलिए, नहा आवें।" और वह धोती-गमछा सँभालने लगी। पण्डे ने आकर अपने पोपले मुख पर हजारों सलवटें डालकर कहा—"जिजमान, स्नान गठजोड़े से होगा। इससे पुत्र की प्राप्ति होती है। मैं श्रीफल ले आया हूँ।" तब सुधीन्द्र ने मुस्कराकर सुधा की ओर देखा। वह लाज से नीची निगाह कर, मुस्करा रही थी। उस बालिका के हृदय में गुदगुदी उत्पन्न हो गई थी। अन्ततः दम्पति ने गठजोड़े से स्नान किया, कमर तक जल में पहुँच, सुधा ने भयभीत हो, कसकर पति का हाथ पकड़ लिया। यह उनके और भी निकट चली आई। शीघ्र ही उसका भय दूर हो गया। उसने सैकड़ों ही स्त्री-पुरुषों को वहाँ नहाते देखा—उसे साहस हुआ। वह भूल गई कि वह नव-वधू है और नव-परिचित पति साथ हैं, कल तक जिसके पन्मुख आते उसे लाज लगती थी। वह खूब कसकर पति की कलाई पकड़, बारम्बार गोते लगाने लगी। उसका सभी शील-संकोच गंगा की उस धारा में बह गया।

इसके बाद गीली धोती से बदन को लपेटे, पवित्र जल-कण से भरे मुख की शोभा को लिए, जब वह गङ्गा की सीढ़ियों पर पति के साथ चढ़ती हुई शीत-विकम्पित होठों से धीरे-धीरे कुछ सीत्कार करती हुई कमरे में आई, तो सुधीन्द्र ने देखा—अब वह बालिका न थी, पत्नी थी। किसी जादूगर ने उसे एक ही दिन में पत्नी बना दिया!

वस्त्र बदलकर सुधा ने कहा—"भोजन की सामग्री ले आइये तो भोजन बना लिया जाय।" सुधीन्द्र हँसे—एक बार

उन्होंने वेदना का अनुभव किया। परन्तु वे चुपचाप बाज़ार गये, और सब आवश्यक सामग्री ले आये। सुधा ने देखा—आटा, दाल, चावल, तरकारी, दही, बेसन, नमक, मिर्च, मसाला—सभी कुछ है। पण्डे ने थोड़े से बर्तन ला दिये थे। उसने पूछा—'क्या बनेगा ?' सुधीन्द्र ने कहा—'सब कुछ बनाओ।' सुधा चुप हो गई। वह भोजन के सरंजाम में जुटी, सुधीन्द्र बिछौने पर पड़कर कुछ सोचने लगे। फिर वह चुपचाप सुधा का कौशल देखने लगे।

'सब कुछ बनाओ'—पति की इस आज्ञा के पालन में सुधा को बड़ी कठिनाई पड़ी। उसने कभी अकेले रसोई बनाई न थी; सहायता करती रहती थी। आज सामान-पात्र की भी कमी। फिर वह सब कुछ कैसे बनाये ? परन्तु वह खटपट करती ही गई। उसने आग जला, सर्व-प्रथम बटलोई में दाल चढ़ा दी। फिर चावल धो, साफ कर, लोटे में चढ़ा दिये। इसके बाद वह तरकारी काटने बैठी, फिर आटा गूँदा। सुधीन्द्र चुपचाप उसकी फुर्ती और तत्परता देखते रहे। उसके अनाड़ीपन पर उन्हें विनोद हो रहा था। सुधा उन्हें सोता समझ, नीरव, अपना काम कर रही थी। चावल पकने पर उसने पात्र खाली करके बेसन घोल, कढ़ी की तैयारी कर दी। तरकारी उसने तवे पर डाल दी, फिर फ़र्श का पत्थर साफ़ कर, चटनी पीस डाली। यहाँ तक तो सब ठीक हुआ, पर फुलके बनाना उससे ठीक-ठीक नहीं हुआ। धुएँ से उसकी आँखें लाल हो गईं। रोटियाँ फूलती ही न थीं, वह बारम्बार चेष्टा करती थी।

सुधीन्द्र एकदम जोर से हँस दिये। सुधा लजा गई। सुधीन्द्र एक उत्तम रसोइये थे। उन्होंने उठकर सुधा के बहुत मना करने पर भी सुधा की सहायता की। भोजन तैयार होने

पर दोनों ने एक साथ भोजन किया। यह उनका प्रथम सह-भोज था। सुधा को एक अनिर्वचनीय आनन्द आ रहा था। भोजन करने के बाद उन्होंने अपना मनीवेग निकालकर सुधा के हाथ में देते हुए कहा—"यह लो, और अपनी गृहस्थी सँभालो।"

सन्ध्या के समय हर की पैड़ी पर जब दोनों निकले, तो मानों वर्षों के परिचित थे। इतनी ही देर में दोनों परस्पर घुल-मिल गये थे। उन्होंने आलू-छोले खाये, दही बड़ों पर हाथ साफ किया। कुल्फी की बर्फ और फालूदा उड़ाया। वे बहुत रात तक चाँदनी का आनन्द लेते रहे। एक बार मानों सुधीन्द्र फिर संसार में आए। उन्होंने अपने निकट और बराबर अपनी जीवन-संगिनी सुधा को तत्पर पाया। उसे समझा, वे कई दिन हरिद्वार में सुधा के साथ रहे। फिर वे सुगठित दम्पति के रूप में घर लौट आये।

३२

सुधा ने जिस तत्परता और चतुराई से गृहस्थी सँभाल ली, इसे देखकर सभी अवाक् रह गये। सुधीन्द्र की माता सुधा पर मुग्ध थीं। माया की अमिट छाप उनके हृदय पर थी, पर सुधा ने अपने अद्भुत व्यक्तित्व की छाप वृद्धा पर लगा दी। माया ही की तरह सुधा भी, अपने पति, परिजन और सास की सेवा तथा गृहस्थी की व्यवस्था करने लगी। माया का अभाव इतनी जल्दी भूल जायगा, यह किसी ने सोचा भी न

था। इतना होने पर भी माया और सुधा में एक अन्तर था—माया चतुर, बुद्धिमती, गम्भीर, सौम्य और स्निग्ध गृहिणी थी। गृहिणीपन उसका व्यक्तित्व था, परन्तु सुधा प्रथम बहू और पत्नी थी, पीछे गृहिणी। वह बहुत भोली, किन्तु चैतन्य-बुद्धि थी। लोग उसे बनाते, बहकाते, तो वह सरलता से उनके फन्दे में आजाती। पीछे जब उसे सब बातों का पता लगता, तो वह घबराकर घर में भागकर छिप रहती। विनोद और आनन्द तो वह घर-आँगन में बखेरती ही रहती थी। उसकी सखी-सहेलियों की संख्या बेतरह बढ़ गई थी। वह सबसे खूब गप्पें उड़ाती, धौल-धप करती, किसी को ढकेलती, किसी के बाल बखेर देती, किसी की कोई चीज़ ही चुरा लेती। चुटकी काटना, गुदगुदी करना, लिपट जाना, उसका स्वभाव था। फिर भी क्या मजाल कि घर का कोई काम रह जाय, या उसके लिये उससे कुछ कहना पड़े। पति, सास और श्वसुर के सब छोटे-बड़े काम वह स्वयं करती। बड़े तड़के उठकर सर्व-प्रथम नित्य-कर्म से निपटकर वह सब के जूतों पर पालिश करती। इसके बाद सब के आवश्यक कपड़े बदलकर खूँटी पर टाँग देती। इसी समय नौकरों से वह स्नान सन्ध्या की सामग्री ठीक-ठीक कराती। फिर स्नान कर, जलपान की व्यवस्था में जुट जाती। इस समय तक भी सब सोते रहते थे; केवल सास जाग जाती थी। कभी-कभी वह उसे रोकती, पर सुधा ऐसी रूठती कि रोते-रोते उसकी आँखें लाल होजातीं। सास ने उसे कहना-सुनना छोड़ दिया था। वह उसे 'बावली' कहा करती थी। सुधा इतनी तत्पर थी, फिर भी अपने ही कपड़ों में उलझ-कर गिर जाती। सब लोग हँसते तो वह भागकर घर के कोने में छिप जाती।

वह मानिनी थी;—कहना चाहिये बहुत अधिक। अपना तिरस्कार वह तनिक न सह सकती थीं, परन्तु विरोधी से वह लड़ती न थीं। कड़वा बोलती न थी, मुँह भी न फुलाती थी, मिलने पर हँसी-ख़ातिर सब कुछ, परन्तु वह कभी भूल से भी अपनी तरफ़ से उससे घनिष्टता न करती; वह कोरा शिष्टाचार ही था।

सुधा को इस प्रकार अनायास ही गृहस्थी सँभाले देख, सुधीन्द्र का वेदना और निराशा में डूबा हुआ मन उभार पा गया। उनकी जाग्रत् इन्द्रियाँ और विचार-धारा चैतन्य होगई। एक गम्भीर तत्वदर्शी की भाँति उन्होंने माया की अमूर्त मूर्ति को प्यार के ताक़ से उठाकर श्रद्धा के मन्दिर में स्थापित कर दिया। प्यार के शून्य स्थान में सुधा स्वयं ही आसीन होगई।

परन्तु सुधीन्द्र के सोचने का एक गहन विषय था वे सोचते थे, क्या यह अधर्म एक पाप नहीं? मैं माया को इतना शीघ्र भूल गया? माया क्या कहती होगी? यही न कि यह अधम पुरुष—जिसकी मैंने तन-मन से प्राणान्त सेवा की, अब दूसरी स्त्री का दास बना, वैसे ही सुख से अपनी गृहस्थी चला रहा है; मानों कुछ हुआ ही नहीं। सुधीन्द्र विवेक के हाथ इस प्रश्न को नहीं देना चाहते थे। वह प्रश्न उनके हृदय में लहराती हुई भावना नद की तरंगों में थपेड़े खाता था, परन्तु सदैव विवेक ही विचारों को परिमार्जित करता है। सुधीन्द्र ने भावना से उठाकर यह प्रश्न विवेक ही के सुपुर्द किया। उनका यह अन्तर्द्वन्द कभी तीव्र, कभी धीमा चलता ही रहा। और अन्त में विवेक ने यह फ़ैसला दिया—

गृहस्थ के राज्य में पत्नी राजा है और पति मन्त्री। राजा सदैव अमर है! राजगद्दी सूनी नहीं रह सकती। राजा की

लाश तब उठती है, जब दूसरा उत्तराधिकारी राजा घोषित हो जाता है, और कहा जाता है—वह अधिकारी मृत राजा के शरीर पर पैर रखकर गद्दी पर चढ़ता है। यह बड़ा ही वीभत्स दृश्य है, परन्तु राजगद्दी का क्षण-भर भी शून्य रहना और भी अधिक वीभत्स है। कोई स्त्री और कोई पुरुष उस समय तक गृहस्थ-पद का अधिकरी नहीं, जब तक कि वह पति या पत्नी से संयुक्त न हो।—और ऐसे व्यक्ति, जो विपत्नीक हैं, या पति-हीन—सद्गृहस्थ नहीं। यदि वे उसी अवस्था में गृहस्थ ही बने रहना चाहते हैं, तो कहना चाहिए—गृहस्थ-धर्म की मर्यादा भंग होती है। चूँकि गृहस्थ-राज्य में पुरुष मन्त्री है, इसलिये स्त्रीत्व वहाँ प्रधान है। बिना स्त्री के पुरुष गृहस्थ नहीं रह सकता।

सुधीन्द्र गृहस्थ-धर्म में दीक्षित थे। उन्होंने आश्रमों की मर्यादा पर बहुत विचार किया था। विरक्ति और त्याग के उन प्रकारों के वे विरोधी थे, जो आश्रमों की परिपाटी पर वर्णित हैं वानप्रस्थ और संन्यास, यह भेष और स्थान बदलकर नहीं, गृहस्थ में ही होने चाहिए।—और पति-पत्नी दोनों ही इसके अधिकारी होने चाहिये।

परन्तु बानप्रस्थ का अर्थ बन में रहना नहीं। आज बीसवीं शताब्दी में, जो नागरिकता का युग है, बानप्रस्थ का वह प्राचीन अनुकरण, युग-धर्म की चीज नहीं। पति-पत्नी का शरीर सम्बन्ध संयम के बन्धनों में सीमित होकर आध्यात्म सम्बन्ध स्थापित होना ही सच्चा बानप्रस्थ है। और मन-वचन-कर्म से सब प्रकार की स्वार्थ-भावना-लिप्सा त्यागकर समाज-सेवा में जीवन लगाना कच्चा संन्यास है; भगवे कपड़े रँगकर मूँड़ मुड़ाना नहीं। सुधीन्द्र के सामने महापुरुष गान्धी का बानप्रस्थ

और संन्यास था। वे उन्हें प्रकृत-संन्यासी मानते थे, वे गीता के स्थितप्रज्ञ पुरुष का लक्षण गान्धी में देख रहे थे,—उस गान्धी को, जिनके साथ छाया की भाँति उनकी पत्नी है। वे उपनिषद्-काल के उन ऋषियों की चर्चा पर भी विचार करते थे, जो कि आदर्शत्यागी, तपस्वी एवं साथ ही-साथ सद्गृहस्थ भी थे। एक तरफ वे ऋषि-बनवासी—जिन्होंने त्याग-तप और दमन से परम आध्यात्म को जान लिया है—दूसरी तरफ वे गृहस्थ, पत्नी-युक्त और सन्तान उत्पन्न करने वाले।

इन उदाहरणों से वे ठीक ठीक अर्थों में गृहस्थ धर्म के तथ्य को समझ गये थे और वे सुधा को पत्नी का अधिकार और स्थान देने से संकोच रहित होते जाते थे। माया एक क्षण को भी उनके हृदय से दूर न हुई थी, पर अब वह उनकी पत्नी नहीं—आध्यात्मिक देवी थी। वह मानों अपने शरीर के बन्धन से उन्मुक्त है; सुधीन्द्र के शरीर में रम गई थी। सुधा पत्नी के पद पर उनके गृहस्थी और हृदय की अधिष्ठात्री, उनके गृहस्थी की राजा, उनकी इन्द्रियों और शरीर को केन्द्रीभूत सत्ता थी। उसके व्यक्तित्व ने उसे समय से पूर्व ही सुधीन्द्र के हृदय में आसन दिला दिया था।

फिर भी सुधीन्द्र के मन में एक बात थी, जो शूल की भाँति चुभती थी। वह यह कि सुधा-जैसी अल्पवयस्का कुमारी के साथ विवाह करके मैंने उसका एक अधिकार हरण किया है, मैंने उसे उसी के समान नवीन उत्साह से परिपूर्ण मुग्ध-हृदय पाने के अवसर से वंचित रख दिया है, और उसके स्थान पर उसे घायल और वेदनापूर्ण हृदय दिया है। सुधा यद्यपि अपने इस अधिकार से अनभिज्ञ है, परन्तु इससे मेरा अन्याय कम नहीं होता। इसी बात को सोचते-सोचते सुधीन्द्र

बहुधा उदास हो जाते, कभी रोने भी लगते।

एक दिन प्रातःकाल का समय था। सुधीन्द्र अपने पढ़ने के कमरे में बैठे, दोनों हाथों से मुँह ढाँपकर चुपचाप आँसू बहा रहे थे। ये आँसू माया के लिये न थे, सुधा के लिये थे। सुधा ने समझा था कि वे अपनी स्टडी कर रहे हैं। वह नाश्ते की तश्तरी लेकर वहीं जा पहुँची। उसने जब सुधीन्द्र को रोते देखा तो घबरा गई। उस दिन रेल में उसने सुधीन्द्र का रोना सुना था। यह आज दूसरा अवसर था। वह धीरे-धीरे आकर सुधीन्द्र के पीछे खड़ी हो गई। उसने उनके सिर पर हाथ रक्खा—वह स्वयं रोने लगी। सुधीन्द्र ने चमककर देखा। उन्ह ने रोना रोककर हँस दिया—परन्तु उनकी आँखें लाल हो रही थीं। सुधा को रोती देख, वे कुर्सी से उठ खड़े हुये। सुधा उनके पैरों में धरती पर बैठ गई। फिर उनके पैरों में लोट गई, सुधीन्द्र ने कठिनाई से उसे बैठाकर छाती से लगाकर कहा—

"सुधा, मैं तुम्हारी वेदना को समझता हूँ। मैं तुम पर किये अन्याय को समझता हूँ। परन्तु—तुम मुझे क्षमा करो। मैं तुम्हें प्राण देकर भी सुखी करूँगा। कहो—तुम्हें क्या दुःख है?" सुधा ने रोना रोक दिया। वह फूली हुई आँखों से पति को देखती रही। उसने गद्‌गद् कण्ठ से कहा—

'तुम अकेले में बैठकर क्यों रोते रहते हो? मैं मूर्खा बालिका क्या तुम्हें सुखी नहीं कर सकती?" कुछ ठहरकर वह बोली—'यदि मैं तुम्हें सुखी न कर सकी तो समझूँगी, मेरा जीवन ही व्यर्थ हुआ।"

सुधीन्द्र ने सुधा को प्यार से गोदी में बैठाकर कहा—

"यह कैसी बात सुधा, मेरे सुख की तुम कहती हो? इसका

तो कोई जवाब ही मेरे पास नहीं, पर मैंने तुम्हें दुःख दिया है, अन्याय किया है, इसी पर मुझे दुःख है।"

"क्या दुःख दिया—कौन अन्याय किया है?

"मैंने तुम्हें अपनी पत्नी बनाकर तुम्हारे स्वाभाविक अधिकारों को छीना है।"

"कौन से अधिकारों को—यह मैं नहीं जानती,—मैं तो यही जानती हूँ कि तुमने मुझे छूकर अमर कर दिया। यदि मैं तुम्हें हँसता देखूँ तो दुनियाँ में मेरे समान सुखी और सौभाग्यशीला कौन है?"

सुधीन्द्र कुछ देर चुप रहे, फिर बोले—

"सुधा, क्या तुम्हें मैं अच्छा लगता हूँ? धर्म से कहो।"

सुधा ने एक बार पति की ओर देखा—फिर आँखें आकाश की ओर उठाकर कहा—

"मेरे समान पति, संसार में किसके हैं?" वह पति से लिपट गई। सुधीन्द्र ने विभोर होकर सुधा का गाढ़ालिङ्गन किया। उन्होंने कहा-"सुधा, यदि तुम किसी अपने ही समान आयु वाले युवक से ब्याही जातीं?"

सुधा ने सुधीन्द्र का मुँह अपने हाथों से बन्द कर दिया। वह रूठकर बैठ गई।

उस मौन और गूढ़ प्यार, विश्वास और आदर को पाकर सुधीन्द्र के रक्त में ज्वार आ गया। उन्होंने कहा—"सुधा, तब मुझे भी कुछ करना चाहिये। तुमने अपना घर सँभाल लिया, पर वह घर सब चीजों से सूना है। ५-६ वर्ष से मैंने नौकरी छोड़ी है, आमदनी नहीं है, बैठे-बैठे संचित पूँजी खा चुके हैं। अब मैं कुछ करूँगा।"

"अवश्य करो। यही तो मर्द की शोभा है।"

"यही तो मर्द की शोभा है" सुधा के मुँह से यह वाक्य सुनकर सुधीन्द्र अवाक् रह गये। इसमें ममत्व, गुरुत्व, व्यङ्ग, सब कुछ था। वे उठे, उन्होंने सुधा को आँख भरकर प्यार से कहा—

"सुधा, मैं अपने कर्तव्य में लगता हूँ।"

"क्या नौकरी करोगे?"

"नहीं, यह मुझसे न होगा।"

"कोई व्यापार करोगे?"

"रुपया कहाँ है?"

"तब?"

"मैंने सोच लिया है, मैं क़लम पकड़ूँगा। ईश्वर इसमें जीवन और स्फूर्ति देगा।"

सुधा प्रसन्न हो गई।

दोनों दम्पति अपने गृहस्थ-धर्म में ओत-प्रोत थे।

३३

सुधा को इतना प्यार करने में सुधा ही कारण थी। वह सुधीन्द्र में इतनी शीघ्र ओत-प्रोत हो गई थी, जिसका वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता।—मानो संसार में उसके पति को छोड़कर कोई दूसरा पुरुष है ही नहीं। कहना चाहिए, प्राणी भी नहीं है। वह मुग्धा, आनन्द-भरी बालिका इतनी सरलता से वेदनाग्रस्त पति को सुखी कर सकेगी—यह तो सुधीन्द्र ने कभी सोचा भी न था।

संसार चल रहा था। इस छोटेसे गृहस्थ का टूटा हुआ मुख फिर जुड़कर आगे फूल-फल रहा था, परन्तु, इस प्रवाह में एक बल आगया। इस परिवार में एक ऐसे प्राणी का सम्मिलन हो गया कि जो इस परिवार की संस्कृति से बहुत दूर और नीचे था। वह व्यक्ति वीरेन्द्र की पत्नी सुमित्रा थी। वीरेन्द्र, सुधीन्द्र का असाधारण भक्त, आज्ञाकारी तथा आधीन था। सुधीन्द्र उसे भाई नहीं, पुत्रवत् मानते थे। वीरेन्द्र माया को बहुधा मां कहकर पुकारता था। परन्तु सुमित्रा के आते ही वह सब भावना बदल गई। वीरेन्द्र को एक नया साथी मिला, नया जीवनलाभ हुआ। उसने देखा, यह नया आदमी सब से अधिक उसके निकट है। दोनों में प्रेम भी होगया, और धीरे-धीरे दोनों एक होगये।

सब से प्रथम बात यह हुई कि घर के काम-काज में सुधा से सुमित्रा ने प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ कर दी। वह एक काम अधिक क्यों करे? द्योरानी-जेठानी के जो आदर्श उस ग्रामीण असंस्कृत बालिका के थे, उन्हीं के आधार पर उसने सुधा का रहन सहन, वस्त्र, काम-काज की रीति, गहने कपड़े सब पर दृष्टि-निक्षेप किया। यह सब-कुछ उससे श्रेष्ठ था ही। सुमित्रा उसे सहन न कर सकी। उसने अपना बराबरी का दावा—प्रथम दबकर, पीछे खुलकर—पति से प्रकट किया। वीरेन्द्र भाभी को मा मानते थे, पर सुधा को केवल भाभी भी नहीं, बड़े भाई की पत्नी।

सुधीन्द्र लोक व्यवहार में कुछ मूर्ख तो थे ही। उनके व्यवहार भाइयों के प्रति वैसे ही थे, जैसे प्रारम्भ से चले आते थे। वे उनकी तरफ़ से लापरवाह भी थे। वे लोग उच्चशिक्षा न प्राप्त कर पाये, इससे खिन्न भी थे। विवाह से प्रथम वीरेन्द्र ने इस

बात का ख्याल भी न किया था। अब उन्हें सुधीन्द्र की चेष्टाएँ तथा भाव कुछ और ही दीखने लगे। उनकी पत्नी उनकी पथ-प्रदर्शक थी, उन्होंने अपनी पत्नी की बुद्धि की सहयता से देखा—बड़े भाई उनकी आवश्यकताओं का उतना ध्यान नहीं रखते, जितना उन्हें रखना चाहिए। दूसरे, इस उपेक्षा का कारण सुधा थी; वह उन्हें उपेक्षित बनाए रहती है। वे भाई से असन्तुष्ट और सुधा से नाराज रहने लगे। सुधा में और सब कुछ था, परन्तु एक दोष भी था। वह दोष था या गुण—सुधीन्द्र कभी इसका निर्णय न कर पाये। वह मानवती थी,—वह अपना प्राधान्य कायम रखने के पक्ष में थी। सुमित्रा को उसका यह प्राधान्य स्वीकार न था। कदाचित् माया का प्राधान्य कायम रह सकता, परन्तु सुधा विनोदी स्वभाव की और सुमित्रा के ही बराबर की आयु थी। इसी से सुमित्रा को सुधा के प्रति विद्रोह धीरे-धीरे आगे बढ़ता ही गया।

गृहस्थी का यह कंटक-वृक्ष उग ही रहा था और सुधीन्द्र को उसका कुछ ज्ञान भी होगया था। व्यक्तित्व ने उस कटुता को यथास्वभाव कमजोर ही बनाए रखा। वह अपने स्वभाव-सिद्ध दुलार-प्यार से, मीठी झिड़कियों और प्यार भरी गालियों से, अपनी गृहस्थी चलाती ही रही।

राजाराम की पत्नी के जाने के बाद राजाराम के एकाकी दुखी जीवन की भी सुधीन्द्र उपेक्षा न कर सके। उन्होंने जैसे भी सम्भव हुआ, उनका भी विवाह करा दिया। जिस समय इस गृहस्थी में काँटे का वह वृक्ष पनप रहा था, रेवती—राजाराम की द्वितीय पत्नी—ने भी इस रंगमंच पर प्रवेश किया। रेवती और सुमित्रा की बहुत शीघ्र मुट्ठ बन गई। सुधा अब अकेली पड़ गई। रेवती ने

सुमित्रा की युक्तियाँ सुनीं। वे सब रेवती पर भी तो लागू होती थीं। सच ही तो—उसने देखा, सुधा सब बातों में चढ़-बढ़कर है, सास उसे अधिक प्यार करती है, उसके पास गहने भी बहुत हैं। यह सब रेवती क्यों सहन करे? इस घर में सुधीन्द्र का व्यक्तित्व चाहे भी जो कुछ हो, सुधा तो जिठानी ही भर है। संयुक्त परिवार में छोटी-बड़ी बहुएँ ऐसी विषम रीति से नहीं रह सकतीं। सब का भोजन-वस्त्र, रहन सहन, अधिकार बराबर होगा। यही दोनों बहुओं का अभियोग था।

गृहिणी के पक्षपात की चर्चा अब उस घर से बाहर फूट चली। पास-पड़ोस की स्त्रियाँ, जो आतीं—वे गृहिणी को समझातीं। कुछ ही दिन बाद यह बात बहुओं के माता-पिता तक पहुँची। वहाँ से गृहपति के पत्र आए। उसमें लिखा था—"क्यों साहब! हमारी लड़कियाँ क्या टहलनी हैं? आपके घर में ऐसा क्यों?" गृहपति इन सब झंझटों से परे रहते थे; इन बातों से घबरा गये। गृहिणी से उन्होंने सलाह की। गृहिणी ने तीखी दृष्टि से, जिसमें विवेक और अनुभव था—कहा—"क्या बड़े भैया की सब बराबरी करेंगे? मेरे बेटे जैसा बेटा किसका है? ये पराये घर की बेटियाँ हमारी बदनामी सब जगह फैलावेंगी?"

गृहपति हँस दिये। पराये घर की बेटियों को वही तो अपने घर लाये थे। उन्होंने गृहिणी को समझाया। परन्तु यह गृह फिर अशान्त वातावरण में डूबने लगा।

सुधीन्द्र की यशोराशि देश भर में फैल रही थी, आय बढ़ रही थी—काम बढ़ रहा था। पर वे भी इस गृहस्थी की परिस्थिति से अज्ञात न थे। वे चाहते थे, दोनों बहुएँ

भी सुधा की भाँति पढ़ें, अपने पतियों की जीवन-सङ्गिनी हों। वे कल्पना के जिस ऊँचे राज्य में विचरण करते थे, उसी में वे अपने समस्त गृहस्थी को लेकर उड़ना चाहते थे पर उनके साथ कुछ-कुछ सुधा उड़ने लगी थी, अतः सुधा का रहन-सहन, विचार सभी कुछ-कुछ असाधारण होगये थे। फिर भी वह—जैसा लिखा गया है—अपना प्राधान्य नहीं खोना चाहती थी, वह अपनी प्रधानता को अनुचित रूप नहीं देना चाहती थी। वह सच्चे मन से देवरों और उनकी पत्नियों का आदर करती, प्रेम करती और उनका लिहाज करती थी,—परन्तु ज्यों-ज्यों वह नम्र बनती थी, औरों को वह असह्य होती जाती थी। सास के कान भी निरन्तर उसकी शिकायतों से भर गये थे। सुधा अब सास की डाँट भी खाने लगी थी; जिसकी कभी आशा न थी। पर सुधा डाँट खाकर जब अपनी कोठरी में रोने लगती, तब दयामयी सास उसकी बलैयाँ लेकर उसे मनाती थी।

इन तमाम कारणों से सुधा के प्रेम का वह समस्त भाग, जो परिवार प्रेम से ओत-प्रोत है, राजू पर केन्द्रित हो गया था। राजू अभी अविवाहित था और राजू भी अपनी भाभी के, माता के बाद, सब से अधिक निकट था। यह निकटता बढ़ती ही गई। उस गृहथ-वन में दोनों को दोनों का आश्रय—बहुत भारी आश्रय बन गया।

इधर सुधीन्द्र के छूते ही उनकी लेखिनी भी उठी। देखते ही देखते उसकी धूम मच गई। साहित्य, कला, विज्ञान, काव्य और इतिहास—जिस विषय में उन्होंने लिखा, उससे वह विषय ही धन्य होगया। जिन पत्रों में उनके लेख

छपने प्रारम्भ हुए, उन पत्रों की गाहक-संख्या बेतरह बढ़ने लगी। पत्र-सम्पादक सुधीन्द्र के चारों ओर मँडराने लगे। उनका लिखने-पढ़ने का साधारण कमरा अच्छा-खासा दफ्तर बन गया, देश-भर के विद्वानों से उनका पत्र-व्यवहार जारी हो गया।

माया की मधुर स्मृति और सुधा का साक्षात् सुधा-वर्षण—दोनों ने मिलकर उनकी उद्भ्रान्त कल्पना को पर लगा लिये। उनकी कवितायें, और कहानियाँ अतीत युग के गम्भीर तल से निकलतीं, उनके पास सहनशीलता, आदर्श, वेदना और बलिदान की मूर्तियाँ होतीं, उनकी गवेषणायें, सूक्तियें, आलोचनायें। उनके अन्यथा परिश्रम, अपार अध्ययन और असाधारण प्रतिमा की द्योतक होती थीं।

इतना सब कुछ होने पर भी उनकी आर्थिक स्थिति न सुधरी। उन्हें शीघ्र ही प्रतीत हो गया कि साहित्य-जगत् में यश ही मिल सकता है; धन नहीं। यश उन्हें कम प्यारा न था, पर अभी तो धन की बड़ी आवश्यकता थी। सुधाको गुड़िया की भाँति सजाने की उनकी लालसा दिन-दिन चैतन्य होती जाती थी। सुधा-जैसी मस्तानी, आनन्द और उन्माद की प्रतिमा गृहस्थी के धन्धों में मैले-फटे वस्त्र पहिने फिरे, यह सुधीन्द्र सहन न कर सके। उनकी सहसा यह इच्छा जाग्रत् हुई कि वह सुधा को खूब गहने-कपड़ों से लादकर आँख भरकर उसे देखा करें। वे जब काव्य और कहानी लिखने बैठते,तो उनका अध्ययन सुधा की प्रतिमा पर होता, स्त्री-पात्र की जगह वे सुधा को अंकित किया चाहते। परन्तु अन्त में वे आश्चर्य-चकित होकर देखते—माया का बाह्य-चित्र अंकित हुआ है। वे

बहुधा तड़पकर रो उठते। वे देखते—माया तो प्राणों में घुल गई है, वह रक्त की प्रत्येक बूँद में रम गई है। माया की स्मृति इतनी गहरी मन में रखकर कैसे वे सुधा को इतना प्यार कर सकते हैं? यह तो वे किसी भी तरह सोच ही न सके—समझ भी न सके।

———

३४

ख्याति और आय की वृद्धि के साथ-साथ गृह-जीवन की कटुतायें बढ़ती ही गईं। फलतः सुधीन्द्र का मन अशान्त रहने लगा। पारिवारिक जीवन की उलझनों पर वह जितना विचार करते, उनके सामने उतनी कठिनाइयाँ आती ही जातीं। भिन्न-भिन्न प्रकृति, स्वभाव, विचार और संस्कृति के स्त्री-पुरुषों के एकत्र-संयुक्त परिवार में रहने के दोष उन्हें अनुभव हुए।

यह तो कहा ही जा चुका है कि सुधीन्द्र एक किसानके बालक थे, देहाती संस्कृति में उनका परिवार पला, उनके भाई भी आगे न बढ़ सके. उनकी स्त्रियाँ भी वैसी ही आईं। सिर्फ सुधीन्द्र का व्यक्तित्व ही असाधारण रहा। दैवयोग से कहिए या सुधीन्द्र का प्रभाव कहिए, माया एक साधारण गृहस्थ की कन्या होने पर भी संस्कृत परिवार की थी। फिर सुधीन्द्र का सहयोग पाकर वह असाधारण रमणी-रत्न प्रमाणित हुई। सुधा एक बड़े घर की बेटी थी। वह सुधीन्द्र के व्यक्तित्व पर प्रभावित होकर ही रीझ गई थी। वह बहुत कोमल, भावुक, नाजुक किन्तु भोली और मुग्धा

थी। सुधीन्द्र के सहवास से वह भी असाधारण युवती बन गई। इस समय सुधीन्द्र ही घर के कर्ता-धर्ता और कमानेवाले थे; सभी आश्रित थे। गृहपति ने तो सब बातों से वैराग्य ले लिया था। उनका तो सारा समय पढ़ने-लिखने अथवा इष्ट-मित्रों या बच्चों से गप-शप में ही व्यतीत होता था। राजाराम को छोड़कर दोनों भाई सुधीन्द्र के पुत्रवत् थे। राजाराम भी भाई को बहुत मानते थे। इन सब कारणों से सुधीन्द्र इस घर के सब कुछ थे। इन्हीं सब कारणों से सुधा का प्रभाव और सम्मान भी असाधारण हो ही गया था, जिसे सुधा को द्योरानी स्वीकार न करतीं थीं। गृहिणी की कठिनाइयाँ बढ़ी हुईं थीं। वह भिन्न भिन्न प्रकृति और संस्कृति की इन युवतियों को संघर्ष से बचाने, प्रेम से रखने में कुछ कोर-कसर न थी, पर अब बहुधा उसकी उपेक्षा की जाती थी। घर धीरे धीरे उदासी और अशान्ति का केन्द्र बन गया था।

सुधीन्द्र ने इस रोग का सही इलाज समझ लिया। उन्होंने सोचा—यह अनपेक्षित संयुक्त गृहस्थ क्यों न स्वछन्द और विभाजित कर दिया जाय? पहिले उन्होंने गृहपति से, फिर माता से, इसके बाद भाइयों से, घुमा-फिराकर यह प्रस्ताव किया, पर कोई भी इससे सहमत न हुआ। सब ने समझा—वह भी सुधा की ही शिक्षा है। उसने सुधीन्द्र को वशीभूत कर लिया है, अब सुधीन्द्र बूढ़े माता-पिता और भाइयों के बोझ को उतार फेंकना चाहता हैं।

माता को छोड़कर घर में सभी के यही विचार हो गये। सुधीन्द्र और सुधा दोनों ही घर के आदमियों की दृष्टि में अश्रद्धा तथा प्रतिस्पर्द्धा के पात्र हो उठे। गृहपति को व्यङ्ग

भी करने लगे। सुधा सभी की क्रोध-भाजन थी। सुधीन्द्र जैसे सरल व्यक्ति के मन में ऐसे स्वार्थ के भाव सुधा ही तो पैदा कर सकती है। सुमित्रा और राजाराम की स्त्री ने सास के मन में यही बात जमा दी। वृद्धा बहुत दुःखित हुई। कड़ुआ बोलना उसका स्वभाव न था। वह सुधा को स्नेह से समझातीं कि वह ऐसे विचारों को मन से त्याग दे।—मिलकर रहने ही में घर का कल्याण है पर सुधा—जिस अपराध की अपराधिनी नहीं, उसपर कहे भी क्या? वह तो चाहती है, घर में सब उससे प्रसन्न रहें। वह सब के व्यङ्ग तिरस्कार की परवाह न करके, सब से हँसती है, परन्तु सब कोई उससे दूर रहना चाहता है; मानों घर में वही पराई है। धीरे-धीरे सुधा को यह स्थिति दुःख देने लगी। वह कभी-कभी चुपचाप रोती, पर पति से उसने एक शब्द भी न कहा।

एक दिन सुधीन्द्र ने बाहर से आकर एकाएक सुधा को बाहुपाश में बाँध लिया।

सुधा ने प्रश्न-सूचक दृष्टि से इस अकथित उल्लास का का कारण पूछा।

सुधीन्द्र ने कहा—"सुधा, हमें कल ही बम्बई जाना है, अपना सब सामान ठीक-ठाक कर लो, वहाँ एक अच्छी नौकरी लग गई है।"

"नौकरी! क्या तुम नौकरी करोगे?"

"क्या हर्ज है—पाँच सौ रुपये मिलेंगे।"

"पाँच सौ" का नाम सनकर सुधा कुछ देर चुप रही, फिर उसने कहा—"तब फिर गुलामी करोगे?"

"कुछ हर्ज नहीं है सुधा, इसमें तीन लाभ मैंने सोचे हैं—एक, कुछ दिन अलग रह सकेंगे। सब लोग, जो तुमसे ऊब गये हैं, उनका प्रेम बढ़ जायगा। दूसरे, वहाँ कम से कम खर्च कर, काफी रुपया पिताजी के पास भेजते रहेंगे। इससे वे खूब खुश होंगे। हम जब तक यहाँ हैं, मानों उनका प्राधान्य सा छिन गया है। तीसरे—मुझे विज्ञान के अनुसन्धान का अवसर मिल जायगा। वह एक 'रिसर्च लिबरेटरी' की जगह है।"

'सब से दूर कैसे रह सकूँगी ?"

"सुधा, इस समय दूर रहने में ही बुद्धिमानी है, मैंने बहुत विचार लिया है।"

"तुम शायद कोई नौकरी वौकरी तलाश कर रहे थे ?"

"हाँ सुधा।"

सुधा सहमत हुई। घर के सब लोग भी प्रसन्न हुए। माता का हृदय उमड़ आया। सुधीन्द्र ने माता को साथ चलने को बहुत कहा—पर वे राजी न हुईं। सुधीन्द्र, सुधा और राजेन्द्र को लेकर बम्बई चले आये।

\+ \+ \+

जयगोपाल को तो पाठक न भूले होंगे। इन दिनों सुधीन्द्र के साथ ही उनका सम्बन्ध रह गया था। रिश्तेदारी छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। उसकी भयानक वृत्ति, कुत्सित जीवन, दुराचारी स्वभाव, नीच खूनी डाकुओं की सेवा,—यह सब कुछ सुधीन्द्र की मित्रता के योग्य न था, पर जयगोपाल सुधीन्द्र के सामने एक बच्चे के समान थे। माया के प्रति तो उनके बहुत ही आदर-पूर्ण भाव थे, सुधा का भी वे

अदब करते थे। सुधीन्द्र के घर जयगोपाल को खाते-पीते बातें करते-बैठते, देख, यह कोई कल्पना भी नहीं कर सकता, कि वह कोई असाधारण दस्यु-वृत्ति के व्यक्ति हैं।

सुधीन्द्र की एक टेक थी। यह टेक उनकी उस समय भी थी, जब वे बहुत तंगदस्त हो गये थे, और जयगोपाल हज़ारों के नोटों का बण्डल बग़ल में दबाए फिरते थे। वे कभी एक पाई भी जयगोपाल की ख़र्च न कराते थे; अपनी रूखी-सूखी ही से उनका सत्कार करते थे।

सुधीन्द्र की अनुपस्थिति में जयगोपाल कभी घर न आते थे। गृहपति उनसे रुष्ट रहते थे, राजाराम घृणा करते थे। वीरेन्द्र और राजेन्द्र उनसे भय करते थे, गृहिणी भी उनसे डरती थीं; फिर भी प्रेम तो करती ही थीं। उस दिन उनका आना अनायास ही हुआ। सुधीन्द्र की ग़ैरहाज़िरी में उनका सत्कार करना घर के सभी आदमियों ने उचित समझा। वे बहुत दिन में आए थे, गृहिणी ने बहुत पुरानी बात याद करके पुत्र के समान उनके सिर पर हाथ फेरा और आँखों में आँसू भरकर कहा—"अब इस तरह हमें भूल गये बेटे!"

जयगोपाल भी रो दिये। वह एक पवित्र माता का स्निग्ध हृदय था, जिसने उन्हें अतीत की पवित्र स्मृति पर रुलाया। खा-पीकर, एकान्त होने पर, जयगोपाल ने राजाराम से कहा—"मेरा ध्यान कुछ व्यापार करने का है। मैं कुछ गेहूँ ख़रीदना चाहता हूँ। क्या तुम्हारी जान-पहचान किसी आढ़ती से है—जो भलामानस हो?"

"बहुतों से है, किन्तु वह तुम्हारा पुराना रोज़गार....." राजाराम ने मुस्कुराकर कहा।

जयगोपाल झेंप गये। उन्होंने मुँह फेर कर कहा—

"अब उस काम को तो छोड़ दिया। पर कुछ-न-कुछ धन्धा तो करना ही पड़ेगा। इसी से देखते हैं, इसमें कुछ मुनाफ़ा होने लगे तो यही सही।"

कुछ देर विश्राम के बाद राजाराम उन्हें लेकर आढ़ती के यहाँ गये। उन्होंने दो हज़ार बोरे गेहूँ ख़रीदा। उन्होंने नोटों का गट्ठर राजाराम की ओर बढ़ाकर कहा—

"अपने ही नाम से पर्चा बनवा लो, और रुपये सम्भाल लो। यहाँ मैं अपना परिचय किसी को देना नहीं चाहता; तुम भी किसी से ज़िक्र न करना।"

राजाराम सीधे व्यक्ति थे, उन्होंने हँसकर स्वीकृति देदी। जयगोपाल उठकर चले आये। राजाराम हिसाब चुकता कर, माल के बोरे उनकी हिदायत के अनुसार स्टेशन भेजने और वहाँ से रेल में लादने की व्यवस्था कर, घर आये।

जयगोपाल उसी समय वापस लौट गये। इस घटना के ३।४ दिन बाद एक दिन सुबह ही सदल-बल पुलिस ने आकर राजाराम का घर घेर लिया। तलाशी ली। पर कुछ काम की चीज़ नहीं मिली। इसके बाद राजाराम को साथ लेकर पुलिस लौट गई।

जो नोट राजाराम ने आढ़ती को दिये थे, सभी जाली थे। इसी जुर्म में राजाराम का पुलिस ने चालान कर दिया। राजाराम ने पुलिस को किसी भी भाँति का बयान देने से इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा—"मुझे जो कुछ कहना होगा, अदालत में कहूँगा।"

सुधीन्द्र को तार दे दिया गया। अभी उन्हें ५।६ मास हुए

हुए थे। तार पाकर, वे सुधा को संग लेकर चले। उन्हें माता के दुःख का बहुत ख़याल था। चलती बार उन्होंने सुधा का तमाम ज़ेवर बेचकर १० हज़ार रुपये साथ रख लिये।

सुधा को उन्होंने नौकर के साथ घर भेज दिया, और आप खुद पुलिस से सब हालात मालूम करके जेल में राजाराम से मिलने चले गये।

३५

जेल में जाकर सुधीन्द्र ने राजाराम से भेंट की। उनकी सूरत बिल्कुल बदल गई थी। दाढ़ी के बाल बढ़ गये थे, आँखें के चारों तरफ़ कलोंस आगई थी; वे भीतर धँस गई थीं उनका चेहरा सफ़ेद हो गया था, सुधीन्द्र को देखते ही राजू फूट-फूटकर बालक की भाँति रोने लगे। उनकी दुःखावस्था देख, सुधीन्द्र का हृदय भी उमड़ आया, पर उन्होंने संयत होकर कहा—"राजू, क्या सचमुच उस काम में कुछ तुम्हारा हाथ है?" राजू ने और भी ज़ोर से रोकर कहा—

"आप भी ऐसा कहते हैं? मैं तो इस विषय में कुछ भी नहीं जानता। मेरा क़सूर तो यही है कि जयगोपाल और उनके आदमियों को मैंने अपने घर में ठहरने दिया। मुझे क्या मालूम था कि उनका इरादा क्या है, और वे यहाँ क्यों आए हैं!"

"तब रोते क्यों हो? मर्द होकर इतना अधीर होते हो?

"मेरा मुँह काला होगया; अब मैं लोगों को कैसे मुँह दिखाऊँगा !"

"यदि तुम निश्शंक होकर परमेश्वर को मुँह दिखा सकते हो तो लोगों को मुँह दिखाने में क्या है ? सत्य बात छिपी न रहेगी ।"

"वे लोग चाहते हैं कि मैं सब बातें सच-सच कह दूँ—सरकारी गवाह बन जाऊँ ?"

सुधीन्द्र का मुँह गम्भीर होगया। उन्होंने कहा—

"यह कभी न होने पायेगा। राजू, जयगोपाल ने जैसा किया, अच्छा किया। तुम्हें अपनी ज़बान से कोई ऐसा शब्द न कहना होगा, जिससे उसका अनिष्ट हो "

"जो जैसा करेगा, वैसा भरेगा । क्या मैं दूसरों के लिये मरूँ ?"

"मरना पड़ेगा। यह तो सदा की रीति है, अपने सगों के अच्छे-बुरे कर्मों का फल थोड़ा-बहुत सभी को भोगना पड़ता है।"

"मैं तो जो भोग चुका, काफ़ी है। दुष्टों की संगति का फल मिल गया। अब मैं सब बातें सत्य-सत्य कह दूँगा ।"

"नहीं-नहीं, राजू !" सुधीन्द्र की आँखों में आँसू भर आये—"हम जयगोपाल का अनिष्ट न कर सकेंगे। उसे क्षमा करना होगा ही। क्या याद है, मरती बार प्रभा को क्या वचन दिया था ? एक दिन हमने उन्हें प्रभा दी थी—कितनी पवित्र भोली बालिका ! वह जयगोपाल के पापाचार को देख-देखकर ही कुढ़-कुढ़कर मरी। उसका बलिदान भी तो जयगोपाल को सीधे मार्ग पर न डाल पाया। फिर हमने भी उसे सीधे रास्ते पर डालने की भरसक चेष्टा की है, पर कुछ फल

न हुआ। अब यह एक सुयोग आ लगा है, यदि निरपराध उसके लिए तुम जेल जाओगे, तो सम्भव है, उसे आत्म-ग्लानि उत्पन्न हो—और वह सुधर जाय! यदि ऐसा हुआ तो प्रभा की आत्मा प्रसन्न होगी।"

राजाराम ने कुछ देर चुप रहकर कहा—

"मुझसे यह न होगा। मैं उस पापी विश्वासघाती को उसकी करनी का पूरा-पूरा मज़ा चखाऊँगा।"

सुधीन्द्र कुछ देर मर्माहत-से बैठ रहे। उनके मुख पर धीरे-धीरे दृढ़ता के चिन्ह आए। उन्होंने कहा—

"तब राजू, तुम सब-कुछ मुझपर छोड़ दो। मेरा नाम ले दो मैं सब-कुछ स्वीकार कर लूँगा। मैं जेल का कष्ट-सहन कर सकता हूँ।"

"यह कैसे हो सकता है?"

"यही होगा। मैं अभी जाकर अपना बयान क़लम-बन्द कराता हूँ; तुम्हें सिर्फ उसकी तस्दीक़ करनी होगी।" वे उठ चले।

राजू ने उनसे रोकर कहा—

"आप जो कहते हैं, मैं वही करूँगा। मैं सब-कुछ अपने ऊपर लूँगा। जो होगा, हो जाएगा। मैं दो साल जेल काट आऊँगा, पर आपको एक प्रतिज्ञा करनी होगी। आप मेरे आने तक अम्मा के पास रहना—वह कैसे यह सहन करेगी?"

इतना कहकर राजाराम बड़े ज़ोर-ज़ोर से रोने लगे।

सुधीन्द्र कुछ देर लोहे के खम्भे की भाँति खड़े रहे। जेल के वार्डर ने कहा—"मुलाक़ात का समय ख़तम होगया।"

सुधीन्द्र ने कहा—

"राजू, यह तुम्हारी तपस्या व्यर्थ न जायेगी—इससे

जयगोपाल के पाप निश्चय भस्म हो जावेंगे। मैं अभी तुम्हारी ज़मानत का प्रबन्ध करता हूँ; घबराना नहीं।"

वे राजाराम की ओर एक करुण-दृष्टि फेंक, वहाँ से चल दिये। राजाराम रोते-रोते वहीं बैठे रहे। सुधीन्द्र ने दस हज़ार की ज़मानत दाख़िल कर दी। सब आवश्यक ज़ाप्ते की कार्य-वाही करते-करते दो बज गये। रिहाई का परवाना लेकर वे जेल आए। लगभग तीन बजे राजाराम को लेकर वे घर पहुँचे। रास्ते में उन्होंने राजाराम को समझा दिया—अम्मा से यह सब बातें कहने-सुनने की ज़रुरत नहीं है। राजाराम ने सिर हिलाकर सहमति दी।"

सुधीन्द्र ने हँसते-हँसते घर में प्रवेश किया। वृद्धा माता इस भाँति दौड़कर सुधीन्द्र से लिपट गई, जैसे बहुत दिन से बन्धन में बँधी गाय बच्चे की ओर दौड़ती है। उसकी आँसुओं की धार सूखती ही नहीं। वह अपनी मुसीबत कहा चाहती थी, पर कह नहीं सकती थी। इसी ससय धीरे-धीरे राजाराम ने घर में प्रवेश किया। उनका स्नान-हजामत सुधीन्द्र ने प्रथम ही करा दिया था। उस भयानक स्वरूप में गृहिणी पुत्र को देख-कर शायद बे-होश हो जाती। पर उसके सफ़ेद फीके चेहरे को देखकर वह कुछ देर को जड़ हो गई। और फिर वह राजा-राम से लिपटकर रोते-रोते बेहोश हो गई।

सुमित्रा और सुधा ने मिलकर उसे सम्हाला। धीरे-धीरे उद्वेग समाप्त हुआ। सुधीन्द्र ने हँसकर कहा—"अम्मा, इतने दिन में तो मैं आया और तूने खाने को भी न पूछा। कितना भूखा हूँ मैं!"

गृहिणी चुपचाप उठी। रसोई-घर आज कई दिन के बाद शोभा-सम्पन्न हुआ। भोजन बनाते-खाते रात हो गई थी।

सुधीन्द्र ने हँसते-हँसते, इधर-उधर की गपशप करते-करते माता का सारा क्षोभ, सारी चिन्ता दूर कर दी।

जब वृद्धा गृहिणी शैया पर जाने लगी, तब उसने शङ्कित चित्त से सुधीन्द्र से पूछा—

"भैया, अब तो कुछ झगड़ा-झञ्झट नहीं है न ?"

सुधीन्द्र ज़ोर से हँस पड़े। उन्होंने कहा—

"अब क्या झगड़ा होगा, माँ !"

"भैया, सरकार भी कैसी अन्धी है ? मेरे बेटे को पकड़ लिया, और वे पापी साफ़ बच गये।"

"जो करेगा सो भरेगा माँ, अब तुम इस बात को छोड़ो, सो रहो।"

सुधीन्द्र माता को सुलाकर और संकेत से सुधा को उनके सोने तक उन्हीं के पास बैठने का आदेश करके, राजाराम और पिता के साथ परामर्श करने बैठे। बहुत रात तक तीनों व्यक्ति मुक़दमे के सम्बन्ध में परामर्श करते गए। सुधीन्द्र के पिता का भी यही कहना था कि सब कुछ सत्य कह दिया जाय, रिश्तेदारों का लिहाज़ ऐसे मामलों में नहीं होता; फिर रिश्तेदारी ही क्या ?—प्रभा को मरे १० वर्ष हो गये। यह तो आँखों का लिहाज़ था। जब उन्होंने इतना नहीं सोचा तो हम क्यों मरें ?

राजाराम कुछ न बोले, करुणा-दृष्टि से सुधीन्द्र की तरफ़ देखते रहे। सुधीन्द्र की दृष्टि में दृढ़ता थी। उन्होंने कहा—

"चाहे भी जो हो, किन्तु अपने हाथ से हमलोग जय-गोपाल का अनर्थ न करेंगे। मुकदमे को ज्यादा तूल देने की आवश्यकता नहीं। राजाराम या मैं—दोनों में से एक को जेल जाना ही होगा। इसके बाद उन्होंने कल्पित स्वर में कहा—"हमने

उसे प्रभा दी थी ! याद है ?" प्रभा ने उस अधम को प्राण दिये—कुछ हमें भी देना चाहिये । वृद्ध पिता ने आँसू पोंछे और वहाँ से उठ गये । राजाराम भी चले गये । सुधीन्द्र वहीं चटाई पर, ज़मीन पर लेट गये ।

राजाराम ने कुछ भी बताने से इन्कार किया । मुक़दमा यद्यपि साफ़ उनके विपरीत था, फिर भी कुछ ऐसी बात प्रमाणित हो गई थी कि वास्तव में कोई तीसरा व्यक्ति था, जिसने नोट दिये । उसी ने माल भी ख़रीदा—असल अपराधी वही है । राजाराम उसका नाम नहीं प्रकट किया चाहते;उसे बचाना चाहते हैं । और उसके इस क़ानून-विरोधी काम में उनका सहयोग भी है । इसीलिये उन्हें दो वर्ष का कठिन कारागार मिला । सुधीन्द्र ने पूर्ण पैरवी की । रुपया भी बहुत ख़र्च कर दिया, पर राजाराम को बचा न सके । जयगोपाल का नाम लेकर वे अपने उस गौरव को नष्ट किया न चाहते थे, जो उनकी समझ में बहुत भारी था ।

राजाराम उतने विवेकी और दृढ़-हृदय व्यक्ति न थे । जयगोपाल पर उनका क्रोध भी कम न था, पर जब उन्होंने देखा—सुधीन्द्र स्वयं ही उस भार को अपने ऊपर लेते हैं तो वे सुधीन्द्र को बचाने के लिये जेल चले गये । राजाराम का दुःख—विवशता देखकर सुधीन्द्र बहुत कुण्ठित हुये, पर उन्होंने संयम से काम लिया । राजराम को सान्त्वना देने जब वे जेल में गये तो राजाराम ने हिचकियाँ लेते-लेते कहा—"जाइये, अम्मा को दुःखी न होने देना । मैं तो किसी भाँति काट आऊँगा ।"

यह बात न थी; हृदय के आर-पार जानेवाली मर्म-वाणी थी, सुधीन्द्र ने आँखों में आँसू भरकर कहा—"राजू ! तुम निरपराध हो, तुम बीरता कर रहे हो—दुःखित न हो,हर्ष करो ।"

सुधीन्द्र चले आये। माता से वे क्या कहेंगे' समझ ही न सके। पिता से प्रथम ही परामर्श हो गया था। पिता-पुत्र ने मिलकर एक षड्यन्त्र रचा—पिता भी घर न जायें। माँ से कहा जाय कि दोनों ने कलकत्ते से एक० यापार शुरू किया है। बड़े फ़ायदे का काम है, सुधीन्द्र नौकरी छोड़कर माँ के पास रहेंगे।

माता ने जब सुधीन्द्र को अकेले घर में घूमते देखा तो पूछा—भैया कहाँ है ?

उस छोटे प्रश्न में कितनी विकलता थी ! सुधीन्द्र का मुँह सूख गया, जीभ तालू से चिपक गई। उन्होंने साहस करके कहा—"पिताजी और राजू कलकत्ते चले गये हैं।"

"कलकत्ते ? क्यों ?" घोर सन्देह वृद्धा की दृष्टि में दमक रहा था। सुधीन्द्र उधर ताक भी न सकते थे।

सुधीन्द्र ने दिल कड़ा करके हँस दिया, फिर कहा—'एक बड़ा बढ़िया व्यापार हाथ लग गया है—माँ !"

बेटे की वह हँसी क्या माँ से छिपी रह सकती थी ? वह वहीं बैठ गई। उसने कहा—"उस लाभ के व्यापार में तुम न लगो बेटा ?" यह माँ की आत्मा का हाहाकार था !

सुधीन्द्र ने उसे समझकर भी न समझा। उसने अज्ञानी की भाँति कहा—"असल में मैं ही जा रहा था माँ, पर नौकरी का भी तो ख्याल है; एक ही तो काम हो सकता है।"

वृद्धा, शून्य-दृष्टि से चुपचाप पुत्र को देखती रही। उन्होंने पुत्र की आँखों में सब-कुछ पढ़ लिया। फिर उन्होंने एक सुदृढ़ आवाज में कहा—"जोहो, मेरे बेटे ने कुछ भी नहीं किया है।"

"अम्मा, उस मुकद्दमे की बात कहती हो ? अरी उसकी तो अभी तारीख पड़ रही है। उसमें कुछ होना-हुवाना नहीं है।"

गृहणी उठी। वह मानो एक पुतली थी। उसने कहा—'नहाओ-धोओ बेटे!" फिर सुधा को आवाज देकर कहा—"बहू, भैया के स्नान का बन्दोबस्त करदे. और सुमित्रा से रसोई चढ़वा दे। इसके बाद वह सुधीन्द्र के पास बिलकुल सटकर जा खड़ी हुई। उनके मुख पर, पीठ पर, सिर पर हाथ फेरा, कहा—"कुछ फिकर नहीं—बेटे, फिकर न करो।"

वाह! जिसे तसल्ली देने को सुधीन्द्र दिल के टुकड़े-टुकड़े होने पर भी देख रहे हैं, वह माता स्वयं ही उन्हें तसल्ली देरही है। उन्हें ऐसा मालूम हुआ, जैसे उनका अभी कलेजा फट जायगा उनके लिये संयत रहना अशक्य होगया। वे तीर की तरह वहाँ से भागकर सुधा के कमरे में घुस गये, और बिछौने पर गिरकर फूट-फूट कर रोने लगे।

सुधा ने कहा—'तुम जब इतना अधीर होगे तो औरों की क्या दशा होगी? क्या हुआ? क्या सजा होगई?"

"हाँ सुधा—दो वर्ष की। कहो कैसे अम्मा को जीवित रखा जाय? यह करुण बात उनसे कही भी कैसे जाय?"

सुधा की आँखों से टपटप आँसू झर चले—फिर वह फफक फफक कर रोने लगी।

सुधीन्द्र भी रोते रहे। कुछ देर बाद उन्होंने कहा—"सुधा, राजू के इस दुःख का कारण मैं हूँ।"

"कैसे?"

"मैंने ही उसे मजबूर किया था।

"तुमने ऐसा क्यों किया?"

"यदि सब सत्य बात भी कह दी जाती, तब भी राजू बेदाग तो न छूटता।"

"सत्य बात तो खुल जाती; जिसने किया, वह भी तो सजा पाता।" सुधीन्द्र ने आँसू-भरे नेत्रों को सुधा के मुख पर जमा-कर कहा—"सुधा, इसमें हम भी तो अपराधी हैं। ऐसे गुनह-गारों से मित्रता-सम्बध रखने की सजा हमें भी तो मिलनी चाहिये थी।"

"ऐसे मौकों पर सम्बन्ध-प्रेम देखे जाते हैं?"

"सुधा, तुमने प्रभा को नहीं देखा था, इसी से ऐसी निष्ठुर बातें करती हो।" वे रोते-रोते सुधा के पैरों में गिर गये। सुधा ने उठाकर कहा—

"अब रोने से क्या होगा?—जो करना है, वह सोचो। क्या छुटकारे का कोई उपाय नहीं?"

"कुछ आशा है। अपील दायर कर दी है, पर सुधा, रुपया बहुत चाहिये।"

"अभी मेरे पास कुछ गहने और हैं।"

"सब तो काम आगये, अब क्या वे भी ले लूँ।"

"वाह! गहने राजू से बढ़कर हैं?"

"फिर भी इनसे कुछ न होगा।"

"मकान बेच दो, या गिरो रख दो।"

कुछ देर सुधीन्द्र सोचते रहे, फिर कहा—"यही करूँगा, सुधा! उठो, अब कुछ खिला-पिला दो, तीन दिन का भूखा हूँ।"

सुधा उठी, सुधीन्द्र नहा-खाकर कुछ स्वस्थ हुए। रात हुई, गृहणी की आँखों में नींद नहीं थी। ग्यारह बज रहे थे, सुधा ने सास के पैरों के तलुए सहलाते-सहलाते कहा—

"अम्माँ, नींद क्यों नहीं आती?"

गृहणी ने मानो चौंककर कहा—"भैया, राजू इस समय क्या कर रहा होगा?"

हे परमेश्वर, यह राजू ही की बात सोच रही हैं! सुधीन्द्र ने हँसकर कहा—"बाइस्कोप देख रहा होगा, बड़ा शौकीन है वह। पर माँ, मैं तो अब तुमसे रूठ जाऊँगा।"

वृद्धा ने कातर कण्ठ से कहा—"बेटा, अम्माँ से रूठोगे, तो अम्माँ को अब ठौर कहाँ मिलेगी?"

सुधीन्द्र ने मन की वेदना दबाकर कहा—"मुझे मालूम हो गया, तुम मुझे प्रेम नहीं करतीं। दूसरे बेटों को चाहती हो। मैं परदेश गया, मुझे भी कभी याद करती थीं?"

सुधीन्द्र उठकर गृहणी की चारपाई की पट्टी पकड़कर आ बैठे। गृहणी कुछ बोली नहीं; चुपचाप सुधीन्द्र के सिर पर हाथ फेरती रही। उस सुखद-वरद अमृतमय हस्त का स्पर्श पाकर सुधीन्द्र आनन्द-विभोर होगये।

———

३६

मकान गिरवी रखकर सुधीन्द्र साढ़े सात हजार रुपया ले आये। ये सब रुपये लेकर वे हँसते-हँसते घर में घुसे। उन्होंने मानों उल्लासपूर्ण स्वर में कहा—"अम्मा, पल्ला तो पसारो जरा।"

वृद्धा ने धीरे-धीरे आकर कहा—"क्या है बेटे?"

'पल्ला तो पसारो जरा।"

वृद्धा ने आँचल फैला दिया। सुधीन्द्र ने उसकी गोद में सब नोट डाल दिये। इतने रुपये देखकर वृद्धा ने आश्चर्य से कहा—"कहाँ से आये इतने रुपये?"

सुधीन्द्र ने माँ से बहुत ही उल्लास से कहा—"बताओ तो भला; मैं नहीं बताऊँगा।"

"मैं क्या जानूँ भैया ?"

"राजू ने भेजा है।"

वृद्धा सूखी आँखों से सुधीन्द्र को देखती रही। सुधीन्द्र उस दृष्टि से घबराकर जोर से हँसकर बोले—"अभी एक महीना भी नहीं हुआ, इतने रुपये कमा लिये !"

वृद्धा के होठ फड़के। उसकी आँखों से अविश्वास की मानों धारा बह चली। उसे न सहन कर, सुधीन्द्र ने कहा—"हाँ—खूब याद आई—चिट्ठी भी तो है राजू की।" वे इधर-उधर जेब में ढूँढ़ने लगे। एक न-जाने कहाँ की चिट्ठी निकाल कर उसे मन-गढ़न्त पढ़ने लगे।

सुधा खड़ी सब देख रही थी। स्वामी की दुर्दश अब न देखी गई। वह भीतर जाकर, द्वार बन्द कर रो उस से सुधीन्द्र ने सुधा के मन की बात ताड़ ली थी। वह ने लगी। पीछे भागना—उसे गोद में लेकर मनाना चाहते थे, सुधा के को छोड़कर कैसे जायँ ? उन्होंने प्रसङ्ग बदलकर कहा र माता

"अम्माँ, अब ये रुपये रखे कहाँ जावें ? सौ-पच नहीं, पूरी रकम है, चोर-चार का भय है ही। कहो ास तो हैं जमा करदूँ ?" तो बैंक में

वृद्धा ने उठते हुए कहा—"जो चाहो करो बेटे ! आओ, खाने का वक्त हो गया—कैसा मुँह सूख रहा आओ नहा है !"

सुधीन्द्र माँ से खिसिया गये कि, इतनी तत्पर ता, इतना अभिनय, इतने सोचने विचारने पर भी माता का सित न कर सके। उन्हें याद आया, जब वे अपने दय उल्ल-कमाई के

रुपये थोड़े-से भी माता को दे देते थे, तब वह किस भाँति उन्हें सिर माथे चढ़ाती थी, अशीस देती थी, मनौती मानती थी। अपने बेटों को शेरनर कहती थी। आज तो वह बोली भी नहीं, रुपये उन्होंने छुए भी नहीं, देखे भी नहीं। उन्होंने कहा—

"अम्मा, मैं राजू को लिख दूँगा कि तुम्हारे रुपये न तो अम्माँ ने छुए, न सिर पर चढ़ाये, न आशीस दी।"

वृद्धा ने कहा—"बेटे बुड्ढी अम्माँ रुपये-पैसे क्या करेगी? तुमलोग सँभालो, रक्खो, काम धंधा करो, फलो फूलो। अम्माँ को एक टुकड़ा रोटी और बहू की फटी पुरानी धोती चाहिये, सो वह मिल ही जाती है।" उन्होंने फिर पुत्र के सिर पर हाथ फेरा। वे चली गईं। सुधीन्द्र विमूढ़ कुछ देर तक खड़े रहे। फिर वे तीर की भाँति सुधा के कमरे में घुस गये। सुधा औंधे मुँह फफक-फफककर रो रही थी। उसे उन्होंने गोद में उठाकर कहा—

"इतना क्यों रोती हो सुधा?"

सुधा ने रोते-रोते कहा—"अम्माँ को इतना क्यों बहकाते हो? मैं नहीं देख सकती। उनसे सब कुछ कह दो।"

"नहीं सुधा, उसका कलेजा फट जायगा। ज़िन्दा न रहेगी।"

"पर इस तरह कब तक ठगोगे?'

"मैं जल्द ज़मानत का बन्दोबस्त करके राजू को लाता हूँ।"

"जी चाहे सो करो पर अम्माँ को ठगो मत। अरे, वह कितनी भोली है।" सुधा ने बहुत से मोती के समान आँसू गिराये। पत्नी की ऐसी भावुकता और माता में अपार प्यार देखकर सुधीन्द्र बेसुध-से होगए। उन्होंने सुधा को खींचकर

छाती से लगाकर कहा—"सुधा, तुम साक्षात् देवी हो। तुम धन्य हो।"

× × ×

दो महीने बीत गये। गृहिणी कभी राजू की बात नहीं कहती। सुधीन्द्र कुछ कहते हैं तो और बात चला देती है। वह मग्न-मन और निर्जीव-जैसी हो रही है। सुधा और राजेन्द्र परछाईं की भाँति रात-दिन उसके साथ रहते हैं—साथ खाते तथा साथ ही सोते हैं। राजेन्द्र हठ करके पैसे माँगता है, मिठाई माँगता है, अमुक-अमुक चीज़ अपने हाथ से बना देने की हठ करता है। गृहिणी उसकी इच्छा पूरी कर देती है। पर सुधा और राजेन्द्र षड्यन्त्र करके जो भाँति-भाँति के पकवा। उनसे बनवाते हैं, और मिठाई मँगपाते हैं, इससे उनका अभिप्राय पूरा नहीं होता है। जब वे अपने साथ माता को खाने की ज़िद करते हैं तो वह पेट में दर्द, सिर में दर्द अजीर्ण और न जाने क्या-क्या बहाने करके साफ़ छूट जाती है, उसका आदेश भी ऐसा प्रबल है कि सुधा और राजेन्द्र को खाना ही पड़ता है।

एक दिन बृद्धा ने डरते-डरते कम्पित स्वर से राजेन्द्र से कहा— "भैया, हम किसी तरह भैया को देख भी सकते हैं?"

राजेन्द्र चौंक उठा। वह क्या कहे—समझ ही न सका। उसने फिर सावधान होकर कहा—"चलो अम्मा कलकत्ता चलें। पर किराये में रुपये लगेंगे पचास; गाँठ में हैं भी?"

गृहिणी को मानों यह विनोद स्पर्श ही नहीं करता था—वह उसी रूखी-तीखी दृष्टि से राजेन्द्र को देखने लगी। उस तीखी दृष्टि से घबराकर राजेन्द्र भाग आये।

चैत के उतरते दिन थे। ऋतु गर्माने लगी थी। गृहणी,

निमन्त्रण पाकर एक सम्बन्धी के यहाँ गई थी। इन दो महीने में घर-बाहर जाने का यह पहिला ही अवसर था, पर वह निषेध न कर सकी। वहाँ बहुत स्त्रियाँ जुटी थीं। गृहिणी को ऐसा प्रतीत हुआ, मानों सब कोई उसे घूर-घूरकर देख रही हैं। उसके मनमें ऐसा हुआ कि चल दें। परन्तु जब आई हूँ तो ठहरना चाहिए। वह जाकर उदास-मन स्त्रियों में बैठ गई।

वृद्धा की खातिर तो सभी करते थे। एक अधेड़ स्त्री उसे देखते ही बोली—"चाची, मैंने तो कल सुना, भगवान् घर में भी कैसा अन्याय है, बेकसूर को सजा? यह तो अन्धेर है?

गृहिणी ने घबराकर सूखे कण्ठ से कहा—

क्या कहती है री तू?"

"वही राजू भैया की बात।"

'कौनसी बात?"

"मुकदमे की बात।"

"मुकदमे की क्या बात है, जो करेगा वह भरेगा। राजू ने न कुछ किया न उसे कुछ डर है।"

कहनेवाली अधेड़ स्त्री शंका में पड़ गई। फिर उसने कहा—"यही तो मैं कहती हूँ, कैद कैसे होगई?"

गृहिणी सिंहनी की भाँति दहाड़ उठी। असाधारण उत्तेजना के कारण उसका अङ्ग-अङ्ग काँपने लगा। उसने गर्जकर कहा—"कैसी कैद री लुच्ची?"

सब का ध्यान उसी तरफ गया। अधेड़ स्त्री ने कहा—

"चाची, किस-किस का मुँह बन्द करोगी, शहर में सब जगह तो चर्चा हो रही है"

दूसरी एक वृद्ध ब्राह्मणी ने तम्बाकू की पीक फेंकते-फेंकते संदेहात्मक दृष्टि से गृहिणी को देखकर कहा—"राजू अब हैं कहाँ भाभी ?'

"कलकत्ते में है। बाप बेटा वहाँ कुछ रोजगार कर रहे हैं। इसके बाद उसने गर्व से सीधा सिर उठाकर कहा—"अभी कमाकर ७ हजार रुपया भेजे हैं।"

तीसरी स्त्री ने कहा—"हमने तो सुना है, दो वर्ष की कैद हुई है।"

गृहणी के शरीर से रक्त की गति धीमी पड़ने लगी। प्रथम ही उत्तेजना में वह अपनी पूरी शक्ति खर्च कर चुकी थी। इतने में एक मोटी-ताजी युवती ने कहा—"रुपये भेजे होते चार्ची, तो घर गिरवी क्यों रखते। उस दिन उन्हीं से तो सात हजार रुपये लिये हैं, अपील में खर्च करने को। हजार रुपये रोज का वकील किया है।"

एक और वृद्धा स्त्री ने कहा—"भाई हो तो ऐसा। रुपया पानी कर दिया।"

स्त्रियाँ उसी विषय की चर्चा करतीं ही रहीं, पर गृहणी धीरे-धीरे बेहोश हो वहीं दीवार के सहारे झुक गई। उसे बेहोश होते देख स्त्रियों ने घबराकर उसे पलँग पर लिटाया, पर जब बेहोशी न दूर हुई तो घर भेज दिया।

गृहणी को तीन दिन में होश आया। होश आने पर भी उसकी संज्ञा नहीं लौटी। वह बड़बड़ाती थी, और जब कोई उसे पुकारता, वह धीरे-धीरे संयत-स्वर में पूछती "राजू आया है ?" वह काल्पनिक उत्तर आप ही सुनती, आप ही जबाब देती थी; मानो उसकी आत्मा जेल के प्राङ्गण में खड़ी, राजू को जेल की

सभी यातनाएँ भोगते देख रहो थी । वह कभी-कभी उसी अचेतनावस्था में उत्तेजित हो उठने की चेष्टा करती थी, तब उसके सभी अङ्ग प्रत्यङ्ग काँपने लगते थे। गृहपति आगये थे, वे चुप-चाप सिरहाने बैठे, औषधि-व्यवस्था जैसे जो कोई बताता करते थे।

रामनवमी का शुभ दिवस था, प्रभात की लाल किरणों ने पृथ्वी को रंगीन किया था, रात-भर जागकर सभी सो रहे थे; सिर्फ सुधीन्द्र माता के पास बैठे, एकटक उसकी चेष्टा देख रहे थे। माता ने आँखें खोलीं—कुछ अस्फुट ध्वनि की। सुधीन्द्र ने जल का एक घूँट पिलाया। जल पीकर वृद्धा ने मन्द स्वर से पूछा—'बड़े भैया।"

सुधीन्द्र अधीर होकर कुर्सी से खिसककर नीचे बैठ गये। उन्होंने माता का सज्ञान शब्द सुनकर आनन्द से पागल हो, आकर हाथ पकड़कर कहा—

"अम्मा !"

"बेटा, सब लोग कहाँ हैं ?"

"यहीं हैं अम्मा, बुलाऊँ ?"

रोगिणी ने सिर हिलाकर आज्ञा दी। क्षण-भर में सब इकट्ठे हो गये। वृद्धा ने एक बार सब की ओर देखा—सुधीन्द्र; वीरेन्द्र, राजेन्द्र, सुधा, सुमित्रा, इन्दु और उनके पति सब थे। गृहणी ने सबको क्षण-भर देखा, अन्त में उनकी दृष्टि गृहपति के मुख पर अटक गई। उसने कुछ कहना चाहा-पर बोल न सकी। गृहपति ने कान के पास मुँह कर, उच्च स्वर से कहा—किसी बात की चिन्ता न करो, सब आनन्द है, सब कोई हैं, परमेश्वर का जाप करो।

वृद्ध गृहपति अकम्पित कण्ठ से उस प्राणी से यह अन्तिम सन्देश कह रहे थे, जिसके साथ ५० वर्ष मिलकर रहे, सब सुख-दुःख भोगे; जीवन के सब दिन मिलकर काटे। सुधीन्द्र यह न देखकर वहाँ से खसकने लगे। इतने में गृहणी ने आँख खोलकर सुधीन्द्र की ओर देखा, और पूरा बल लगाकर कहा—

"भैया" फिर जल का संकेत किया।

सुधीन्द्र ने धीरे से माता का सिर गोद में लेकर गंगाजल उनके मुख में डाला। एक बार रोगिणी की आँखें पूरी चौड़ाई तक फैलीं। वे कमरे में खड़े प्रत्येक चेहरे पर अटकीं और दो तीन श्वास धीमी और अधूरी आकर वे सदा के लिये बन्द होगईं।

सुधा और सुमित्रा रोने लगीं। इन्दु भी चिल्लाने लगी। सुधीन्द्र ने राजेन्द्र से इन्दु को सम्भालने का संकेत करके सुधा के पास जाकर कहा—"सुधा, अम्मा के इस प्रयाण में अशान्ति का वातावरण न पैदा करो। मेरे साथ आओ।" सुधा का हाथ थामकर सुधीन्द्र शव के निकट आए, और बोले जरा अपनी सिन्दूर की डिबिया तो ले आओ सुधा।

सुधा सिन्दूर की डिबिया ले आई। सुधीन्द्र ने माता का सिर गोद में लेकर कहा—"सुधा! अम्मा की माँग और माथे पर अपने हाथों से सिन्दूर भर तो दो। सुधाने सिन्दूर भर दिया। इसी बीच राजेन्द्र ने माता के चरण गोद में रखकर अपने आँचल से पोंछ डाले।

गृहपति यह सब न देख सके। उन्होंने बलपूर्वक मन का आवेग रोक कर कहा—

"भैया, यह तो अब मिट्टी है, इतना मोह क्यों करते हो?

अब आगे की सोचो !" इसके बाद ही वे फूट पड़े। सुधीन्द्र पिता को धैर्य न दिला सके, वे स्वयं अचल बैठे रहे।

शव को स्नान कराया गया, उसे फूलों से सजाया गया, और सब लोग हाथों-हाथ श्मशान ले चले।

जब चिता धाँय-धाँय जल रही थी, सब कोई चुपचाप शरीर की अनित्यता को प्रत्यक्ष देख रहे थे। तब गृहपति किसी असाधारण बात को नदी-किनारे खड़े सोच रहे थे। ऐसा मालूम होता था—मानों वे सहसा नदी में कूद पड़ेंगे। सुधीन्द्र ने यह देखा—वह धीरे-धीरे चलकर उनके पास पहुँचे। उन्हों ने गृहपति के कन्धे पर हाथ धरकर निश्शब्द-भाषामें कुछ कहा। गृहपति की आँखों में आँसू आए—सुधीन्द्र उन्हें एक तरफ ले गये।

उस ममता-प्रेम और त्याग की मूर्ति को उस अग्नि-सिंहासन पर विराजित करके, जब लोग घर लौट रहे थे, तब सूर्य लाल-लाल मुख लिये पश्चिम में छिप रहा था, और नगर के मन्दिरों में रामनवमी के उत्सव की बधाई बज रही थी। और, राजाराम सूखा-फीका-स्याह चेहरा लिये जेल से छूटकर घर की देहली में पैर धर रहे थे।

३८

माता का अवसान होते ही सुधीन्द्र का शैशव मानो खो गया, आयु के साथ और वेदनामय परिस्थितियों के साथ जो गम्भीरता और एकाग्रता उनमें आगई थी, वह सब माता के सामने खो जाती थी, जितने क्षण वे माता के

सामने रहते—अबोध शिशु के समान। उन क्षणों में उन्हें जो अनिर्वचनीय सुख मिलता, वह तो था ही। साथही उन्हें एक आत्मिक भोजन भी मिलता था, माता ही के बल पर वे माया का अभाव इस भाँति सह गये। राजाराम की जेल यात्रा की स्मृति केवल इसीलिए दुखदाई न थी कि सीधा और सच्चा युवक निरपराध जेल का कष्ट भोग रहा है, एक बात यह भी थी कि उनका काफी अपयश भी हुआ था। असल बात कौन जानता था?—फिर वह छिपाई भी गई थी। बस्ती में यही चर्चा थी कि ये लोग चुपचाप यह काम मुद्दत से करते थे।

गृह-स्वामी श्मशान से लौटकर एक क्षण भी चुप न बैठे। वे खोज-खोजकर गृहणी के कपड़े लत्ते, सामान-औषध, पत्थर, शीशियाँ जो मिलीं—सब को नष्ट कर रहे थे, उनकी दृष्टि झुकी हुई थी, कमर टेढ़ी थी, और मुख गहन मौन-मुद्रा में था, सुधीन्द्रने बहुत इच्छा की कि वह पिता को सान्त्वना दें, पर वे साहस न कर सके। उनके मुँह से शब्द भी न निकला।

वीरेन्द्र की दशा सब से अद्भुत थी, वह जिस कोठरी में लेम्प, ईंधन और फालतू सामान रखा जाता है, उसमें धरती में पड़ा सो रहा था।

दोपहर होगया, सुधा ने सुधीन्द्र से कहा—"पिताजी को भोजन करा दो, ये सुबह से किस धन्धे में लगे हैं, घर से हरएक चीज निकाल-निकालकर तोड़-फोड़ रहे हैं। इनसे बातें करो, स्नान-भोजन कराओ।"

सुधीन्द्र ने डरते-डरते पिता के पास जाकर कहा—"अब

आप स्नान कर लें भोजन तैयार है।" गृहपति ने बड़ी तत्परता से कहा—'चलो बेटा।"

परन्तु वे अपने काम में लगे ही रहे। सुधीन्द्र ने कहा—"यह आप कर क्या रहे हैं?"

"भैया बीमार की चीज घर में रखना अच्छी बात नहीं। सचाई तो होनी चाहिए। ऐसा मालूम हुआ गृहपति का गला भर आया, मानो वे अभी रो पड़ेंगे। सुधीन्द्र एक क्षण भी वहाँ ठहरे बिना भाग गये।"

सुधा ने बीरेन्द्र को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते ईंधन की कोठरी में पड़ा देखा तो उसे जगाया। नहाने और खाने को कहा—वीरेन्द्र ने आँखें खोलीं—वे लाल हो रही थीं, और सूज रही थीं, वह कुछ देर सुधा को देखता रहा फिर वह करवट बदल कर सोगया, सुधा ने छूकर देखा, ज्वर नहीं था। वह और कुछ न कहकर सुधीन्द्र के पास आकर बोली—"वीरेन्द्र को तो देखो, वह वहाँ ईंधन की कोठरी में पड़े हैं।

सुधीन्द्र दुखी होकर बोले—"सुधा अब कैसे इस घर में रहा जायगा?" कुछ देर दोनों आदमी चुपचाप खड़े मन-ही-मन कुछ सोचते रहे। सुधीन्द्र ने वीरेन्द्र को उठाया, स्नान करने भेजा। वे फिर पिता से अनुरोध करने जा रहे थे कि बाहर से किसी ने पुकारा—

जाकर देखा—एक अपरिचित आदमी था। वह एक भयानक आकृति का गन्दा-सा आदमी था। उसने सन्देह की दृष्टि से सुधीन्द्र को देखकर कहा—"आप ही सुधीन्द्र बाबू हैं?"

"मेरा ही नाम सुधीन्द्र है; तुम क्या चाहते हो?"

"आपको जयगोपाल याद कर रहे हैं।"

"जयगोपाल ?" सुधीन्द्र ने आश्चर्य-चकित होकर पूछा। क्षण-भर ही में उन्हें उनके कुकृत्य का स्मरण हो आया। वे जानते थे कि जयगोपाल का अपराध अक्षम्य है। प्रथम तो उन्होंने यह काम इस प्रकार किया ही क्यों, दूसरे जब मुकदमा चला और एक बे-गुनाह आदमी फँस रहा था तो उनका कर्तव्य था, कि वे वीरतापूर्वक स्वयं आगे बढ़कर सब-कुछ कबूल कर लेते। सच पूछा जाय तो सुधीन्द्र को इस बात की पूरी आशा थी। इसी बल पर उन्होंने राजाराम को अपने मुख से उनका नाम लेने से रोका था। वे जयगोपाल पर इस घटना से एक आध्यात्मिक प्रभाव डालना चाहते थे, पर उन्हें स्वप्न में भी यह विश्वास न था कि जयगोपाल समय पर इतने पतित और कायर हो जावेंगे। इस घटना के बाद से जयगोपाल के प्रति सुधीन्द्र का सारा प्रेम समाप्त होगया था। वे उनसे घृणा करने लगे थे, परन्तु, उनकी यह प्रतिज्ञा थी कि वे अपने हाथ से किसी भी तरह उनका अनिष्ट नहीं कर सकते थे।

उन्होंने मन के क्षोभ को रोककर कहा—"वे कहाँ हैं, और क्या कहा है?"

"हुजूर, वे बड़ी तकलीफ में हैं, उन्होंने हाथ जोड़कर कहा है कि आप उन्हें देख जायँ।"

"क्या कोई चिट्ठी दी है ?"

"वे लिख नहीं सकते, उन्हें लकवा मार गया है। हुजूर, उन्होंने हाथ जोड़कर....."

सुधीन्द्र का हृदय हाहाकार करने लगा। उन्होंने कहा—"ठहरो, मैं आता हूँ।" वे माता की क्रिया में थे। घर से जाना सम्भव न था, पर वे एक कुर्ता गले में डालकर तेजी

से उस आदमी के साथ ताँगे में बैठकर चले। नगर के बाहर—जहाँ खानाबदोश आदमियों और जरायम-पेशा लोगों की गन्दी बस्ती थी, वहाँ जयगोपाल एक अत्यन्त घृणित अँधेरी कोठरी में मल-मूत्र से लथपथ एक मिट्टी के रंग की मैली शतरञ्जी पर धरती में पड़े थे। उनके जोड़-जोड़ सूज गये थे। वे हिल भी नहीं सकते थे। दर्द के मारे चीख पड़ते थे। उनके समस्त अंग जकड़ गये थे। सुधीन्द्र को देखते ही वे सिसक-सिसककर रो उठे।

सुधीन्द्र ने धीरे से पास बैठकर कहा—

"यह क्या हुआ?"

"कर्म का फल है, इस वक्त बचा सकें, तो बचाइये—मेरा मुँह तो इस योग्य नहीं कि आपको दिखाऊँ, पर मरनेवाली का ध्यान करके कुछ.....,"

सुधीन्द्र ने रोककर कहा—"यहाँ कब से पड़े हो?"

"एक सप्ताह हुआ। बीमार तो दो महीने से हूँ। पर इस बार आकर किनारे लग गया। वारण्ट मेरे पीछे-पीछे है; पुलिस को पता लग गया दीखता है। मैं उसकी नजर से छिपकर यहाँ पड़ा हूँ। यह बिचारा मुझे अपने घर ले आया है। भैया, मेरी रक्षा करो। मैं क्षमा तो माँग नहीं सकता।"

सुधीन्द्र कुछ न कहकर उठ खड़े हुए। जयगोपाल ने प्रश्न-सूचक दृष्टि से उन्हें देखा। सुधीन्द्र ने कहा—'मैं अभी दस मिनिट में डाक्टर को लेकर आता हूँ।'

"पर मेरे पास एक फूटी कौड़ी भी नहीं है।'

सुधीन्द्र ने कुछ जवाब नहीं दिया। वे चले गये।

डाक्टर के साथ वे फल, दूध, दही, पथ्य, बिस्तर और कुछ कपड़े भी लेकर लौटे। उन्होंने प्रथम तो डाक्टर की सहायता से उनके बदन को साफ किया, कपड़े बदले और बिस्तर पर सुलाकर कम्बल उढ़ा दिया। थोड़ा दूध गर्म करके दिया। डाक्टर ने दवा तजवीज की। सुधीन्द्र ने उन्हें बिदा करके कहा—"जय, चिन्ता न करो, दो-चार दिन में अच्छे हो जाओगे।"

"भैया, तुमने मुझे मोल खरीद लिया।"

"इन बातों को छोड़ो।"

"मैं अम्माँ को मुँह दिखाने लायक नहीं रहा।"

"चिन्ता न करो, वे अब इस दुःख-लोक में नहीं हैं।"

जयगोपाल देर तक रोते रहे। सुधीन्द्र ने भी उस पतित आत्मा के रोने में बाधा न दी।

जयगोपाल ने एकाएक कह—

"भैया डाक्टर पर विश्वास तो किया जा सकता है?"

'वह अपना मित्र है, चिन्ता न करो।"

इसके बाद सुधीन्द्रने अपना मनीबेग जयगोपाल के तकिए के नीचे रखते हुए कहा—"जय, मैं रात को फिर आऊँगा।"

सुधीन्द्र चले आए। वे सोचने लगे—अन्त में मुझपर इतना विश्वास अभी भी अभागे का है। मैं चाहूँ तो गिरफ्तार करा सकता हूँ, यह अभाव भी नहीं। इसके अपराध में भाई जेल में हैं। पर यह जानता है कि सुधीन्द्र ऐसा न करेगा। उनके हृदय में आनन्द गर्व का अनुभव होने लगा। उन्होंने सोचा यही सच्चा तप है, यही सेवा और क्षमा का पात्र है।

उन्होंने आकर स्नान किया और खाकर लेट गये। इस घटना का जिक्र उन्होंने किसी से भी नहीं किया; सुधा से भी नहीं।

दो-तीन दिन के उपचार से जयगोपाल को बहुत लाभ हुआ। एक दिन सुधीन्द्र ने रात को आकर उसे सूचना दी—"जय, तुम्हें तुरन्त ही यहाँ से अन्यत्र जाना होगा। उठ सकोगे?"

व्यस्त होकर जयगोपाल बोले—

"क्यों? मैं तो हिल भी नहीं सकता।"

"पुलिस को पता लग गया है, सुबह निश्चय यहाँ तलाशी होगी।"

जयगोपाल ने घबड़ाकर कहा—"अब क्या होग?"

सुधीन्द्रको घृणा हुई। अरे, अब भी यह आदमी कायरता कर रहा है! इसके तनिक साहस से राजाराम घर छूटकर आ सकता है। उन्होंने घृणा रोककर कहा—

"मैंने मोटर का बन्दोबस्त कर लिया है, वह नीचे है। तुम्हें वह मेरे एक मित्र के यहाँ आगरा पहुँचा देगी। वहाँ तुम्हारी सब भाँति सँभाल होजायगी। खर्च की चिन्ता न करना।"

जयगोपाल की आँखों में आँसू की धारा बह चली। उसने कहा—"जो ठीक समझो। सो करो भैया!"

जयगोपाल आगरे पहुँचा दिये गये। उनकी चिकित्सा-व्यय आदि का सब प्रबन्ध सुधीन्द्र ने कर दिया। १०,१२ दिन बाद सुधीन्द्र को समाचार मिला। वे लगभग अच्छे होगए थे। अब वे वहाँ से अपने घर चले गये हैं।

सुधीन्द्र को विश्वास था, चंगा होते ही अब जयगोपाल अपने को कानून के सुपुर्द कर देगा, और राजाराम को छुड़ा देगा। पर जयगोपाल का कोई पता नहीं लगा। महीने पर महीने बीतते चले गए। सुधीन्द्र ने अपनी स्मृति-मात्र से भी जयगोपाल को निकालकर दूर फेंक दिया।

३९

समय ने सब किसी का, गृहिणी की स्मृति का दर्द कुछ न कुछ कम कर दिया। कहना चाहिये, सब कोई अपने स्वाभाविक जीवन में लग गये। केवल दो व्यक्ति थे, जिन पर गृहिणी का अभाव अमिट था।

गृहपति अब उल्लास और निस्संकोच भाव से घर में नहीं आते थे। मानों मेहमान हों। वे अब अपनी आवश्यकताएँ बेटी और बहुओं पर प्रकट करते संकोच करते थे। वे मानों सोए हुए से थे। दूसरा व्यक्ति था वीरेन्द्र। वह स्वभाव ही से कम-सखुन, गम्भीर और एकान्त-प्रिय था। वह बी० ए० की फाइनल में था, परीक्षाएँ निकट थीं, पर वह दिन-भर सोता रहता—बहुत कहने पर कभी कुछ खा लेता। मलिन वस्त्र पहने रहता, कालिज जाने में उसका उत्साह न था।

अविवाहित युवक—जो अपनी माता की सब से छोटी सन्तान है, माता के आश्रय और प्यार को कैसे भूल सकता है। बीरेन्द्र की माता से खूब घुटती थी। वीरेन्द्र माता

के साथ खाता, पीता और सोता था। छोटी सन्तान होने के कारण वह माँ का दुलारा भी था। माता की मृत्यु को वह सहन न कर सका—वह मानों जगत् से विरक्त सा होगया।

वीरेन्द्र की इच्छा थी, वह उच्च-पद प्राप्त करे, अनगिनत धन-राशि अर्जन करे और माँ की गोद में उड़ेल दे। वीरेन्द्र की आकांक्षा, अनुभव-शून्यता एवं बाल-सुलभ उमंग से भरी हुई थी। वह माता को खूब खुशी देखना चाहता था, उसकी यह अभिलाषा मन ही में रह गई। वीरेन्द्र रोये बहुत कम, परन्तु दुख बहुत माना। उसे माँ के वे दिन याद थे, जब सूत कातकर उसकी फीस दी थी, अपनी अँगूठी गिरवी रखकर वीरेन्द्र की ज़िद पर पकवान बनाकर खिलाया था। वह सोचता—हाय, मैंने माता से इतनी ज़िद क्यों की थी, मैंने उन्हें इतना दुःख किसलिये दिया था, अब उनके सिर पर हाथ फेर कर पुचकारनेवाला कौन था? उन्हें उत्साहित करके खिलाने-पिलाने वाला कौन था?

पिता की ताड़ना वीरेन्द्र ने खाई थी, पिता के स्नेह पर शंका हो ही नहीं सकती। फिर भी पिता के प्रति वह खुला भाव न था। उसका उत्साह मुर्झा गया, अब वह घर में पराया सा अपने को अनुभव करने लगा। इस घर के यथार्थ स्वामी सुधीन्द्र थे। वे ही कमाते-धमाते थे, पर जब तक माता थीं, वीरेन्द्र ने यह अनुभव नहीं किया। अब वे ऐसा समझने लगे कि यह भाई-भावज का घर है।

सुधा से वीरेन्द्र बहुत परिचित होगये थे। इस घनिष्टता

पर घर के लोग, खासकर सुधा की द्योरानियाँ, बहुधा व्यंग-वाण छोड़ती थीं, पर माता के रहते वीरेन्द्र का शैशव इतना चैतन्य था कि उन्हें इस बात की जरा भी परवा न थी। अब वे सुधा और सुधीन्द्र दोनों ही से दबकर, डरकर, नजर बचाकर इस तरह रहते थे, मानों पराए घर में हैं। वह सोचते अब मैं अकेला इस घर में रहूँगा कैसे? कौन मेरी खाने-पीने-सोने, कपड़े-लत्ते की सब आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा? वह सोचते—माता ने मरकर मुझे भी मार डाला। अब मुझे भी मर जाना चाहिये। उस दिन श्मसान-घाट पर गंगा किनारे वे जिस भाव से खड़े थे, उसे देखकर सुधीन्द्र डर गये थे! वह भाव माता के साथ ही प्राण देने का था, और उसके कारण भी यही थे।

सुधीन्द्र और सुधा भी माता के अभाव को योंही कैसे सहन कर सकते? हाँ, वे अपने संसार-धर्म में चले ही गए। सुधा जब वीरेन्द्र की चिरौरी करते थक जाती तो बहुत दुखी होती। वह अपने हाथों उनका बिस्तर बिछाती, साफ धुली चादर बिछाती, तकिए का गिलाफ बदल देती, पानी की सुराही पास रख देती, पर जब सुबह उठकर देखती—वीरेन्द्र ने बिछौने को छुआ भी नहीं है,—वह चुपचाप चटाई पर रात-भर पड़ा रहा है, तो गुस्से और क्षोभ से बकने लगती; बहुधा रो भी उठती। वह वीरेन्द्र को अपने साथ खिलाती—जबरदस्ती कुछ न कुछ चीज बाजार से मँगाती। वह जानती थी, अम्मा वीरेन्द्र को मिठाई खिलाया करती थीं वह भी मिठाई मँगाकर देती, पर वीरेन्द्र न थाल का भोजन खाते न मिठाई। वह सब छोड़कर एक दो सूखी रोटियाँ नौकरों की रोटियों से निकाल

कर खाकर उठ जाते, तो सुधा बिना भोजन किये उठकर अपनी कोठरी में जाकर सो जाती। जिद करने पर वीरेन्द्र कहते—मैं कमाता-धमाता तो कुछ हूँ नहीं, इतनी चीज खाऊँ कैसे ? ऐसे बिछौने पर सोऊँ कैसे ? सुधा यह गैरपन की बातें सहन न कर सकती थी। वीरेन्द्र का सुधा से यह गहन संघर्ष चल ही रहा था। घर के लोग देखते, दोनों की ज़िद्दमज़िद्दा, प्रेम-कलह देख, भाँति-भाँति के अनुमान लगाये जाते थे। एक बात और थी। वीरेन्द्र सुधा को बहुत मानता था—वह उसके प्रेम को तो समझ ही गया था, उसने माता के स्थान पर सुधा को अधिष्ठित किया। धीरे धीरे उसने सुधा को अपने आदर, प्रेम और जीवन का आधार बनाया। वह सुधा के लिये अपने मन में बहुत-कुछ कर गुजरने के भाव भरने लगा।

कालेज से उसे अरुचि हो गई। वह पढ़ने में मन न लगा सका। पर सुधीन्द्र के भय से वह कालेज समय पर जाता और शाम को लौट आता। उसका यह समय बाग-बगीचों में सोते बीतता था। फीस के जो रुपए सुधीन्द्र से मिलते—उनसे सुधा के लिए वह मोजे, इत्र-साबुन और न-जाने क्या क्या खरीद लाता। सुधा कहती—कहाँ से ले आए ? वह कहता, एक ट्यूशन की है, उस रुपये से लाया हूँ। सुधा खुश होकर उन वस्तुओं को सिर-आँखों पर लगाती। कहती, मेरा राजा भैया लाया है। सुधा की सेवा का भाव वीरेन्द्र के मन में बढ़ता ही गया। अब वह सुधा की धोती धोता, स्नान का पानी नौकरों के रहते स्वयं रखता। सुधा में थोड़ी लापरवाही तो थी ही। वह सुधा के सामान को—वस्त्रों को ठीक-ठीक कर देता। सुधा वीरेन्द्र की आराध्य देवी थी, फिर भी वीरेन्द्र ने अपने शरीर की उपेक्षा नहीं छोड़ी। वह सुधा से अपनी इच्छा

की पूर्ति तो जबर्दस्ती करा लेता—पर स्वयं अपनी ही ज़िद रखता था। सुधा कभी-कभी खीझकर सुधीन्द्र से शिकायत करती—सुधीन्द्र ने एकाध बार समझाया, पर जब वीरेन्द्र ने उनकी आज्ञा न मानी तो सुधीन्द्र नाराज़ रहने लगे। वे कभी-कभी बक-झक भी देते थे।

एक दिन वीरेन्द्र के किसी सहपाठी ने कहा—

"वीरेन्द्र ने इम्तिहान नहीं दिया, आपको मालूम है?"

"क्यों? वह रोज़ तो जाता है।"

"वह तो महीनों से कालेज नहीं जाता।"

वीरेन्द्र, सुधीन्द्र से छल करता है, यह वे सुनना नहीं चाहते थे, उन्होंने हँसकर कहा—"क्या तुम वीरेन्द्र को पिटवाना चाहते हो?"

युवक ने झेंपकर कहा—

"मैं सच कहता हूँ, कई महीने से फ़ीस भी नहीं दी गई।"

"फ़ीस तो वक्त पर दी जा रही है। तुम झूठ बोलते हो।"

वीरेन्द्र के आने पर सुधीन्द्र ने पूछा—क्या यह सच है?

वीरेन्द्र ने सरलता से सब बातों का खण्डन कर दिया।

परन्तु जिस दिन सुधीन्द्र ने जाना कि वह सब सत्य था, तो उनके हृदय को मर्मान्तक कष्ट हुआ। अरे, क्या मेरे घर के लोग मुझसे भी झूठ बोल सकते हैं? वे रोने लगे। उन्हें वीरेन्द्र को पूर्ण विद्वान बनाने की लालसा थी। अपने कठिन दिनों में भी उन्होंने उसे पढ़ाना नहीं बन्द किया था—अब उसकी शिक्षा की गति रुकती देख, वे अत्यन्त दुखी हुए।

एक दिन उन्होंने देखा, सुधा एक महीन बिलायती साड़ी पहने है।

सुधीन्द्र ने पूछा—"यह साड़ी कहाँ से आई ?"

सुधा ने हँसकर कहा—'कहीं से आई. तुम्हें मतलब ?"

"वाह ! तुम्हारे पास कोई चीज़ कहाँ से आती है, यह मेरे जानने का विषय ही नही ? यह तो खूब दिल्लगी रही।"

सुधीन्द्र उस दिन खीझ रहे थे। सुधा ने बात न बढ़ाकर कहा—"भैया ने लाकर दी है।"

"उसने रुपए कहाँ पाए।"

"एक ट्यूशन कर ली है।"

"और भी कुछ चीजें लाया है ?"

सुधा डर गई। उसने कहा—

"हाँ, बहुत चीजें हैं। उसने सब निकालकर दिखा दीं।"

"तुमने इसकी चर्चा मुझसे क्यों न की ?"

"भैया ने मना कर दिया था।"

"और तुमने भैया की बात मान ली ? तुम मेरी पत्नी हो, मुझी से यह बात छिपा ली ?"

"मैंने तो इस तुच्छ बात पर विचार नहीं किया था।"

"पर वह रुपया कहाँ से लाया ?"

"उसने ट्यूशन कर ली है, यह बात वह तुम्हें कहना नहीं चाहता—उसी से छिपाई थी।"

"वह है कहाँ ? बुलाओ तो।"

वीरेन्द्र ने आकर सब कुछ कह दिया। सुधीन्द्र ने सुनकर कुछ न कहा। उन्होंने सब चीजों को इकट्ठी करके आग लगा दी। वे चुपचाप चले गए। सुधा वहीं बैठकर रोने लगी। वीरेन्द्र भी कुछ बोले नहीं—चले गये।

दूसरे दिन प्रातःकाल वीरेन्द्र घर में नहीं थे। उनके बिछौने

पर एक पत्र था जो सुधा के लिये लिखा था। उसमें लिखा था

पूज्य भाभीजी,

मैंने आपकी जो पूजा की, वह भैया ने जला दी। मैंने ग़लती की, पर भैया से अधिक नहीं। मैं मूर्ख हूँ—वे विद्वान्। अब मैं इस घर में कैसे रहूँ? उनके ऊपर भार-स्वरूप रहकर? अम्मा ने मेरे संसार को अँधेरा कर दिया है, और मेरे जीवन को पाट डाला है। मैं जाता हूँ, मुझे स्वावलम्बी बनना आवश्यक है। मेरे लिये शुभ-कामना करना। तुम मेरी स्थानापन्न माता हो; मेरी छोटी माँ हो। —वीरेन्द्र।

पत्र पढ़कर सुधा फूट-फूटकर रोने लगी। वीरेन्द्र को ढूँढ़ने के लिये सुधीन्द्र से बहुत बिनती की—पर सुधीन्द्र ने एक न सुनी। वीरेन्द्र इस काम से अत्यन्त दुःख पाकर, चुपचाप दिन काटने लगे।

४०

सुधा ने जब सहमते-सहमते आकर सुधीन्द्र से आँख में आँसू भर के कहा—भैया की कुछ खोज-खबर लो, तब वे असाधारण रीति से गर्जकर बोले—

"क्या दूध पीता बच्चा है, जो मैं उसको खोजने के लिये पुलिस में रिपोर्ट लिखाऊँ या इधर-उधर ढूँढूँ? क्या मैंने धक्के देकर उसे निकाल दिया है? मेरा काम जो था, मैंने कर दिया। अच्छा है, कहीं काम-धंधा करे—कमाए-खाए। मैंने ठेका नहीं ले लिया है।"

क्रोध और विद्रोह से परिपूर्ण ये बातें कहकर भी—सुधीन्द्र की आँखों में पानी भर आया। सुधा तो जानती थी कि बीरेन्द्र का इसप्रकार चला जाना उन्हें मर्मान्तक कष्ट पहुँचा रहा है। वे न खाते हैं, न सोते हैं, फिर भी वे अपनी इस वेदना को प्रकट नहीं किया चाहते। पर सुधा से पति की वेदना छिपी न थी। वह उस सात्विक क्रोध का कारण भी जानती थी। वह चुप खड़ी रही। सुधीन्द्र का कण्ठ भर आया उन्होंने कहा—

"मैं उसका लगता कौन हूँ ? जो सगी थी, वह मर गई। अब उसे घर में न रोटी देनेवाला है और न आराम है। यह उसके दुश्मन का घर है, तभी तो इस तरह चला गया।"

उनकी हिचकियाँ बँधने लगी। सुधीन्द्र रोते बहुत कम थे, उन्हें रोता देख, सुधा घबराई। सुधीन्द्र ने कहा—ईश्वर ने बाप मुझे नहीं बनाया, अच्छा किया। मैंने इन्हें बेटों की भाँति पाला, बापपने का सुख ही न मिला, दुःख मिला। उस अभागे ने मुझे ठगा ? अरे, मैंने कितनी कठिनाई से फीस दी थी, वह सब उसने बर्बाद कर दी ! उसने पढ़ना छोड़ दिया ! उनकी आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं। उन्होंने कहा—फजूल रो-रोकर घर भरने की आवश्यकता नहीं है, तुम्हें ज्यादा ममता है तो जाओ खोजो, मैं तो जरूरत नहीं समझता।

वे इतना कहकर अखबार पढ़ने लगे—सच पूछिये तो वे 'वांटेड' के कालमों में बीरेन्द्र को ढूँढ़ रहे थे। सुधा दुःखी होकर चली गई। उसके जाने पर सुधीन्द्र बेचैनी से कमरे में घूमने लगे। उन्होंने हथेली पर घूँसा मारकर कहा—इस लड़के को अब मैं कहाँ ढूँढूँ ? एकाएक कुछ सोचकर उन्होंने एकदम बहुत से कार्ड लिख डाले, जहाँ-जहाँ रिश्तेदारियाँ और मित्रता

थी, वहाँ-वहाँ पत्र लिख दिये, सभी में वीरेन्द्र यदि वहाँ पहुँचे तो उसे सब भाँति सहायता दी जाय और तार से हमें सूचना दें—यही लिखा था।

इस प्रकार वीरेन्द्र के जाने का सन्देश सुनकर इन्दु और उसके पति भी आए। बहुत देर तक गृहपति में और उनसे बातें होती रहीं। सुधा और सुधीन्द्र को छोड़, घर के सब कोई सम्मिलित थे। दोनों का दुर्व्यवहार ही इसका कारण बताया गया। गृहपति ने आँसू बहाकर क्रोध और शोक में मग्न होकर गृहिणी के गुण बखानने शुरू किये।

सुधीन्द्र यह न सह सके। यह क्या उनके विरुद्ध षड़यन्त्र हो रहा है? उन्होंने वहाँ जाकर कहा—क्या मैं भी आप लोगों की इस गोष्ठी में शरीक हो सकता हूँ?

गृहपति चुप होकर मुँह फेरकर बैठ गये। सुधीन्द्र ने सोचा माता गई तो सब संसार गया। पिता को मुझसे इतना मान है, जो सदैव उनकी सेवा में तत्पर रहता है।

राजाराम ने कहा—वीरेन्द्र की खोज-खबर लेनी चाहिए।

सुधीन्द्र ने तीखे स्वर से कहा—"तो फिर जाते क्यों नहीं—घर में क्यों बैठे हो?—बातों ही से खोज-खबर हो जायगी?"

राजाराम चुप हो गये, पर गृहपति ने रोष-भरे स्वर में कहा—"ठीक है भैया, हमलोग खोज लेंगें या धीरे-धीरे यहाँ से इसी तरह चले जावेंगे, अब तो तुम्हीं इस घर के मालिक हो।

सुधीन्द्र क्रोध को पीकर चुपचाप वहाँ से चले आए।

पिता से कई दिन तक बातचीत नहीं हुई।

"इस तरह तो काम नहीं चलेगा सुधीन्द्र।"

"किस तरह?"

"घर में बहू लोग झगड़ा करती हैं। बड़ी, किसी को गिनती नहीं। तुमने उसे मुँह लगा रखा है।"

'आपको स्त्रियों की ये सब बातें कैसे मालूम हो जाती हैं? ऐसी-ऐसी बातों में आपको न पड़ना चाहिए। यों कहने को मुझे भी बहुत कुछ कहना है, पर मैं उसे फजूल समझता हूँ।"

"तुम शायद बड़ी की वकालत करोगे ?" पिता ने व्यंग से कहा। सुधीन्द्र संयम न रख सके। उन्होंने कहा—

"बहुत कुछ सम्भव है, क्योंकि उस अकेली पर सबकी चोट है।'

गृहपति अवज्ञा की हँसी हँसकर बोले—"इस झगड़े की जड़ ही क्यों न काट दी जाय ?"

"किस तरह ?"

"सब लोग अलग-अलग हो जाओ। सामान जो कुछ है, बाँटचूट लो। गृहपति की यह राय सुनकर सुधीन्द्र सन्न रह गये। उन्हें इस बात की तो कभी आशा भी न थी। उन्होंने आँख उठाकर पिताजी की ओर देखा। उन्होंने कटु स्वर में कहा—"और यदि पागल कुत्ते की भाँति सबको मार-मारकर घर से निकालना है तो दूसरी बात है। हम तो अपाहिज हैं। ऐसा करो, जिससे जो काम फजीते के बाद हो—वह प्रेम से हो जाय।" सुधीन्द्र कुछ देर चुप बैठे रहे। फिर बोले—

"आपकी जैसी आज्ञा होगी, वही किया जायगा।" इतना कहकर सुधीन्द्र वहाँ से उठ गये।

कई दिन कुछ भी बात न हुई। सुधीन्द्र और सुधा ने अपना कर्तव्य निश्चय कर लिया। एक ही सप्ताह में वे दोनों बम्बई अपनी नौकरी पर चले गये। साथ में बहुत कम सामान

था। सिर्फ पहनने के वस्त्र और थोड़े-से बर्तन, कुछ नक़द रुपये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने पिता को लिखा कि हमलोग अब नौकरी पर ही रह रहे हैं। आपके सुपुर्द सब घर औ सारा सामान है; उसमें हमारा कुछ भी नहीं है। आप जैसा ठीक समझें, बाँट-बूँट दीजिए। और सब काम से निबटकर आप यहाँ आजाइये—हमलोग परदेश में अकेले हैं।

पत्र पाकर गृहपति ने अपनी मन्त्रणा-सभा बुलाई। घर के बँटवारे की तैयारियाँ हुई। सुमित्रा और बसन्ती में एक-एक बर्तन पर गाली गलौज होने लगी। दोनों लिपट गई। कपड़े फाड़ डाले। गृहपति ने बीच में आकर डाटा, तो बसन्ती ने एक बड़ा-सा हण्डा गृहपति के सिर पर दे मारा।

जिस घर में स्वर्ग-शान्ति और आदर्श जीवन था, वहाँ पैशाचिक नृत्य होने लगा। बहू के हाथ की मार और गाली खाकर गृहपति तुरन्त ही बिना कहे, सीधे बम्बई सुधीन्द्र के पास चल दिये। जिसप्रकार लावारिस लाश पर गीदड़ लड़ते हैं, उसीप्रकार राजाराम और राजेन्द्र की स्त्रियों ने नोच-नोचकर घर को छिन्न-भिन्न कर दिया, उसकी सब श्री नष्ट हो गई। बहुएँ अब खुश थीं। उनके पति उन्हीं के लिए कमाते थे, उन्हीं का उनपर एकाधिपत्य था, उन्हें बहुत कम काम करना पड़ता था। इस गृहस्थी का नया स्वातन्त्र्य उन्हें बड़ा सुखद प्रतीत होता था।

गृहपति के प्रति बहू की अशिष्टता की बात सुनकर सुधीन्द्र ने क्रोध से लाल होकर कहा—

"मैं अभी राजाराम की खबर चाबुक से लूँगा। क्या वह यह सब खड़ा देखता रहा?" गृहपति ने उन्हें शान्त किया।

वे बम्बई में शान्ति से कुछ दिन रहे, पर उनका शरीर घुलने लगा। वीरेन्द्र के लिए वे बारम्बार सुधीन्द्र से तलाश करने को कहते। सुधीन्द्र स्वयं तलाश कर रहे थे, पर प्रकट में वे वीरेन्द्र से अति उपेक्षा प्रकट करते थे।

———

४१

घर से निकलकर वीरेन्द्र कलकत्ते पहुँचे। ऐसे विशाल नगर में बिना सरो-सामान पहुँचना हिमाकत थी। फिर अनुभवशून्य युवक, जिसके मस्तिष्क में केवल भावुकता और थोथी स्कीम थी।

वहाँ जाकर वीरेन्द्र ने नौकरी की बहुत तलाश की। आजीविका ढूँढ़ना वह जितना आसान समझता था, उतना नहीं निकला। व्यहारिक जीवन में आकर सारे हवाई किले हवा होगये। दिन-भर वह इधर-उधर नौकरी की तलाश में घूमता, और रात को एक धर्मशाला में आ पड़ता। पास पैसा न था। मजदूरी करनी चाही—पर कर न सका। बाद में वह अन्न-क्षेत्र से तेल की पूरियाँ ले आया, पर अपने आत्म-क्षोभ से फिर न जा सका। चिन्ता, भूख और मनोवेदना से वह अधमरे के समान होगया। उसका चेहरा सूखकर मुर्झा गया, आँखों में गढ़े पड़ गये। वह सोचने लगा—"घर में भाभी के सत्कार को त्यागकर मैं यहाँ क्या इसीलिये आया?"

वह जब मनुष्यों के उस समुद्र में चलता—प्रत्येक व्यक्ति को फुर्ती से इधर-उधर दौड़ते देखता, ऐश्वर्य और सम्पदा की

उस नगरी में धन के खेल देखता—तो उसके मन में सोई हुई नवयुवक-प्रवृत्ति और उत्साह हिलोरें लेने लगते।

एक दैनिक पत्र के सम्पादक ने अन्त में उसे एक छोटी-सी जगह दी। रात-भर जागकर वह दैनिक समाचारों के तारों को रिसीव करता, तरतीब देता, सम्पादक के बताये लेखों से नोट तैयार करता। उसे १० घण्टे की कड़ी मेहनत करनी पड़ती थी, फिर भी पेट के गढ़े को भरने का बन्दोबस्त होगया था। यहाँ आकर उसने जीवन का मूल्य समझा।

सुधीन्द्र को उनके किसी मित्र ने वीरेन्द्र के कलकत्ते होने, तथा अमुक पत्र में काम करने की सूचना भेज दी। पत्र-सम्पादक सुधीन्द्र के मित्र थे। उन्होंने सम्पादक को वीरेन्द्र का परिचय देकर, सब भाँति उसकी सहायता करने को लिख दिया। वीरेन्द्र का परिचय पाकर सम्पादक ने उसकी सुविधाओं का पूरा प्रबन्ध कर दिया। वेतन बढ़ा दिया, आफिस में ही एक कमरा भी रहने को दे दिया, भोजन अपने यहाँ करते रहने का बन्दोबस्त कर दिया। सुधीन्द्र के लिखने से यह बात अलबत्ता छिपाली कि उन्हें उनका परिचय मालूम होगया है। सुधीन्द्र ने हिदायत कर दी थी कि उसपर कड़ी दृष्टि रखें, और काम का भरपूर बोझ डालें, जिससे वह अपनी जिम्मेदारी को समझे।

वीरेन्द्र तेजस्वी और परिश्रमी युवक था। उसने अपनी धाक सम्पादक पर बैठा दी। वह उनके परिवार-भर का प्रिय बन गया, और शीघ्र ही सम्पादक का दाहिना हाथ भी। सुधीन्द्र सुन सुनकर प्रसन्नहोते थे।

एक दिन सुधीन्द्र को १०० का एक बीमा मिला। उसे

वीरेन्द्र ने भेजा था। उसमें एक स्लिप थी। उसमें लिखा था:—

न "आपकी नाराजी तो मुझपर प्रकट ही है, परन्तु यह मेरा प्रथम वेतन है—इसे भाभीजी के चरणों में डाल देना। विनयाञ्जलि यह है—आप चाहे जितने भी क्रुद्ध हों, पर इसे जला न डालिये।"

सुधीन्द्र की आँखों में आँसू आगये। उन्होंने वीरेन्द्र के भक्ति और प्रेम के उपहार जला डाले थे। कितना अन्याय था, सुधा और वीरेन्द्र दोनों ही उसे न भूलेगें। वे बहुत देर तक लिफाफे को हाथ में लिये रहे। स्लिप को सैकड़ों बार पढ़ा—कितनी-भक्ति और तिरस्कार था! वे सुधा के पास गये। सब-कुछ कहा, और लिफाफा उसके हाथ में दे दिया। सुख के कारण सुधा की आँखों में आँसू आगये, हर्ष से उसकी बोली न निकली। उसने लिफाफे को आँचल में लेकर सिर पर रख लिया। वह कुछ कहना चाहती थी, पर कह न सकती थी। सुधीन्द्र ने कहा—

"कहो, क्या कहना चाहती हो?"

"मानो तो कहूँ।"

"कहो न?"

"चलो, भैया को ले आवें।"

इस बार सुधीन्द्र बिगड़े नहीं। उन्होंने कोमलता से सुधा का हाथ पकड़कर कहा—"नहीं सुधा, अब उसे थोड़ा और वहाँ रहने दो। मैंने सब बन्दोबस्त उसके आराम का कर दिया है; चिन्ता की बात नहीं है।

सुधा ने पति को आर्द्र देखकर जिद की, और अन्त में यह निश्चय हुआ—सुधा स्वयं पिताजी के साथ कलकत्ते

जाय। पिताजी से सुधीन्द्र ने जब सब समाचार कहा और सुधा ने वह सौ रुपये का नोट उनके पैरों पर रख दिया, तो वृद्ध की आँखों में आँसू आ गये। उन्होंने पुत्र को बहुत से आशीर्वाद दिये, और नोट सुधा को हठ करके लौटा दिया। उसी दिन सुधा श्वसुर के साथ कलकत्ते चली गई।

४२

सुधीन्द्र और सुधा सिनेमा देखने गये। कोई नई फिल्म थी, हाउस में बहुत भीड़ थी, कथानक मनोहर था, सुधीन्द्र तन्मय होकर देख रहे थे, बीच में सुधा को समझाते जाते थे। एकाएक रोशनी होने पर सुधा ने देखा—रिजर्व सीट पर जयगोपाल बैठे हैं, उनके अगल-बगल दो स्त्रियाँ भी हैं। स्त्रियाँ बहुत भड़कीले किन्तु निर्लज्ज वस्त्र पहने थीं। वे दोनों कमसिन सुन्दरियाँ थीं। सामने टेबिल पर शराब और गिलास धरे थे। कुछ देर देखने पर सुधा ने सुधीन्द्र से कहा—"देखो, क्या वह जयगोपाल है?"

सुधीन्द्र ने देखा। उन्होंने पहचान लिया, पर मन के क्षोभ और ग्लानि को दबाकर कहा—'कह नहीं सकते. जयगोपाल यहाँ कहाँ आवेंगे?"

"वही हैं जी", सुधा ने दृढ़ता से कहा।

"होंगे!" सुधीन्द्र ने उपेक्षा से कहा। सुधा पति की उपेक्षा के मूल कारण को समझ न सकी।

उसने कहा—"वही हैं। पर वे औरतें कौन हैं?"

"क्या करोगी सुधा जानकर, वे बाजारू औरतें मालूम होती हैं।"

सुधा लाज से जैसे गड़ गई। उसने सोचा—छीः! मैंने भी कैसा सवाल कर डाला! वह चुप होगई।

कुछ ठहरकर सुधीन्द्र ने कहा—"उसने हमें देख लिया है, फिर भी आँखें चुराई हैं। जयगोपाल ने जब मेरे साथ यह व्यवहार किया है तो अब समझना चाहिये, दुनियाँ में सब-कुछ हो सकता है।" उन्होंने एक ठण्डी साँस भरी।

खेल शुरू होगया, अन्त भी होगया। पर सुधीन्द्र उसे देख न सके। वे उस अन्धकार में पर्दे पर जयगोपाल को ही उन वेश्याओं के बीच बैठे देखने लगे। उनके पीछे राजाराम दुर्बल और रोगी, जेल का जाँघिया-कुर्ता पहिने मानो गिट्टी फोड़ रहा था। सुधा का मन खेल में लग रहा था, वह-बीच-बीच में कुछ पूछती भी जाती थी।

खेल की समाप्ति पर जब सुधीन्द्र बाहर आए, तो देखा, जयगोपाल खड़े सिगरेट का कश खींच रहे हैं। साथवाली स्त्रियाँ चली गई हैं। मालूम होता है, उन्हें सुधीन्द्र से साक्षात् होने का अन्देशा था, इसी से उन्होंने उन्हें विदा कर दिया था।

सुधीन्द्र ने उनके निकट जाकर कन्धे पर हाथ धर दिया। जयगोपाल सिगरेट फेंककर मानों भौंचक होकर बोला—"आप यहाँ कहाँ?" उन्होंने जरा संकोच से सुधा को प्रणाम भी किया।

सुधीन्द्र ने उनके सवाल का कुछ भी जवाब न देकर कहा—"अब सेहत तो ठीक है न?"

"हाँ, अब तो कोई तकलीफ नहीं।"

जयगोपाल के जवाब देने के ढङ्ग में रुखाई और नाराजी थी। सुधीन्द्र कुछ देर चुपचाप खड़े सोचते रहे।

सुधा ने कहा—'घर चलिए पास ही है।"

"घर तो मैं न चल सकूँगा।" जयगोपाल ने दूसरी ओर मुँह फेरकर कर कहा।

"ऐसी ही कुछ बात है।"

"क्या कहने योग्य नहीं ?"

"कहने से फायदा ?"

जयगोपाल कुछ देर नीची गर्दन ए खड़े रहे, इसके बाद वे बोले —"आप जानते हैं, मैं आपकी कितनी इज्जत करता था ?"

"करते थे। जानता हूँ, पर तुम भी शायद जानते हो कि मुझे इसकी कुछ इतनी परवा न थी। सब से बड़ी बात तो यह थी, कि तुम मुझपर विश्वास करते थे।"

"उसी विश्वास और इज्जत का यह नतीजा मिला ?"

"कौन नतीजा ?"

"आप सब जगह बुराई करते हैं, मुझे धोखेबाज कहते हैं।"

"सिवा घर के मैंने कहीं नहीं कहा।"

"घरवालों के भी तो मुँह हैं।"

'है तो,' सुधीन्द्र चुप होगये। कुछ देर बाद कम्पित कण्ठ से कहा—"जय, मुझे माफ करो, मुझसे भूल होगई, मुझे जबान से ऐसी बातें न निकालनी चाहिए थीं।"

जयगोपाल कम्पित हुए, वे सुधीन्द्र से कटु वाक्य कहकर

उनसे पिण्ड छुड़ाना चाहते थे, पर सुधीन्द्र के इस उत्तर से वे बहुत लज्जित हुए।

उन्होंने कहा—"माफ़ी की इसमें क्या बात है, पर मुझे आप से यह आशा न थी।"

"तुम्हें मुझसे यह आशा करनी ही न चाहिए थी, मैंने बुरा किया, मुझे तुम माफ़ करो।"

यह सुनकर जयगोपाल की आँखों में आँसू आगये। वे कुछ देर चुपचाप खड़े रहे। सिगरेट उन्होंने फेंक दी।

सुधीन्द्र से कहा—"घर चलोगे?"

"इस वक्त तो न चल सकूँगा, मैं कल आऊँगा।"

ड्राइवर ने गाड़ी को स्टार्ट करके आवाज दी। जयगोपाल ने सुधीन्द्र से कहा—"आपको मैं रास्ते में घर छोड़ता जाऊँगा, बैठिए।"

'नहीं जय, हमलोग घूमते-फिरते ही चले जायेंगे; तुम जाओ।" बिना ही जवाब का आसरा ताके, वहाँ से चल दिए। जयगोपाल कुछ देर खड़े देखते रहे, फिर वे बहुमूल्य गाड़ी में बैठ, उनके बराबर होकर सर्र से निकल गये। सुधीन्द्र उस समय यह सोच रहे थे कि आखिर मनुष्य की आत्मा भी कितनी गिर सकती है!

४३

दिसम्बर बीत रहा था। बम्बई में सर्दी अधिक नहीं होती। रात्रि का समय था। जर्मन-महायुद्ध को छिड़े ४-५ महीने बीत गये थे, अखबारों की चाँदी थी; लोग उनपर टूटते थे। बिलायती सामान के बजार में आग लगी थी। चीजों की दर बेतरह बढ़ गई थी। बम्बई के बाजार में उथल-पुथल हो रही थी, एक-से एक निराली खबर आ रही थी, भाँती-भाँती की अफवाहें उड़ रही थीं। सुधीन्द्र को इस युद्ध में कोई दिलचस्पी न थी, फिर भी कौतूहल था ही। एकाएक द्वार खोल, एक युवक आँधी की तरह घर में घुस आया। सुधीन्द्र ने अकचकाकर देखा, मधुसूदनसिंह हैं। सुधिन्द्र उनसे लिपट गए। उन्होंने देखा, उसके बदन पर फौजी अफसर की वर्दी है। उन्होंने कहा—"यह क्या बहुरूपियापन है!"

मधुसूदन ने फौजी ढँग से खड़े होकर फौजी सलाम किया, फिर खिलखिलाकर हँस दिया। वे बोले—जानते हो, बन्दा मेजर है, और फ्रांस की रंगरेलियां देखने जा रहा हूँ।

रँगरेलियाँ?' सुधीन्द्र कुछ चिन्तित हो गये। उन्होंने मेज़ पर का अख़बार आगे बढ़ाकर कहा—"देखो तो ये रंगरेलियां कैसी हैं? तमाम फ्रांस में हाहाकार मच रहा है। कब पैरिस का पतन हो जायगा, यह नहीं कहा जा सकता।"

"अजी, उसका पतन होने ही न पावेगा, जब हम पहुँच जावेंगे। बोलो—चलते हो?"

सुधीन्द्र कुछ और ही सोच रहे थे। सुधा ने भाई का स्वर सुना, वह दौड़ी आई। मधुसूदन ने अपने बलिष्ठ हाथों में उसे

पकड़कर झकझोर डाला। मानों वह वही उसकी छोटी-सी बहिन सुधा है। इसके बाद वह ज़ोर से हँस दिया। सुधा ने घर में दौड़-धूप मचा दी। रसोई की खट पट, सोने का इन्तज़ाम, और न-जाने क्या-क्या। तब तक मधुसूदन और सुधीन्द्र बहुत-सी इधर-उधर की बातें कर गए।

तीन दिन बीत गए। मधुसूदन के जहाज़ के जाने में अब सिर्फ़ दो दिन शेष थे। बहुत-सी आवश्यक चीज़ें ख़रीद ली गईं। सुधा ने अनेक अचार चटनियाँ भी बनाकर रख दीं। सुधीन्द्र सोचते, यह क्या ठीक है? ऐसा सजीला, प्यारा, हँसमुख युवक उस-पार पराए के लिए युद्ध करने जा रहा है, सिर्फ़ वेतन के बदले!

उन्होंने सुधा से कहा—सुधा, मधुसूदन को रोक लो, जानती हो, युद्ध है। धन के लिये प्राण नहीं देना चाहिए, प्राणों का मूल्य तो कर्त्तव्य है। पढ़ती ही हो, युद्ध दिन-दिन बढ़ता जा रहा है। जर्मनी का प्रबल प्रताप है, वह बढ़ रहा है, अंग्रेज़ सङ्कट में हैं, यशोदा ने कैसे उन्हें भेज दिया?

सुधा का दिल धड़कने लगा। उसने कहा—"तुम मना करदो।"

"वह क्या मेरी सुनेंगे?"

"मैं कहूँगी।"

"सिर्फ़ कहो ही नहीं, ज़िद करके रोको।"

सुधा ने मधुसूदन से जब इसकी चर्चा की तो उसने हँसी में उड़ा दी। सुधीन्द्र ने देखा, उसका जाना अनिवार्य है। सुधा ने आँखों में आँसू भरकर सुधीन्द्र से कहा—"भैया की अब कैसे रक्षा होगी?"

सुधीन्द्र ने मन-ही-मन कुछ संकल्प किया था। उस दिन, दिन-भर वे घर से बाहर रहे। कल प्रातःकाल जहाज़ जाने-वाला था, अब रात को रायसाहब सपरिवार आ गए। सब सामान बाँध लिया गया।

रात को सुधीन्द्र ने एकान्त पाकर सुधा को पास बैठाकर कहा—

"सुधा, मुझे एक कर्त्तव्य पालन करना है; तुम्हें मदद देनी होगी।"

"मदद दूँगी, कहो!"

"तुम वचन दो।"

"पहले कह दो"

'नहीं, वचन दे दो।"

"वाह, न जाने कैसा काम है!"

"मधुसूदन के लिये है।"

"मदद दूँगी, वचन दिया।"

"दिया न?"

-'दिया।" सुधा ने सुधीन्द्र के पैर छुए।

सुधीन्द्र ने सुधा को खींचकर हृदय से लगाकर कहा—

"सुधा, मधुसूदन के साथ मैं भी जा रहा हूँ।"

जैसे सुधा को सौ बिच्छुओं ने डंक मारा हो। वह तड़प-कर बोली—"क्या कहा?"

"तुमने वचन दिया है, पालन करना होगा—मुझे आज्ञा देनी होगी।"

"नहीं, मैंने वचन नहीं दिया।"

"क्यों सुधा—ऐसी बात क्यों कहती हो?"

सुधा रोने, लगी। सुधीन्द्र ने कहा—"सुधा मधुसूदन को वहाँ अकेले भेजते मेरी छाती फटती है। उस बरसाती आग में उसे जाने देकर मैं शान्त नहीं बैठ सकता। मैंने उन्हें रोकने की बड़ी चेष्टा की–पर वे न रुके। कुछ हर्ज नहीं; युवक है, लाभ ही होगा। हम बहुत जल्द लौटेंगे। वह नवयुवक है, उसकी रक्षा होनी आवश्यक है सुधा, मुझे तुम इसके लिये आज्ञा देदो।"

सुधा रोती ही रही। अन्त में उसने स्वीकृति दे दी। उसने प्रतिज्ञा की—मन-ही मन, कि मैं, पति और भाई के लौटने तक एक वक्त भोजन करूँगी, ज़मीन पर सोऊँगी, उपवास करूँगी, और प्रभु से उनके सकुशल लौटने की प्रार्थना करूँगी। उसने पति की गोद में सिर रखकर कहा—

"जाओ तब, परन्तु मैं एक क्षण सुख न पाऊँगी"

सुधीन्द्र ने कहा—"प्यारी सुधा, सुख-दुख तो मन के विकार हैं, कर्त्तव्य बड़ी चीज़ है।"

"जाने का क्या प्रबन्ध करोगे, क्या फ़ौज में भरती होगे?"

"सब कुछ कर लिया—सीट भी रिज़र्व कर ली; यह देखो, कप्तान का पदक।" सुधीन्द्र मुस्कुरा दिये।

प्रातःकाल उठते ही मधुसूदन ने सुधीन्द्र के दोनों कन्धे हिलाकर कहा—"चलते हैं?"

"चलो।" सुधीन्द्र ने इस गम्भीरता से कहा कि मधुसूदन अवाक् हो गये। फिर जब सामान बाँधने लगा तो सभी को सुनकर आश्चर्य हुआ। सुधीन्द्र के पिता ने प्रथम तो हँसकर टाल दिया, पीछे कहा—"जाओ बेटे, वीरता और साहस का पाठ पढ़ो, पृथ्वी की महा-जातियों के मरने और जीने का ढंग देखो।" रायसाहेब ने भी सहमति दी। ठीक समय पर जहाज़ छूट गया। सुधा अर्द्ध-मूर्छित-सी लौटी। दो दिन रायसाहेब

बम्बई रहे, फिर सुधा को लेकर अमृतसर लौट गये। सुधीन्द्र के पिता घर चले आए। सुधीन्द्र और मधुसूदन रण-प्राङ्गण की ओर चले।

४४

ग्रीष्म की ऋतु थी। बड़ा गर्म दिन था। सुबह ६ बजे ही मधुसूदन और सुधीन्द्र डेक पर अपनी रेजीमेण्ट के साथ पहुँच गये थे। उस पर पहुँचते-पहुँचते सब लोग पसीनों से तर हो गये। श्वेत रँग में पुता जहाज लहरों पर नाच रहा था, सुनहरी सूर्य की किरणें तरंगित समुद्र की शोभा द्विगुणित कर रही थीं। सारी सेना—जिसमें राजपूत, सिख तथा गोरखा रेजीमेन्ट भी थी, किनारे की रविश पर पंक्ति-बद्ध खड़ी की गई। जनरल फ्लीट साहब ने सेना का निरीक्षण किया, सलामी ली, और एक छोटा सा भाषण भी दिया, जिसमें उन्होंने भारतीय सेना पर अपना अगाध विश्वास प्रकट किया, और उनकी वीरता की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी।

वक्तृता की समाप्ति पर उग्र जयनाद हुआ। इसके बाद सब लोग क्रमशः जहाज पर चढ़ने लगे। दो तीन घण्टे तक सुधीन्द्र और मधुसूदन अपने-अपने सामान की व्यवस्था करने और जहाज में अपनी सब सुविधाओं को समझने में लगे रहे। सुधीन्द्र इस समय गम्भीर और चिन्तित से थे, परन्तु मधुसूदन सीटी बजा रहे थे और गीत गा रहे थे।

दोपहर होते-होते जहाज चल दिया। उस समय बिदा

होनेवालों की दृष्टि अत्यन्त करुणाजनक थी। जहाज में बैण्ड बज रहा था, संगीत होरहा था, मल्लाह लोग फुर्ती से अपने-अपने कामों में व्यस्त थे। सुधीन्द्र अपने केबिन में थककर सीट पर पड़ गये थे। मधुसूदन बेखबर खुर्राटे ले रहे थे।

दिन ढल गया, सूर्य अस्त होने लगा। अब चारों तरफ़ जल ही-जल था। सुधीन्द्र उठकर डेक पर आये। लाल-लाल सूर्य का प्रतिबिम्ब जल में अपूर्व छटा दिखा रहा था, सूर्य की किरणों से प्रतिबिम्बित जल, बिजली की भाँति चमक रहा था। देखते-ही-देखते सब कुछ अन्धकार में परिवर्तित होने लगा। सुधीन्द्र के मन में एक भाव का उदय हुआ। वे इस समय सुधा की बात सोच रहे थे, स्वर्गीया माता के अगाध स्नेह को स्मरण कर रहे थे, राजाराम और वीरेन्द्र के भविष्य को सोच रहे थे। सहसा मधुसूदन ने पीछे से पीठ पर हाथ रखकर कहा—"क्या सोच रहे हो जीजाजी ?"

मधुसूदन के मुख से यह शब्द प्रथम बार ही सुधीन्द्र ने सुना। सुनकर उनका हृदय उमड़ आया। वे मधुसूदन से लिपट गये। मधुसूदन ने अट्टहास करके कहा—

"अजी, मैं हूँ मैं।" सुधीन्द्र भी हँस पड़े। उन्होंने दोनों हाथ उनकी पीठ पर जमाकर कहा—

"मधु, जी चाहता है, लौट चलें।"

"लौट जाओ फिर। लाओ, मैं तुम्हारी आँख में उँगली घुसेड़ दूँ। कह देना, आँख फूट गई। रात को जर्मनी के किसी पनडुब्बे ने गोली मार दी थी।"

रात बढ़ रही थी। दोनों अपने केबिन में लौट आये। कुछ जल पान साथ था, खा-पीकर सोगये। यह जहाज में उनकी पहली रात थी।

रात बीती, प्रातःकाल होते ही—एक वही मुख्य साल सब के मुख पर था। वह था भोजन का प्रश्न। ब्राह्मण, जाट, सिख पठान, गोरखा—सभी जाति के सैनिक वहाँ थे। छुआछूत का भेद तो हिन्दू-जाति की शोभा है! बहुतों ने उस दिन पास का खाना खाया। पर आगे क्या किया जाय, इसकी चर्चा खूब जोरों से चल गई। अशिक्षित सिपाहियों में इस सम्बन्ध में अधिक चर्चा थी। आफिसर लोग न उन्हें असन्तुष्ट किया चाहते थे, और न अस्वास्थ्कर खाना खिलाकर रोगी और दुर्बल किया चाहते थे, सूबेदार मेजर रामसिंह बड़े चतुर व्यक्ति थे। उन्होंने सब को समझा-बुझाकर एक बावर्चीखाने को ही धो-पोंछ कर साफ करा दिया, और हिन्दू-मात्र का एक चौका बन गया।

सुधीन्द्र ने निरामिष भोजन की व्यवस्था प्रथम ही जहाज के कर्मचारी से कहकर कर ली थी। मधुसूदन मांस खाते थे, पर सुधीन्द्र के साथ वे भी पूर्ण निरामिषहारी बन गये। एक-दो दिन में खाने-पीने की सब व्यवस्थाएँ ठीक-ठीक बैठ गईं।

अब एक नया प्रश्न था। रँगरूटों में बहुतों को नई बन्दूकें चलाने गैसों के बम चलाने तथा विषाक्त गैस से बचने के ढँग नहीं आते थे। सैनिक-जीवन से अपरिचित थे. इसलिए जहाज पर ही सुबह-शाम सेना की क़वायद की जाने लगी। चलते हुए जहाज के पिछाड़ी उछलते पानी पर टीन या कागज का पुलिन्दा फककर उन्हीं पर नयं सैनिक निशाना जमाने लगे।

जहाज द्विगुण गति से जा रहा था। युद्ध-क्षेत्र से भयानक समाचार क्षण-क्षण पर आ रहे थे। अँग्रेज अफसरों की चिन्ताएँ बढ़ रही थीं। सुधीन्द्र मैगजीन के उच्च अधिकारी थे, तथा मधुसूदन इञ्जिनियर थे। दोनों आफिसर-ग्रेड में थे। इन्हें

भयानक युद्ध-क्षेत्र में किस प्रकार काम करना होगा, यह सब बराबर सिखलाया जाता था। इनके पढ़ने को बहुत-सा उसी विषय का साहित्य उन्हें देदिया गया था। दोनों मित्र मनोयोग से अपने-अपने विषय का अध्ययन करने लगे।

सब से कठिनता सुधीन्द्र को विदेशी वस्त्रों की वर्दी पहनने में हुई। फिर भी अनिवार्य स्वदेशी वस्त्र-धारी सुधीन्द्र ने वर्दी पहिनी। युद्ध की भीषणता के समाचारों और झन्डों के चिन्हों को देख-देखकर दोनों मित्रों के मन में युद्ध-सम्बन्धी चर्चा तक छोड़ने की होती थी; खासकर सुधीन्द्र—जो मधुसूदन-जैसे सरल-हृदय युवक के मोह से ही इस आग में कूदे थे, और किसी भी तरह मधुसूदन को सकुशल घर लेजाने की कामना मन में छिपाये थे,—बहुत बार बहुत सी बातें सोचते रहते थे।

जिस बन्दरगाह के निकट जहाज पहुँचता, वहाँ से कुशल का संकेत मिलता। बन्दर पर आवश्यक समाचार मिलते। जहाज बहुत-से गोला बारूद—तथा नये सैनिकों को लादकर फिर समुद्रके घाटी को चीरता हुआ आगे बढ़ता। कहीं कहीं सिर्फ कोयला-पानी ही के लिये जहाज ठहरता।

जहाज पर गोरे-काले का भेद बहुत कम था। अँग्रेज अफसर तक साधारण सिपाहियों से आदर और प्रेम से बातें करते थे। बहुधा युद्ध की बातें होती थीं। नवीन अस्त्रों, बन्दूकों मशीगनों, गैसों का चर्चा होती थी।

सुधीन्द्र बहुत सोचते—युद्ध क्या पशु-धर्म है?—जैसा कि कुछ विद्वानों का मत है। अनन्त काल से युद्ध होते आये हैं। युद्धों से सदा जातियाँ बनती-बिगड़ती रही हैं, युद्ध भविष्य में भी होंगे। सुधीन्द्र ने महात्मा गान्धी के अहिंसा-तत्व पर

बहुत विचार किया था। परन्तु गीता का हिंसा-धर्म उनके विचारने का विषय था। परिजनों को मार डालने की युक्तियों पर सुधीन्द्र विचार किया करते थे। उनका खयाल था कि आज जो हमारे देश के युवक निस्तेज और निराश हैं, देश ढीला और अनेक पापों में फसा हैं, उसका कारण एक-मात्र यही है कि हमारे देश में सम्मुख युद्ध का प्रोग्राम नहीं। जिस दिन हमारे देश के युवकों के सामने युद्ध का जीवन आजायेगा, उस दिन देश के युवकों को काम-ही काम है। उस दिन उत्साह, आनन्द और जीवन की नदी बह जायगी। सुधीन्द्र बहुधा उस दिन की काल्पनिक तस्वीर देखते थे, जब देश के वीर युवक सैनिक-वेश में व्यवस्था से चलते नजर आयेंगे।

धीरे धीरे योरोप निकट आगया। समुद्र की यात्रा के प्रारम्भ में दोनों मित्रों को शुरू में थोड़ा कष्ट रहा—फिर तबियत ठीक होगई। दोनों का स्वास्थ्य सुधर गया, फुर्ती आई। सुधीन्द्र की गहनता अब मिट गई थी। वे युद्ध-क्षेत्र के आसाधारण पथ आँखों से देखने को उत्सुक थे। मधुसूदन तो मानों खेलने जारहे थे।

प्रान्त में घुसते ही समुद्र तट के किनारे युद्ध के भीषण लक्षण दीखने लगे थे, बन्दरगाहों पर अनगिनत जहाज धुआँ उगल रहे थे, हवाई जहाज मँडरा रहे थे आग से गाँव जलकर खाक होगये थे। सब-कुछ निर्जन था। बहुत से गाँव अब भी धू-धू जल रहे थे। कहीं-कहीं एकाध बृद्ध स्त्री-पुरुष करुणा की मूर्ति बने दृष्टिगोचर होते थे।

अभी धूम धाम से सेना उतारी गई। किनारे पर ऑफिसर खड़े थे। सब जाति के मित्र-सैनिक जय-ध्वनि कर रहे थे।

आज सुधीन्द्र ने देखा—विद्याभ्यास, व्यापार और युद्ध के लिये तो लोग विदेश आते ही हैं, युद्ध के लिये आना एक और ही चीज है। सब लोग छावनी में पहुँच गये। युद्ध की व्यवस्था, तत्परता, भयानकता और प्रबन्ध देखकर दोनों मित्र आश्चर्य-चकित रह गये।

४५

इङ्गलैण्ड और फ्रान्स में सर्वत्र हलचल थी। समस्त रेल-गाड़ियाँ सामरिक सेवा में लग रही थीं। फौजों के लिए जहाँ जिस चीज की आवश्यकता होती थी—वहाँ रेलों द्वारा वह वस्तु तुरन्त पहुँचाई जाती थी। डाकघर और तारघरों का भी यही हाल था। ये चीजें मानों सार्वजनिक न थीं। सरकार ने सूचना दे दी थी कि यदि सर्व-साधारण के किसी भी काम में उक्त विभाग असक्त है, तो शिकायत का अवसर नहीं।

सर्व-साधारण बड़ी असुविधा में थे। खास कठिनाई विदेशियों की थी। सभी देशों में लाखों विदेशी सैलानी भरे थे। वे सब एक प्रकार से जहाँ-के-तहाँ कैद होगये। मोटर, रेल, डाक, तार से, बिना गवर्नमेंट की आज्ञा के कोई काम नहीं ले सकता था।

सम्पूर्ण फ्रान्स में सैनिक कानून जारी था। गावों और नगरों में सिर्फ बूढ़े, बालक स्त्रियाँ रह गई थीं। देश के रास्ते, घाट, नाके—सब खास तौर पर सुरक्षित हो गये थे। सूर्यास्त के पीछे किसी को निकलने की आज्ञा न थी। इङ्गलैण्ड और फ्रान्स के समाचार ठीक ठीक नहीं मिल पाते थे। उस समय

भूमध्यसागर तथा बेलजियम में भयानक युद्ध छिड़ रहा था। देशभर में जर्मनी के भेदिये उत्पात मचा रहे थे। ये लोग रेल की पटरियों को उखाड़ते, पुल तोड़ते, बम मारते और न जाने क्या-क्या उपद्रव करते थे।

जो लोग नगरों में बचे थे, सब युद्ध के ही कुछ-न-कुछ काम कर रहे थे। स्त्रियाँ भी खाली न थीं। वे अस्पतालों में नर्स बनकर, या वस्त्र सीकर सेवा करतीं थीं। सब ऑफिस और कार्यालय सूने पड़े थे। स्टेशनों पर सन्नाटा था, समस्त देश सिर से पैर तक हथियारबन्द था। सुसज्जित सेनाओं पर बच्चे और महिलाएँ जब पुष्प-वृष्टि करती थीं, तो वह दृश्य देखते ही बनता था। इस युद्ध में सब ओर के कई करोड़ मनुष्य संलग्न थे, और दैनिक खर्चा तीन करोड़ रु० हो रहा था।

रुपये की दर सर्वत्र गिर रही थी। सिक्का नाम को न मिलता था; सर्वत्र कागजी ही नोट थे। बैङ्कों पर जनता के धावे हो रहे थे। बैङ्कों में रुपया न था, व्यापारिक कम्पनियाँ रुपये के विनियम न होने से धड़ाधड़ टूट रही थीं। व्यापार और शिल्प मिट्टी में मिल गये थे। शत्रुओं के जासूस बहुधा बेपर की ऐसी-ऐसी अफवाहें उड़ा दिया करते थे कि जिससे बाज़ार के भाव तितर-बितर हो जाते थे। बैंकों के सूद की दरें बढ़ गई थीं। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ लॉयड जार्ज धन-विज्ञान और युद्ध-विज्ञान पर धुआँधार व्याख्यान देते फिरते थे।

खाद्य-पदार्थों का बाहर जाना निषिद्ध था। लोग अधिक से अधिक खाद्य-पदार्थ एकत्रित करने को व्यस्त थे। पदार्थों के मूल्य बेतरह बढ़ गये थे। दूकानदार माँग पूरी न कर पाते थे। बहुधा १०।२० स्त्रियाँ बलपूर्वक दूकानों में घुस जातीं और चीजों को बाहर फेंकने लगतीं। पुलिस कठिनाई से व्यवस्था कर पाती थी।

कम और साधारण भोजन करने के उपदेश प्रचलित हो रहे थे।

उद्योग-धन्धे सब बन्द होने से श्रमजीवियों की बुरी हालत थी। वे बहुधा उपद्रव कर बैठते थे, जो कठिनता से दमन होते थे। समुद्रीय मार्ग खतरों से भरे थे। इसलिये जहाज द्वारा माल का यातायात बिल्कुल बन्द होगया था।

सुधीन्द्र ने बड़ी गम्भीरता से युद्ध की इस सार्वजनिक परिस्थिति का अध्ययन किया। वे युद्ध की उपयोगिता पर बहुधा वाद विवाद करते रहे। युद्ध के कारण ऐसे सम्पन्न राष्ट्र महा-दुर्दशाग्रस्त हो रहे थे। फिर भी सुधीन्द्र युद्ध ही को राष्ट्रीय जीवन का मूल साधन समझते रहे।

२६

मधुसूदन और सुधीन्द्र को फ्रान्स पहुँचते ही तुरन्त बेलजियम पहुँच जाने की आज्ञा मिली। दोनों मित्र अपनी टुकड़ी के साथ रवाना हो गए। जिस जहाज पर यह छोटा सा भारतीय दल था वह एक बहुत बड़ा युद्ध-पोत था। उसकी भीषण तोपें प्रसिद्ध थीं। बेलजियम एक छोटा सा परम सुन्दर हरा-भरा देश देश था। उसकी कुल तैयार सेना ४५ हजार थी परन्तु जर्मन का गुट्ट ८५ लाख और मित्र-राष्ट्रों का ९१ लाख था। इस प्रबल महायुद्ध में बेलजियम ने अपनी अल्प-शक्ति से असीम बीरता प्रदर्शन की। मित्रों की सहायता उसे बड़ी देर में मिली—वह देश बिल्कुल नष्ट-भ्रष्ट हो गया।

रात्रि के दो बजे थे। घोर अन्धकार था। समुद्र स्वच्छ था। जहाज तट से १॥ मील के अन्तर पर लङ्गर डाले पड़ा था।

अन्त तक अन्धकार ही अन्धकार दीखता था। आकाश में थोड़े तारे चमचमा रहे थे। दूसरे किनारे पर तोपों के गर्जन—बम के धड़ाके और अग्नि-दाह की गगन-चुम्बी लपटें—कभी-कभी बहुत से मनुष्यों की चीखें! परन्तु जहाज पर नाच-रंग हो रहा था। सारा जहाज रोशनी से जगमगा रहा था। जहाज पर बहुत कम महिलाएँ थीं। ये सब लक-दक पोशाक पहने, उन वीरों के दल में तारों के समान चमक रही थीं। मधुर वाद्य बज रहे थे, और नृत्य हो रहा था। एक दल नाचकर, थककर हट गया—झट दूसरा आगे बढ़ जाता था। बहुत से सिपाहियों ने मित्रों का जोड़ मिलाकर ही नाचना शुरू कर दिया। हँसी का फव्वारा छूट रहा था—महिलाएँ मधुर स्वर से देश-भक्ति के गीत गा रहीं थीं। बीच में सैनिक आवेश में आकर कोई कोई कड़ी मिलकर गा उठते थे।

सुधीन्द्र और मधुसूदन दोनों एक तरफ खड़े यह अभूतपूर्व दृश्य देख रहे थे। मधुसूदन ने कहा—देखा जीजाजी, ये असल निशाचर हैं; मृत्यु की ठीक तलहटी में किस मस्ती से नाच-रङ्ग में मस्त हैं। यह कौन जानता है, कल रात तक इनमें से कितने जीवित रहेंगे?

सुधीन्द्र ने एक गम्भीर निश्वास छोड़कर कहा—

"मधु, जीवन का भेद यही है, यही जीवन है। जिस जाति के बच्चे मृत्यु की छाया में नाच रंग कर सकते हैं, वे कब उदास और क्यों निराश होंगे? क्या भारतवर्ष में नहीं देखा? बड़े बड़े विद्वान् और ग्रेजुएट अपनी निस्तेज आँखों में निराशा और शोक भरे फिरते हैं।'

दोनों मित्रों को चुपचाप बात करते एक महिला ने देखा।

वह हँसती हुई इनके पास आकर मधुर स्वर में बोली—

"आपलोग यहाँ चोर की भाँति कैसे छिपे खड़े हैं ?" उसने सुधीन्द्र का हाथ खींचकर कहा—"आइए, मैं आपके साथ नाचूँगी।"

सुधीन्द्र घबराया। उनके जवाब देने से प्रथम ही मधुसूदन ने हँसकर कहा—"इन्हें रहने दीजिए, पतलून में उलझकर गिर पड़ेंगे। आप जानती हैं, ये फिलॉस्फर हैं।"

"क्या सच ?" युवती ने कौतूहल से देखा। सुधीन्द्र ने कहा—

"सचमुच देवी, मैं बहुत लज्जित हूँ—मुझे नाचना आता नहीं।"

मधुसूदन हँसकर बोले—अजी, आप जानती हैं, ये किस देश के हैं ?—जहाँ, स्त्रियाँ दिन में अपनी उँगली भी पति को नहीं दिखातीं, वे नाचेंगे कैसे ?"

सुधीन्द्र हँस दिए। उन्होंने कहा—"मेरे इस नटखट मित्र को पकड़िए, इसने बचपन से नाचना सीखा है। देखिए, इससे जरा भारतीय नाच तो नचाइए।"

महिला के नेत्रों में कौतूहल फैल गया। उसने चिल्लाकर कहा—

"वण्डरफुल—इण्डियन डांस ! इण्डियन डांस !!"

मधुसूदन बड़े घपले में पड़ा। वह महिला उन्हें छोड़ती ही न थी। उन्होंने सुधीन्द्र से कहा—बड़े दुष्ट हो ! अब जान कैसे बचे ?

सुधीन्द्र ने हँसकर धकेलते हुए कहा—

"नाचो न।"

एकाएक ऊपर से निरीक्षक ने चिल्लाकर कहा—

"लाल संकेत" इसके बाद ही बन्दूक का एक धड़ाका हुआ।

क्षण भर में जहाज का रङ्ग बदल गया। जहाज का कप्तान जो एक युवती को तोप के ऊपर घुड़सवार की भाँति बैठाकर घुल-घुलकर बातें कर रहा था, तनकर खड़ा हो गया। उसने तत्काल आज्ञाएँ देनी प्रारम्भ कीं। समस्त खलासी कठपुतली की भाँति अपने-अपने काम में मशीन की तरह जुट पड़े। कमाण्डर ने फौरन एटेन्शन की, ललकार भरी। कुल सिपाही पंक्ति-बद्ध खड़े हो गए—सब हर्वे हथियार से लैस। सुधीन्द्र और मधुसूदन भी अपने-अपने काम पर लग गए। सब सैनिक जादू की पुतली की भाँति सेनापति की आज्ञा से तैयार हो गए। तोपों के रुख बदले गए। गोला-बारूद प्रस्तुत किया गया। जनरल और कप्तान दूरबीन लेकर खड़े हो गए। पाँच ही मिनट में जहाज अपनी पूरी युद्ध सज्जा से किनारे की ओर अग्रसर हो रहा था, कुछ कदम चलते ही उसने अपनी भीषण तोपों को दागना शुरू कर दिया। किनारे पर उसके हर एक गोले ने गिरकर जो किया, वह जहाज पर ही से दीखने लगा।

किनारा निकट आने पर सब लोग किश्तियों के द्वारा नीचे उतरे। इस समय सुधीन्द्र और भी सैनिक वेश में थे। वे मधुसूदन के कन्धे से कन्धा भिड़ाए जा रहे थे। कुछ कदम जाने पर एकाएक इनपर गोलियों की वर्षा होने लगी। बढ़ती हुई सेना रुक गई। वहीं मोर्चा लग गया। सब लोग जमीन में लेट गए, और दोनों तरफ से आग बरसने लगी, मशीनगनों की गोलियाँ मेंह के समान बरस रही थीं। घायलों के चीत्कार और मरनेवालों के आर्त-नाद से कलेजा धड़कने लगा।

एक गढ़े में तीन व्यक्ति छिपे पड़े थे।—मधुसूदन, सुधीन्द्र और एक अंग्रेज अफसर। अंग्रेज ने दियासलाई जलाकर सिगरेट जलानी चाही। सुधीन्द्र ने छीनकर बुझाते हुए कहा—"यह क्या बेवकूफी है, मरना चाहते हो! देखते नहीं, ऊपर हवाई जहाज मँडरा रहे हैं।"

"धन्यवाद! मैंने बड़ी मूर्खता की।" अफसर ने हाथ मिलाते हुए कहा।

इसी समय किसी के रेंगकर आने की आहट मालूम हुई, तीनों ने बन्दूकें सम्भालीं। जरा सिर निकालकर देखा। पूछा—"कौन?" "मित्र" धीमे स्वर में जवाब मिला। तीनों ने मिलकर उसे खाई में ले लिया। एक अंग्रेज सैनिक था। वह कई गोली खा गया था। उसके हाथ में एक आवश्यक सन्देश था।

उसने कहा—"यह सन्देश अभी आगे की पंक्ति में पहुँचना आवश्यक है। मैं अब नहीं जा सकता।" वह मूर्छित होगया। अँग्रेज युवक तुरन्त तैयार होगया। मधुसूदन ने उठते हुए कहा—आप जरा उसके घावों को देखें—यह काम मैं किये देता हूँ। सुधीन्द्र ने उसे बहुत बाधा दी, परन्तु मधुसूदन उससे प्रथम ही खाई से बाहर थे! गोलियों का मेंह बरस रहा था। मधुसूदन एक टीन के खाली बक्स को सिर के आगे सरकाते बढ़े ही चले गये। गोलियाँ ओलों की भाँति उनके अगल-बगल गिर रहीं थीं, एकाध घाव वे खा भी गये, रक्त निकलने लगा, पर वह रेंगते ही गये। अन्त में वे उस पंक्ति को पार कर गये। अब वे उठकर चलने लगे, दिन निकलने लगा था। प्रकाश हो रहा था।

तोपों का भीषण गर्जन पल-पल में उनके निकट आने लगा। मार्ग में उन्हें भयानक खून-खराबी के लक्षण दीखे। सारी धरती लाशों से भरी पड़ी थी। गोले और सुरङ्गों ने उड़-उड़कर सैकड़ों भयानक गड्ढे कर दिये थे। मार्ग में एक गाँव बिलकुल झुलस गया था। अब भी किसी-किसी घर से आग की लपटें उठ रही थीं। मकानों के दर्वाजे और खिड़कियाँ अब तक जल रहे थे। पर प्राणी का नाम भी न था; सब झुलसकर प्रथम ही दुःख से दूर हो गये थे। यहाँ से कुछ आगे चलकर मधुसूदन एक टीले पर चढ़ गये। वहाँ से उन्होंने दूरबीन लगाकर देखा कि दक्खिन की ओर लगभग ५० जर्मन एक मेंढ़ के सहारे बारूद बिछा रहे हैं। बारूद बिछ गई, पलीता लग गया; सामने आध मील के फासले से एक अंग्रेज टुकड़ी लड़ती-लड़ती पीछे हटती चली आ रही है, सामने से बराबर पिघला हुआ लोहा बरस रहा है। फिर देखा—सब जर्मन भागे हुये उत्तर पूर्व को चले गये हैं; केवल एक जर्मन एक झाड़ी में छिपा बैठा है। वे समझ गये कि ज्योंही मित्रदल उस पृथ्वी पर पहुँचे कि आग लगाई।

मधुसूदन घुटनों के बल खसकते-खसकते चल दिये। जर्मन ने कुछ खड़खड़ाहट सुनकर पीछे देखा ही था कि दन-से पिस्तौल चली और तुरन्त ही एक गोली उसकी खोपड़ी में घुस गई। वह वहीं लोट-पोट हो गया। अब मधुसूदन ने पलीता सँभाला और वे दूसरी झाड़ी में जा छिपे। जर्मनों का हमला बराबर जारी था। तोपें वैसी ही गरज रही थीं। वे जानते थे कि आगे बारूद बिछा है; और वह उस टुकड़ी को उड़ा ही देगी।

आखिर टुकड़ी उस धर्ती पर आई और निकल गई। मधु-

सूदन मुस्कुराते बैठे रहे। अन्त में जर्मन तोपखाना भी उस धरती के पास आ पहुँचा। फ़ायर जारी था। मधुसूदन का चेहरा खिल उठा। उन्होंने एक सिगरेट निकालकर मुँह में ली और दियासलाई निकाल कर जलाई। एक बार दम खींचकर वह खिलखिलाकर हँस उठे। पर उसकी आवाज एक भयंकर गूँज में मिल गई। उसी के साथ भीषण तूफान उठा, धरती दहल उठी—बृटिश टुकड़ी ने पीछे फिरकर देखा—सारे जर्मन नष्ट-भ्रष्ट हो रहे हैं। उनके शरीर की धज्जी-धज्जी आकाश में उड़ रही है।

मधुसूदन की उसी अधजली दियासलाई ने 'जिसका जूता तिसका सिर' कर दिया था।

इस धूम-धड़ाके में भी वे चुप न बैठे। इस भीषण करतूत के उन्होंने कई फोटो ले लिये। अब वे उठ खड़े हुए। यहाँ से दक्खिन की राह ली। तोपों की भयंकर गर्जना बराबर आ रही थी। अन्त में वे वहाँ जा पहुँचे, जहाँ यह भयंकर युद्ध हो रहा था। गोले आकाश में शाँय-शाँय कर रहे थे। गोलियाँ सनसना रही थीं। घायल तड़प रहे थे।

मधुसूदन वहीं लेट गए। नोटबुक निकाली और सारा विवरण लिख लिया। फिर कुछ फोटो लेकर दूरबीन से देखने लगे।

अचानक उन्होंने देखा, 'यूनियन जैक' ऊँचा होकर सहसा फहरा उठता है। चौतरफ हुर्रा की ध्वनि मच गई। इस दृश्य के भी उन्होंने दो-एक फोटो लिए, और देखना शुरू किया। उन्होंने देखा, एक लेफ्टिनेट पैर से बुरी तरह घायल होकर पड़ा है। यह साहसी सब के आगे था। अब भी वह किसी तरह बढ़ ही रहा है। पर चोटी पर पहुँचते

ही उसे मूर्छा आने लगी। उसने अपने नीचे के अफसर को बुलाकर कमान दी, और आप पड़ रहा। मधुसूदन झपटकर उसकी सहायता को बढ़े। इसी समय भयंकर विषैली गैस चारों ओर फैल गई। मधुसूदन ने जल्दी-से टोपी पहिन ली और चुपचाप दम रोककर पड़ रहे। जब कुछ देर में उसका प्रभाव कम हुआ तो दृश्य देखकर मधुसूदन का दिल दहल उठा। उसने देखा, सैकड़ों सैनिकों की बन्दूकें हाथ से छूट गई हैं, और वे तड़फड़ाकर मर रहे हैं। दम घुटने से गले की नसें फूल उठी हैं, आखें बाहर निकल आई हैं। मधुसूदन से ऐसी पैशाचिक लीला देखी नहीं गई। चटपट एक-दो फोटो ले, उठ खड़े हुए। उन्होंने दूरबीन से देखा—जर्मन खाई छीनने को आगे चले आ रहे हैं। मधुसूदन साहस करके एक झाड़ी की की आड़ में छाती के बल शत्रु की ओर ही खसकने लगे।

शत्रु एक मशीनगन से गोली बर्साते हुए धड़ाधड़ बढ़ते हुए चले आ रहे थे। उनके पीछे और भी असंख्य पंक्तियाँ थी। तनिक और पास पहुँकर मधुसूदन ने—गन पर एक बम का प्रहार कर ही दिया। साथ ही धमाके के साथ बहुत-सी धूल-पत्थर उड़ने लगे। मैशीन का गर्जना भी बन्द होगया। इस बीच में मधुसूदन ने गजब की फुर्ती दिखाई। धुआँ-गर्द साफ होते होते उन्होंने गन पर कब्जा कर लिया। अब वह मैशीन जर्मनों को खाने लगी। शत्रुओं की बाढ़ रुक गई। क्षण-भर को वे स्तम्भित हो गये। अब मधुसूदन ने यूनियन जैक से निकाल-कर ऊँचा कर दिया और बिगुल निकाल कर संकेत भाव से बजाया। इसके बाद वे जोर से चिल्ला उठे—'ग्रेट ब्रिटेन की जय, ग्रेट ब्रिटेन की जय!' गैस का प्रभाव कम हो गया था। उनका जयनाद तथा बिगुल का शब्द सुन, तथा यूनियन जैक

को फहराता देख, चारों तरफ की खाई से निकल-निकलकर सैनिक दौड़कर गोली बरसाने लगे। मधुसूदन हटकर अपने दल में आ मिले।

❀ ❀ ❀

४७

अस्पताल में मधुसूदन दो-तीन दिन बेहोश पड़े रहे। उन्हें युद्ध-क्षेत्र के स्थायी अस्पताल से तुरन्त पैरिस के प्रसिद्ध अस्पताल में ले जाया गया। उनका बाँया पैर बिलकुल-ही निकम्मा होगया था। उसकी हड्डी टूट गई थी, और वह अब सड़ने लगी थी। सुधीन्द्र को भी उनकी सुश्रूषा में साथ रहने की आज्ञा मिल गई। उनके हृदय पर मानों बोझ धरा था। जिसकी रक्षा के लिये सुधीन्द्र ने यहाँ तक की यात्रा की, उसकी रक्षा अन्ततः नहीं हो सकी।

एक दिन सब प्रमुख डाक्टरों ने सलाह करके सुधीन्द्र से कहा—"आपके मित्र की टाँग काट डालने के सिवा प्राणरक्षा का कोई चारा-ही नहीं है। कृपया सहूलियत से आप उनसे यह कह दें।" सुधीन्द्र विचलित हो उठे, परन्तु उन्होंने कठिन भार अपने ऊपर लिया ही। दूसरे दिन सुबह आपरेशन का निर्णय हो गया।

दोपहर को भोजन के बाद सुधीन्द्र ने धीरे-धीरे मधुसूदन के निकट जा ज्वर से आग के समान जलती उनकी देह पर धीरे-धीरे हाथ फेरना शुरू किया। मधुसूदन ने सर्वज्ञ-दृष्टि से उनकी ओर देखा। वेदना से वे बेचैन थे। पर वे मुस्कुरा दिये।

सुधीन्द्र ने पूछा—

"क्या बहुत कष्ट है ?"

"ऐसा कुछ अधिक नहीं।"

उन्होंने वेदना को बलपूर्वक दबाकर कहा—"चिन्ता न करो, पर डाक्टर कहते हैं,····"

"क्या कहते हैं"—मधु ने चिन्ता से कहा·····।

सुधीन्द्र झिझके, फिर बोले—"यही पैर के विषय में, कि सम्भव है, वह टाँग चलने-फिरने योग्य न रहे।"

"ओह, न रहे; दर्द तो दूर हो। जी चाहता है, काटकर फेंक दूं।"

"सचमुच दुखदाई अंग को दूर करना ठीक है।"

सुधीन्द्र के चेहरे पर दृष्टि गाड़कर मधुसूदन ने कहा—"क्या मैं टाँग कटवा दूं ?"

सुधीन्द्र ने दृढ़ स्वर में कहा—

"अवश्य; यदि डाक्टर यह समझते हों कि यह अब निकम्मी हो गई।"

"डाक्टर क्या कहते हैं—पूछो न ?"

"मैंने पूछा था।"

"क्या कहा ?" मधुसूदन वेदनापूर्ण दृष्टि से सुधीन्द्र को देखने लगे। सुधीन्द्र ने कहा—वे कहते हैं, अब इस अंग को निकाल डालने में ही ज्यादा सुविधा है।"

"तब उनसे कह दो, देर न करें; मैं इतना कष्ट नहीं सह सकता।"

सुधीन्द्र ने मधु का सिर गोद में लेकर उसपर बड़ी देर तक हाथ फेरा। आँखों में आये आँसू को सुखा डाला, फिर कहा—

'मैंने कल-ही आपरेशन का बन्दोबस्त कर लिया है; कल सुबह।"

"अच्छी बात है", मधुसूदन ने दाँतों में होंठ भींचकर कहा। और वह फिर करवट बदलकर सो गया।

दूसरे दिन सेना के सर्व-श्रेष्ठ डाक्टर लोग इकट्ठे हो गये। इङ्गलैण्ड के प्रसिद्ध सर्जन हवाई जहाज से बुला लिये गए। अस्पताल में खास चहल-पहल थी। जिस समय मधुसूदन को आपरेशन-रूम में लाया गया, सुधीन्द्र बाहर जाकर फूट-फूट रोने लगे।

मधुसूदन ने सुधीन्द्र को बुलवाकर सूखा हास्य हँसकर कहा—

"अगर कुछ हो जाय तो माताजी और यशोदा का ख्याल रखना"—उनकी आँखें भर आईं। मधुसूदन की दृष्टि में आँसू ये प्रथम बार ही देखे गये थे। सुधीन्द्र ने हँसकर कहा—"वाह, यह क्या बेवकूफी है? रद्दी सी टाँग पर इतना मोह!"

मधुसूदन भी हँसने लगे। दोनों मित्र अपनी-अपनी हँसी में एक-दूसरे को भुलाना चाहते थे, पर नेत्रों में भय भरा था। सर्जन ने आकर मधुर स्वर में कहा—

'अब आप तैयार हो जाइये। आपको जरा भी तकलीफ़ न होगा और आप दो हफ्ते में ठीक हो जावेंगे।"

मधुसूदन सहमत। हुए उन्होंने पाँच मिनट का अवकाश माँगकर दो पत्र लिखे और सुधीन्द्र को देकर कहा—"इन्हें जेब में रख लीजिए। आपरेशन के बाद मैं ले लूँगा।" सुधीन्द्र ने काँपते हाथों से पत्र लेकर जेब में रख लिये।

आपरेशन सकुशल समाप्त हो गया। खतरे का समय बीत

गया। सुधीन्द्र ने जब यह समाचार सुना, वह हर्ष से नाच उठे। अब टाँग जाने का खेद न था, प्राण बचने की खुशी थी। वे मन लगाकर मधुसूदन की सेवा-सुश्रूषा करने में लगे।

४८

उस अलौकिक वीरता के पुरस्कार में, मधुसूदन 'विक्टोरिया क्रास' और बहुत-सी ज़मीन-जागीर पाकर घर लौटे। पैर काटने की सूचना मधुसूदन की इच्छानुसार घर नहीं भेजी गई। लौटने की ठीक तिथि नहीं भेजी गई थी। मधुसूदन सब लोगों को बम्बई आने का कष्ट नहीं दिया चाहते थे। मधुसूदन की वीरता और इनाम आदि की बातें तो रायसाहेब गज़ट में पढ़ते ही रहते थे। घर के सभी लोग उनसे मिलने को अधीर थे। ज्योंही उनके अमृतसर पहुँचने का तार मिला, घर भर में हलचल मच गई।

स्टेशन पर रायसाहेब, नगर के प्रमुख व्यक्ति तथा कलक्टर साहेब स्वागत के लिए आए थे। 'पंजाब आर्मी-कोर के कर्नल भी स्वागत के लिए आए थे। गवर्नमेन्ट ने इसके लिये आज्ञा भेज दी थी। मधुसूदन और सुधीन्द्र दोनों ही घबरा रहे थे कि किस प्रकार यह दुस्सम्बाद सुनाया जायगा। गाड़ी खड़ी होने पर सुधीन्द्र दरवाजे में खड़े हो गये उन्हें देखते ही रायसाहेब बच्चे की भाँति चिल्ला उठे। सब लोग डब्बे की तरफ दौड़े। मधुसूदन चुपचाप सीट पर बैठे थे। उनकी बगल में बैसाखी रक्खी थी, और नकली टाँग उनके लगी थी। वे विषादपूर्ण दृष्टि से बैसाखी की लकड़ियों को देख रहे थे। एकाएक राय-साहेब कमरे में घुस आए। वे चिल्ला-चिल्लाकर पुत्र को छाती

से लगाने को बढ़े। मधुसूदन ने हँसकर अपनी बाहें फैला दी। पर ज्योंहीं उनकी दृष्टि बैसाखी की लकड़ियों पर और फिर उनकी टाँग पर पड़ी, वे एकदम भय और वेदना से चिल्ला उठे। सुधीन्द्र ने उन्हें निकालकर बैठाया। मधुसूदन हँस रहा था। रायसाहेब उसकी गोद में सिर रखकर फूट-फूटकर रो उठे। बड़ी देर में उनके मुँह से निकला—"बेटे मेरे, आखिर तुम अपाहज होकर लौटे।" 'नहीं पिताजी, देखिये तो, मैं कितना तेज़ दौड़ सकता हूँ।" वे खूब हँस रहे थे। बाहर भीड़ बुरी तरह चिल्ला रही थी। रायसाहेब ने फिर पुत्र के पीले चेहरे पर डोलती हुई हँसी को देखा। वे मुस्कुराये, फिर पीठ थपथपाकर कहा—'पुत्र, हम वंश-परम्परा से क्षत्रिय हैं। पीढ़ियों से हमने वह धन्धा त्याग दिया था। तुमने वीरता में बहुत नाम पाया, मेरा वंश धन्य हुआ। आओ, मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ" वे खूब ज़ोर से पुत्र से लिपट गये।

उन लोगों से प्रथम ही उनकी टाँग की खबर घर पहुँच गई। यशोदा ने सुना तो स्तम्भित रह गई। माता ने सुना तो रोने लगी। सुधा ने मा को धीरज दिलाना प्रारम्भ किया। मधुसूदन के आने पर उनकी माता उनको देखते ही इस प्रकार लपकी, जैसे गाय बच्चे को देखकर लपकती है। मधुसूदन ने भी दोनों हाथ फैला दिये। कुछ देर माता रोती रहीं, फिर सब कोई शान्त होकर बैठे। मधुसूदन बराबर हँस रहे थे, सुधीन्द्र गम्भीर थे। बहुत-से लोग आरहे थे, और मधुसूदन से भाँति-भाँति के प्रश्न कर रहे थे। वे हँस-हँसकर सब को उत्तर दे रहे थे। वे अपनी टाँग काटने का कटु इतिहास भी सब को हँसकर सुना रहे थे।

अन्त में रायसाहेब ने लोगों को विदा किया, और उनसे

स्नान-भोजन कर, आराम करने को कहा। सब कामों से निबट-कर जब मधुसूदन यशोदा के कमरे में पहुँचे, तब उनका हँसना असाध्य हो गया। उन्होंने यशोदा को देखकर एक बार हँसने की चेष्टा की—पर उनका धैर्य जबाब दे गया। वे वहीं गिर गये—बैसाखी उनके हाथ से छूट गई और वे फूट-फूटकर रोने लगे। यशोदा तो बहुत रो चुकी थी; अब भी उसके आँसू नहीं रुकते थे। परन्तु पति को इतना कातर होते देख,उसने उन्हें उठाया—तसल्ली दी। मधुसूदन बड़ी देर तक यशोदा की गोद में मुँह छिपाये रोते रहे। स्नेह और त्याग की मूर्ति यशोदा ने उन्हें भली भाँति धैर्य दिया।

सुधीन्द्र उस दिन सुधा को पाकर बिल्कुल मौन हो गये। उन्हें कहने को कोई बात न मिलती थी। सुधा बहुत कुछ पूछना चाहती थी, पर बोल न सकती थी। वे दोनों प्रेमी दम्पति चिर-वियोग के बाद चुपचाप अपनी वियोग-वेदनाओं को अपनी मौन भाषा में एक दूसरे पर प्रकट कर रहे थे। सुधा के अभाव में सुधीन्द्र ने और सुधीन्द्र के अभाव में सुधा ने किस भाँति घर बनाकर समय व्यतीत किया था। उस प्रबल ज्वाला के बाद दोनों के परस्पर स्पर्श से प्राण-संजीवन हो रहा था। दोनों पाशबद्ध प्राणी अर्द्ध मूर्छित-सी अवस्था में पड़े सुख-सागर में निमग्न हो रहे थे।

———

४९

सुमित्रा एक विचित्र प्रकृति की स्त्री थी। वह गृहस्थी के काम-काज में तत्पर और फुर्तीली स्त्री थी, पर वह घोर कुसंस्कारों में पली थी। उसके माता-पिता साधारण देहाती किसान थे। घर-भर में कोई शिक्षित न था। घमण्ड, ईर्ष्या, चुगली—ये तीन बातें अशिक्षित स्त्रियों में जो होती थीं, सुमित्रा में भी खूब थीं। सुधा के अभाव में अब वही घर की स्वामिनी थी। रेवती और उसके पति राजाराम अलग रहने लगे थे। सुमित्रा अपने पति वीरेन्द्र, श्वसुर और राजेन्द्र के साथ रह रहे थे। वीरेन्द्र की आय बहुत छोटी थी। उसी से लटपट-पटपट यह छोटी-सी गृहस्थी चल रही थी। सुधीन्द्र समय-समय पर खर्चा भेजते रहते थे। सुमित्रा ने इस बीच एक कन्या को जन्म दिया था। राजेन्द्र के जन्म के बाद इस परिवार में यही एक शिशु जन्मा था, इससे सुमित्रा का घमण्ड चौथे आस्मान पर चढ़ गया था।

सुधीन्द्र विदेश-यात्रा से लौटने पर जब अमृतसर से घर आये, तो घर की श्री ही दूसरी होरही थी। उन्हें उस वातावरण में कुछ ही दिन रहना दुर्लभ होगया। गृहपति जो सदैव प्रसन्न तथा घर के धन्धों में उदासीन रहा करते थे, स्त्रियों की रत्ती-रत्ती बातों की आलोचना करने लगते थे। एक दिन उन्होंने सुधीन्द्र को फटकार डाला। इस फटकार का विषय था—सुधा का अद्भुत रहन-सहन। सुधा गन्दे वस्त्र नहीं पहनती, पर्दा नहीं करती, पढ़ने-लिखने में लगी रहती है, घर की स्त्रियों से मिलकर नहीं रहती—यही उनकी शिकायतें थीं। सुधीन्द्र हैरान होगये, उन्होंने इस बात की स्वप्न में भी कल्पना न की थी कि

उन्हें इस प्रकार की बातें सुधा के लिए सुननी होंगी। वे चुप होगये, और शीघ्र ही वहाँ से जाने के मन्सूबे करने लगे।

प्रातःकाल का समय था। सुमित्रा घर के काम से निबट, रसोई का सरञ्जाम कर, स्नान करने गई थी। छोटी बच्ची शारदा सो रही थी। सोते-सोते वह जागकर रोने लगी। सुधा ने उसे उठाकर छाती से लगाया, पर बच्ची रोती ही रही। सुमित्रा नहाना छोड़, गीली धोती पहने बाहर आई। उसने बच्ची को सुधा के गोद से छीन लिया, और क्रोध भरे स्वर में कहा—"बिना मतलब बिटिया को रुला दिया। पेट से पैदा करो, तो रुलाना।"

सुधा ने खिसियानी होकर कहा—"मैंने तो उसे गोद में लिया था।"

"मैं सब समझती हूँ, तुम जैसी जलती हो—बाँझ हो, तो अपनी-अपनी तक़दीर है। दूसरों के बालकों को मत सरापो।"

सुधा की आँखों में आँसू भर आये। उसने रोष-भरे स्वर में कहा—"बाँझ क्या धरती में नहीं हैं।"

सुमित्रा ने बीच ही में बात काटकर कहा—

"रहने को क्या कहीं ठौर नहीं—मेरी ही छाती रह गई। मैंने कह दिया—आई हो तो दो-चार दिन रहो, पर बच्ची को न छूना। मेरे दो-चार नहीं हैं।"

वह लड़की को लेकर चली गई। जीवन में इतना तिरस्कार पाने का यह प्रथम ही अवसर था। सुधा उसे सहन न कर सकी। वह चुपचाप अपनी कोठरी में आकर फूट-फूटकर रोने लगी।

सुधीन्द्र ने बालिका को गोद में लिए घर में प्रवेश किया।

सुधा रोती है, यह उन्हें मालूम न था। छोटी-सी सुन्दर बच्ची हँस रही थी। उन्होंने कहा—

"सोती हो, देखो कैसी सुन्दर बिटिया है। ऐसी ही एक तुम भी बना डालो।" सुधीन्द्र 'ही-ही' करके हँस दिये।

सुधा ने पलटकर लाल-लाल आँखों से देखा। उसके नथुने फूल रहे थे। उसने कहा—"इसे भट्टी में झोंक दो। अभी उसे मेरी आँखों से दूर करो।"

सुधीन्द्र अवाक् रह गये। सुधा, जो कोमलता और मधुरता की प्रतिमूर्ति थी, उसके मुँह से ऐसे कटु और अप्रिय शब्द वे कभी सुनने की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। उन्होंने आँखों में आँसू भरकर कहा—"यह तुमने क्या कहा सुधा?"

दूसरे ही क्षण सुधा फूट फूटकर रो रही थी। सुधीन्द्र ने बाहर आ, बच्ची को बिछौने पर लिटा दिया। फिर वे भीतर आ, कोठरी का द्वार बन्द कर, सुधा के पास बैठकर उसे सांत्वना देने लगे। उन्होंने कहा—

"सुधा, हुआ क्या?"

बड़ी देर तक रो लेने के बाद उसने कहा—"मैं इस घर में अन्न-जल न करूँगी, अभी यहाँ से चलो।"

"आखिर कुछ बात भी तो हो।"

"बात कुछ नहीं अभी चलो—अभी।"

सुधा अबोध तो थी, पर क्रोधी और ओछी नहीं। सुधीन्द्र ने सोचा उसके इतने उत्तेजित होने का कोई कारण होगा। उन्होंने कहा—'अच्छा, सुधा मैं बन्दोबस्त करता हूँ, रोओ मत। सुनो, इस घर में पिता हैं—वे तुम्हारे-हमारे पूज्य हैं—उन्होंने कुछ कहा हो, ख़याल न करना, बाक़ी सब छोटे हैं, उन्हें क्षमा करने ही में तुम्हारा गौरव है।"

सुधा ने टूटती वाणी से रोते-रोते कहा—

"मेरे स्वामी, मेरे मालिक, मैं तुम्हारे हा-हा खाती हूँ। यहाँ से अभी चल दो। मुझसे कुछ मत कहो, कुछ मत पूछो। मैं यहाँ अन्न-जल न करूँगी, मर जाऊँगी।"

सुधीन्द्र फिर कुछ नहीं बोले। बाहर आकर वे चलने की खटपट करने लगे। एकाएक यह तैयारी देख, सभी को आश्चर्य हो रहा था। गृहपति ने समझा—उन्हीं के कहने के कारण जा रहे हैं। वे रुष्ट होकर बोले—"बेटे, जाते हो तो जाओ, अच्छा है, परन्तु सुसराल में रहना अत्यन्त अपमानकारक है—समझ लेना।"

सुधीन्द्र कुछ नहीं बोले। उन्होंने पिता को अपने साथ चलने को कहा, पर वे सहमत नहीं हुए। उनके लिए खर्च आदि की व्यवस्था उन्होंने कर दी। राजेन्द्र को उन्होंने अपने एक मित्रके नाम चिट्ठी देकर कलकत्ते भेज दिया। वे चाहते थे कि यदि राजेन्द्र कुछ व्यवसाय करने लगे तो ठीक है। उनके मित्र एक प्रतिष्ठित व्यपारी थे।

सब व्यवस्था करके सुधीन्द्र अमृतसर लौट आये।

५०

वीरेन्द्र ने कलकत्ते जाकर कुछ दिन सुधीन्द्र के मित्र के साथ व्यापार का काम देखा-भाला। पर उसमें उनका मन न लगा। वे मौन, गम्भीर, स्थिर, और चुपचाप काम करने वाले थे, व्यापारिक व्यक्ति को ये गुण नहीं सजते। माता के अवसान ने उनकी गम्भीरता पर और भी मुहर लगा दी थी। अतः व्या-

पार में उनका मन न लगा। वे उसके उपयुक्त भी नहीं जँचे।

इस विशाल नगर में आकर उन्हें संसार का ज्ञान हुआ। जीवन-तन्त्र को उन्होंने समझा। इस महा-नगरी की निराली शान और ठाठ, जन-रव, दौड़-धूप, कोलाहल, तत्परता—इनको देखकर उनके मन में सोई हुई उमङ्ग जाग्रत हो गई।

यह वह समय था, जब युद्ध के बाद की शान्ति-सभा से भारत निराश हो गया। देश में उद्वेग उत्पन्न हो गया था। पञ्जाब और बंगाल में क्रान्तिकारी दल बन गए थे। इस महा-नगरी में सामयिक पत्रों को पढ़-पढ़कर इस तेजस्वी दल के सम्बन्ध में उनकी उत्सुकता बढ़ चली, उनकी इच्छा किसी अच्छे पत्र के सम्पादन-विभाग में काम करने की हुई। सौभाग्य से उन्हें शीघ्र ही एक सुयोग मिल गया। उन्हें एक प्रसिद्ध अंग्रेज़ी दैनिक के सम्पादकीय विभाग में एक जगह मिल गई।

काङ्ग्रेस उस समय बड़ी शीघ्रता से गान्धी के हाथ में आ रही थी। और उसमें असहयोग का नया शस्त्र धीरे-धीरे सब लोगों की चर्चा की वस्तु हो रहा था। उधर क्रान्तिकारी दल बढ़ रहा था। वह आतङ्क के बल पर भारत को स्वाधीन किया चाहता था। युद्ध-काल में जो इस दल ने विफल चेष्टाएँ की थीं—उसके बाद अब फिर इस दल में बल आ रहा था। ये लोग गुप्त रूप से शस्त्रास्त्र संग्रह करते, डाके डालते और अवसर मिलते ही किसी सरकारी अफ़सर को मार डालते थे। इनके आतंक की भी समाचारपत्रों में बड़ी चर्चा थी। लोगों में समाचार-पत्रों के पढ़ने का चाव बढ़ रहा था और उनकी बिक्री खूब बढ़ गई थी।

उन्हें नित्य समाचार-सम्बन्धी तारों को रिसीव करना, उन्हें तरतीब देना और ठीक समय पर स्टाफ़ को दे देना पड़ता

था। कभी कभी प्रधान सम्पादक के आदेशानुसार किसी पुस्तक या लेख के आधार पर नोट भी लिखना पड़ता था। इन सब बातों का यह प्रभाव हुआ कि उनका अध्ययन गम्भीर हो गया, और उनके मन में काम करने की शक्ति उत्पन्न हो गई. उनकी बुद्धि निखर गई। क्रान्तिकारी-दल से उन्हें सहानुभूति होने लगी। युवावस्था, गर्म खून, विचित्र मन, सब ने मिलकर उनके मन को डावाँडोल कर दिया।

वीरेन्द्र अपनी मेज़ पर झुके तारों को तरतीब दे रहे थे। दो बज गएथे—रात की ड्यूटी थी। टेलीफोन खड़का कि लाहौर में सीनीयर पुलिस सुपरिण्टेण्ट को पिस्तौल से उड़ा दिया गया है, चारों तरफ पुलिस ने पड़ाव डाल दिए हैं, और हत्याकारी की तलाश बड़ी सरगर्मी से की जा रही है। वीरेन्द्र ने इस सम्वाद को रिसीव किया तो उनकी उत्तेजना जाग्रत हो गई, उनके हृदय में हल-चल मच गई। इस संवाद ने उनकी अधीरता को बढ़ा दिया। वे ऑफिस में बैठे न रह सके। उन्होंने मन में कहा—चिनगारी फैलती जाती है, देश आग में कूद रहा है, मुझे भी कुछ करना चाहिए। वे संवाद का संशोधन करने बैठ गये, पर दो-चार लाइन लिखकर ही रुक गये। मन का उद्वेग कम हो तो लिखें, वे जरा फाटक से बाहर आए। उस इमारत के प्राङ्गण में हरी-भरी लतायें लटक रही थीं फूल पौधों के गमले सजे थे, वृक्षों की सघन छाया तैर रही थी और काली बनी सड़कों की रविशें चाँदनी में चमक रही थीं। वे वहाँ टहलने लगे, इससे उनका चित्त कुछ शान्त हुआ। हठात् उन्होंने देखा,एक दुबला पतला व्यक्ति, चश्मा लगाये उन्हीं की ओर आ रहा है। आगन्तुक ने पहुँचकर उनके हाथ में एक लिफाफा दिया और स्थिर दृष्टि फेंकता हुआ चुपचाप लौट

चला।वीरेन्द्र ने पूछा—'ठहरो' क्या है ?' युवक ने सुना नहीं, वह ठहरा भी नहीं; लम्बे क़दम रखता चलता बना।

वीरेन्द्र ने लिफाफा खोलकर पढ़ा। बमपार्टी का सिरनामा था। लिखा था– इस हत्या-काण्ड को खूब बढ़ाकर लिखना। नीचे खूनसे अँगूठेकी छाप लगी थी। यह देखकर उनका साहस जाता रहा, वे उस युवक को वापस बुलाने को अधीर हो उठे, पर दूर तक देखने पर भी वह न दीखा। चंचल मन से ऑफीस की ओर आये। प्रातःकाल सम्पादक के दफ्तर में आते ही वे तुरन्त प्रधान सम्पादक के पास पहुँचे और वह पत्र सामने रख कर सब घटना सुना दी। प्रधान सम्पादक बहुत ही योग्य और दूरदर्शी व्यक्ति थे। उन्होंने जेब से दियासलाई निकाली और उस पत्र को जलाकर पैरों से कुचलकर नष्ट कर दिया, और फिर कड़ी वाणी में वीरेन्द्र से कहा—'ख़बरदार, यह घटना किसी तीसरे के कानों में पहुँचने न पावे। जाओ।'

वीरेन्द्र शान्त भाव से आकर अपने कार्य में लग गये और सम्वाद को पूरा लिखकर प्रेस में भिजवा दिया। वे जब तक काम करते रहे, उनके मन में तर्क होता रहा। वे उस दल में घुसकर काम करना चाहते थे। उन्हें फिर मरने की धुन समाई। माता का अभाव ताजा हो आया और यह इच्छा हुई कि मरकर समाप्त हो जाना चाहिये। पिता और सुधा कुछ दिन शोक करके संतोष कर लेंगे। मैं क्या किसी के बन्धन में हूँ ? पर उस दल में मिलकर मृत्यु अनिवार्य थोड़े ही है; सावधान रहने से बचा भी रहा सकता हूँ। इसी प्रकार सोचते-विचारते ५ बज गये और दफ्तर की छुट्टी हुई। वे अपने निवास-स्थान को लौटे। कमरे का ताला खोलकर अन्दर घुसे ही थे कि किसी ने उनसे पूछा—"आपसे कुछ कहना है।"

वीरेन्द्र ने फिरकर जो देखा तो वह दुबला-पतला चश्मा-धारी पत्रवाहक खड़ा है। आश्चर्यचकित होकर बोले, "ओह, तुम हो, क्या बात है ?" युवक ने अन्दर घुसकर खाट पर बैठकर कहा—"बैठिये, खड़े-खड़े क्या बातें होंगी।"

वीरेन्द्र कुर्सी खींचकर बैठ गये, बोले—'कहिये।"

"आप हमारे साथ सहयोग दीजिये। हम लोग कई दिनों से आपके पीछे लगे हुए हैं और आपकी सब गति-विध देखते रहे हैं। आप भावुक युवक है; आप अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिये प्राण देने में अपना गौरव समझेंगे।'

वीरेन्द्र को यह सब सुनने की आशा न थी। वे इस संसर्ग को चाहते जरूर थे,पर इतना शीघ्र एकाएक संसर्ग आया देख, घबरा गये।

युवक ने फिर कहा—'आज रात्रि को ८ बजे भवानी-पार्क में तालाब की जगत पर हमारे सीनियर नेता आप से मुलाकात करेंगे। आप से विशेष कार्य लेना है। आप अवश्य आइये; किसी से कहियेगा नहीं।"

यह कहकर वह उठकर चलने लगा। फिर एकाएक लौटकर कहा—"आज्ञा-उल्लंघन न कीजियेगा।" वह चला गया।

वीरेन्द्र मूढ़ बने बैठे रहे।

वीरेन्द्र उसकी चुस्ती, चौकसी और सफाई देखकर उस-पर मुग्ध होगये। सोचने लगे.—कितना कर्मवीर है ? मैं इसके सामने कितना तुच्छ हूँ। मैं सदैव सोचों और विचारों के पुलिन्दे बाँधा करता हूँ, और करता कुछ नहीं। एक यह है, जो निर्भीक बनकर आया और तत्काल प्रभाव छोड़ गया। मुझे अभी बहुत कुछ सीखना पड़ेगा। यह सोचते-सोचते उन्होंने

सोचा, आज ही बुलाया है । परन्तु ऐसी कौन सहायता मैं कर सकता हूँ, मैं किस योग्य हूँ, फिर भी मुझे जाना ही चाहिये; इन वीरों के दर्शन ही हो जाँयगें । ऐसा निश्चय करके वे भोजन की खटपट में लग गये ।

सब कामों से निबटकर उन्होंने देखा, अन्धकार बढ़ गया है, और ८ बजनेवाले हैं; वे धीरे-धीरे भवानी-पार्क की ओर चले ।

भवानी-पार्क सघन बाग था । उसमें छोटे-छोटे पेड़ भी खूब घने और कुञ्ज-जैसे बने थे, और अँधेरा होने पर तो कोई किसी को देख नहीं सकता था । कितने प्रेमी वहाँ गुप्त सम्मिलन करते और उस स्थान की उपयोगिता को मानते थे । विद्यार्थी परीक्षा के दिनों में दिन-भर बैठे एकान्त में पाठ कण्ठस्थ करते थे । उसके बीचों-बीच एक तालाब था, जिसके चारों ओर पक्की जगत बनी हुई थी । इसमें सदैव जल भरा रहता था, और मछली-कछुए क्रीड़ा करते थे ।

वीरेन्द्र गम्भीर भाव से देखते-भालते यहीं पहुँचे । इसी समय टावर के घण्टे ने आठ बजाये । ठीक समय पर आया जानकर उन्हें प्रसन्नता हुई । वे चारों ओर उस अद्भुत व्यक्ति को देखने लगे । देखा, सामने के कुञ्ज में से निकलकर एक लम्बी मूर्ति उधर ही आ रही है । उसने निकट पहुँचकर वीरेन्द्र को सम्बोधन करके कहा—"क्षमा करना, जगत पर बैठकर बातें करें ।" वीरेन्द्र मन्त्र मुग्ध की तरह उसके पीछे चले । उन्होंने देखा, एक लम्बा-सा पञ्जाबी जवान है, वाणी में वीर रस है, और चेहरे पर निर्भीक आभा खिल रही है । उसके दर्शन करके उन्होंने अपने को धन्य समझा ।

बठकर युवक ने कहा, "मुझे पता चला है, आप कुछ काम करना चाहते हैं।"

"हाँ, यदि मुझे अवसर मिले।"

"तुम क्या काम करोगे ?"

"मैंने कुछ नहीं सोचा है, पर में कुछ किया जरूर चाहता हूँ।"

"हम लोग जान हथेली पर लिये फिरते हैं, कोई हमारा प्रशंसक नहीं, सहायक नहीं। हम स्वयं ही योजना बनाते, रुपया एकत्र करते और अस्त्र-शस्त्र जुटाते हैं। अब हमें रुपयों की सख्त जरूरत है, तुम्हारे गाँव में एक बनिये के पास नकद २० हजार रुपया रखा है। रुपया कहाँ है—यह हम जानते हैं। हमने निश्चय किया है कि उसके घर डाका डाला जाय। तुम क्या इस काम में थोड़ा सहयोग दोगे ?"

वीरेन्द्र यह सुनकर भौंचक रह गये। उन्होंने समझ लिया, ये लोग सर्वज्ञ हैं। बोले—"उस अमीर बुड्ढे को मारने से क्या लाभ, आपको तो सरकार से लड़ना है—सरकारी खजाना क्यों नहीं लूटते ?"

"समय आने पर ऐसा भी होगा, पर इस समय तो यही करना होगा। लाचार उसी सेठ को कष्ट देना ही होगा; आवश्यक सामान खरीदना है, कुछ बनाना भी है। तुम यदि दल में योग्य साबित हुए तो तुम्हें फिर बड़ा काम सौंपा जायगा।"

वीरेन्द्र ने दबी जबान से कहा, "यह काम मुझसे न हो सकेगा। मैं डाका-चोरी कुछ नहीं कर सकता, न हल्ला कर सकता हूँ। आप मुझे जाने दीजिए।"

युवक ने होठ काटकर तिरस्कृत शब्दों में उत्तर दिया, "तुम इतने कच्चे हो ?"

वीरेन्द्र ने सोचा,—यदि मैं ऐसा करूँ और बदले में कुछ रुपया लेकर पिता को दे दूं और फिर इस दल में कूद पड़ूँ तो कैसा ? इस समय उनको मृत्यु की कामना हुई। वे बोले, "यदि मैं इसे स्वीकार करूँ तो मुझे क्या मिलेगा ?"

"तुम क्या चाहते हो ?" लम्बे युवक ने घृणा रोककर कहा।

वीरेन्द्र ने सटपटाकर कहा—"आधा रुपया, मैं उसे पिताजी को देकर उनके भरण-पोषण से निश्चिन्त हो जाऊँगा और फिर पूर्णरीति से तुम्हें सहयोग दूँगा। मेरी तुमसे पूर्ण सहानुभूति है।"

युवक ने क्रोधित होकर कहा, "इसमें एक पैसा हम अपने व्यय में नहीं ला सकते। क्या हम अपने स्वार्थ के लिये दूसरे को मारकर रुपया लाते हैं ? नहीं-नहीं हम तो किसी को भी कष्ट नहीं देना चाहते, पर साधन जुटाना भी आवश्यक हो गया है, उस रकम की पाई-पाई उसमें लगेगी।"

"तब फिर मैं व्यर्थ क्यों कुछ भी करूँ ?"

"हमें खबर मिली थी कि तुम उत्सर्ग होना चाहते हो, देखता हूँ, यह झूठ है।"

"चाहता तो हूं, पर इस तरह नहीं। मुझे अपना, अपने लोगों का और साथियों का तथा विचारों का परिचय दीजिए, मैं भी अपने विचार बताऊँगा और अवसर पर पीछे कदम न रखूँगा।"

"तुम कुछ न कर सकोगे, हम परिचय देकर अपने साथियों का जीवन तुम्हारे हाथ में नहीं दे सकते।"

"खैर तो अब मैं जाऊँ ?"

"जाओ, पर इस मुलाकात का यदि एक शब्द भी प्रकट किया तो उसका दण्ड यह है।" वीरेन्द्र ने देखा, युवक के अकम्पित हाथ में पिस्तौल है, और उसका मुँह ठीक उनके मुँह पर सधा है। वे काँप उठे, और उन्होंने धीरे-से कहा— "इसके लिए विश्वास रखो।" क्षण-भर ठहरकर लम्बा युवक वहाँ से लम्बे-लम्बे डग रखता हुआ जाकर अन्धकार में डूब गया।

———

५१

डेढ़ वर्ष बीत गए। मधुसूदन के साथ सुधीन्द्र को भी पंजाब ही में बहुत-सी ज़मीन जागीर मिली थी। राय साहेब के आग्रह से वे अमृतसर-ही में रहने लगे थे। वहीं वे सरकारी रिसर्च-विभाग में एक अधिकारी होगए थे। घर की गृहस्थी चुपचाप चल रही थी।

दिन बीत गए। इस बीच मधुसूदन को पुत्र लाभ हुआ, उसकी बड़ी खुशियाँ मनाई गईं।

महायुद्ध समाप्त हो गया। थरथराती हुई, ब्रिटिश सरकार अब सुख से साँस ले रही थी। परन्तु पञ्जाब में सार्वजनिक असन्तोष फैल रहा था। आये दिन क्रान्तिकारी आन्दोलनों का भण्डाफोड़ होता था। पञ्जाब ने युद्ध में सब से अधिक आदमी दिए थे। उनमें बहुत से लाटे नहीं थे, इसलिए पञ्जाब में बहुत बेचैनी फैली थी। पीछे जब सार्वजनिक बटवारा होने पर भी भारत को अपनी आशा के अनुरूप कुछ न मिला तो

पंजाब के नेताओं ने उग्र भाषण देने, और लिखने शुरू किए। पंजाब के पत्रों में गर्मी आगई। जनता की दिलचस्पी बढ़ने लगी। सबसे अधिक चर्चा इस बात की थी कि युद्ध-काल में युद्ध का झण्डा लेने तथा आदमी भरती करने में बहुत ज्यादती की गई। ज्यों-ज्यों भेद खुलते जाते थे, अशान्ति फैलती जाती थी।

सुधीन्द्र बहुत चाहते थे कि वे सरकारी नौकरी त्यागकर इस आन्दोलन में भाग लें। प्रथम भी वे ऐसा कर चुके थे। परन्तु राय साहेब का प्रबल अनुरोध उन्हें रोक रहा था। वे उनका मान करते थे।

एक दिन सुधीन्द्र ऑफिस से ज्योंही आए, सुधा ने एक तार उनके हाथ में दे दिया। उसमें वीरेन्द्र के सांघातिक रूप से बीमार होने की सूचना थी। एक क्षण भी विलम्ब न कर, सुधीन्द्र तुरन्त घर चल दिये।

आकर देखा, वीरेन्द्र को सरसाम हो गया है। वह किसी को भी नहीं पहचानता था। सुधीन्द्र को उसने कुछ देर बड़ी देर तक लाल-लाल आँखों से देखा। फिर वह उनसे लिपटकर खूब रो उठा। सुधीन्द्र ने सान्त्वना दी। परन्तु थोड़े ही समय में वह फिर ज्ञान-रहित हो गया। सुधीन्द्र ने नगर के बड़े-बड़े डॉक्टरों को बुलाकर चिकित्सा की व्यवस्था कर दी। चिकित्सा होती रही। घर-भर में भयानक उद्वेग फैल गया।

दो दिन बीत गये। वीरेन्द्र की दशा बिगड़ती-ही गई। सुधा प्राणपण से वीरेन्द्र के सिरहाने बैठी सेवा-रत रहती थी। सुधीन्द्र अत्यन्त व्याकुल-चित्त थे। कोई अमङ्गल होनेवाला है, यह उन्हें भास हो गया था। सुधा अवसर पाते ही वेदना-भरी

दृष्टि से पति को देखकर पूछती—"भैया का क्या हाल है, ये बोलते क्यों नहीं ? इतना हँसते क्यों हैं ?"

वीरेन्द्र अदृष्ट जगत् में कुछ देखता था और प्रथम कुछ बड़बड़ाता, फिर हँसता था। यही उसका उन्माद था। डाक्टरों के बाद वैद्यों की बारी आई। परन्तु वीरेन्द्र की हालत सुधरी नहीं। सुधीन्द्र का हृदय बैठ गया। वे भाई के पलँग को पकड़कर धरती में बैठ गये। यह देख, सुधा घबराकर रो उठी। सुधीन्द्र ने उन्हें समझाया और शान्त किया।

दिवाली थी। सांघातिक रोगी के लिये दिवाली महा-सांघातिक काल-रात्रि होती है। घर में पकवान बन रहा था। सुधा ने इसका विरोध किया था, पर सुधीन्द्र ने ज़िद करके उसकी व्यवस्था कराई थी, फिर भी सुधा किसी भी भाँति चौके में न गई।

दोपहर के समय वीरेन्द्र के पास जाकर सुधीन्द्र ने देखा कि अपेक्षाकृत सुधीन्द्र का मन स्वस्थ है। उन्होंने प्यार से उनके सिर पर हाथ फेरकर कहा—'वीरेन्द्र कुछ खाओगे ?" वीरेन्द्र ने सापेक्ष दृष्टि से उन्हें देखा और स्वीकृति का संकेत किया। सुधीन्द्र ने प्रसन्न होकर थोड़ा दूध उन्हें पिलाया। सब लोग आशान्वित हुए। परन्तु दोपहर के बाद ही उनकी हालत बिगड़ने लगी। वे रह-रहकर उठकर भागने और चिल्लाने लगे। उनके श्वास में भी तेज़ी आ गई। ज्वर का उत्ताप बढ़ गया। घण्टे-घण्टे पर डाक्टर लोग आ रहे थे, भाँति-भाँति के उपचार चल रहे थे, घर-भर में उद्वेग छाया था। वीरेन्द्र की वेदना बढ़ रही थी। वे बुरी तरह चिल्ला रहे थे। ऐसी चित्कार बहुत कम सुना जाता है। सुननेवालों के कलेजे दहल रहे थे,

सेवा करनेवालों के कलेजे मुँह को आरहे थे। दीवाली के दिए जल गये। सुधा ने लक्ष्मी-पूजन का सब सरंजाम करके सुधीन्द्र से कहा—"पूजा का समय होगया है।" उस समय वे निराश दृष्टि से वीरेन्द्र को देख रहे थे। उन्होंने कहा—"सुधा, अब वीरेन्द्र को चलाचली की पड़ी है, इस बार लक्ष्मी-पूजा रहने दो। जाओ, ज़रा वीरेन्द्र के पास बैठो।"

सुधा ने वीरेन्द्र का सिर गोद में रख लिया। सुधा का स्पर्श पाकर वीरेन्द्र कुछ स्वस्थ हुए। उन्होंने एक बार आँख फाड़कर सुधा को देखा कुछ कहने की चेष्टा की, और दो-तीन हिचकियों के बाद दम तोड़ दिया।

सुधा रोई नहीं, आँखें फाड़-फाड़कर उसने सुधीन्द्र की ओर देखा। सुधीन्द्र ने उठकर देखा, पिता को पुकारा और धीरे-से सुधा को वहाँ से हटा दिया।

क्षण भर में घर का वातावरण हाहाकार से भर गया। सुमित्रा एक बार हाय करके मूर्छित हो गई। पड़ोस की बूढ़ी स्त्रियों ने उसकी चूड़ियाँ और बिछुए उतार दिए। सुधा यह न देख सकी। वह दौड़कर सुमित्रा से लिपट गई। उसने स्त्रियों को धकेलकर सुमित्रा को गोद में लकर कहा—"खबरदार, जो इसको हाथ लगाया।" वह उसके उपचार में लग गई।

पिता आंगन के एक कोने में बैठकर परमेश्वर के अन्याय का बखान करने लगे। सुधीन्द्र कुछ भी न कर सके; वे चुपचाप वहाँ से हटकर एक ओर बैठ गये। वे इस समय एक ही बात सोच रहे थे। इस समय उनकी माता का अभाव उन्हें दुखी कर रहा था। वे वीरेन्द्र को तो इस समय भूल गये थे। वे सोच रहे थे, माता यदि जीवित होतीं तो कैसे यह सब देखतीं।

उस महा-क्रन्दन के बीच वीरेन्द्र की युवा लाश उठाकर श्मसान पहुँचाई गई। जब वह धीमे-धीमे जल रही थी, तब सुधीन्द्र काल्पनिक जगत् में वीरेन्द्र को प्यार कर रहे थे।

तीसरे दिन प्रातःकाल वे चुपचाप उठकर श्मसान-घाट पहुँचे, भस्म की ढेरी बनाई, अपने आँचल में बाँधी और ताँगे में बैठ, गङ्गा की ओर चले। एक मित्र ने मार्ग में हँसकर पूछा—"आज इस वेश में सुबह-सुबह आप कहाँ?"

सुधीन्द्र ने हँसकर कहा—"ज़रा वीरेन्द्र को गङ्गा-स्नान कराने ले जा रहा हूँ।"

"वीरेन्द्र?" मित्र ने शंकित चित्त से पूछा। सुधीन्द्र ने उसी हास्य को होठों पर बखेरकर गोद की गोटली दिखा दी। मित्र रोते हुये लिपट गये।

गङ्गा में जाकर भस्म-विसर्जन करके जब वे घर आए तो घर परिजन स्त्रियों और पुरुषों से परिपूर्ण था। सब भाँति-भाँति की बातें कह रहे थे। सुधीन्द्र मानों किसी और ही विचित्र जगत् में विचरण कर रहे थे। उन्हें किसी भी बात की खबर न थी।

घर में एक चर्चा सब की जबान पर थी, वह थी, सुधा की चर्चा। सुधा न रोई, न चिल्लाई। वह चुपचाप घर के सब काम करती-फिरती थी। स्त्रियाँ सुधा की इस निष्ठुरता पर टीका कर रही थीं। थोड़ी थोड़ी देर में स्त्रियों का एक झुण्ड बाहर से आता, कुछ देर जोर से रोता-पीटता, पीछे बात-चीत करके चल देता। इस नाटक में भी सुधा शरीक न थी।

आठ दिन बीत गये। रात के दो बजे थे। एक जोर का चीत्कार सुनकर सुधीन्द्र जागे। बत्ती जलाई। देखा, सुधा

भयानक आकृति बनाए पलँग पर बैठी है, वस्त्र अस्तव्यस्त हैं। वह सामने के कमरे में टकटकी लगाये देख रही थी। उजाला होते ही वह जोर से हँस पड़ी। उठकर दौड़ी और वीरेन्द्र को पुकारने लगी।

घर के सभी आदमियों ने आकर उसे वश में किया। उसके शरीर में न-जाने कितने आदमियों का बल आ गया था। वह चोट भी खा गई और अन्त में मूच्छित होगई। सुधीन्द्र को उसके उपचार में लग जाना पड़ा।

दो सप्ताह के पूरे उपचार के बाद धीरे-धीरे सुधा की संज्ञा लौटी—वह बहुत दुर्बल होगई थी। इसी बीच उसके सब बाल सन के समान सफेद होगये थे।

वीरेन्द्र को खोकर और सुधा की यह दुर्दशा देखकर सुधीन्द्र का हृदय वेदना से फटने लगा। उसे घर द्वार, परिजन—मानों सब काटने लगे। स्वस्थ होते ही उन्होंने सुधा को लेकर हरद्वार की यात्रा करने की ठानी। वे अज्ञात-वास करना चाहते थे, और अपने शरीर को घोर कष्ट देकर मन के कष्ट को कम किया चाहते थे। वे सुधा को साथ रखना नहीं चाहते थे, पर सुधा राजी नहीं होती थी।

हरद्वार पहुँचकर उन्होंने एकान्त में एक मकान किराये का लिया। वे इस बार साथ में बिस्तरा भी न लाये थे। उन्होंने कुछ चटाइयाँ और कुछ मिट्टी के आवश्यक बर्तन खरीदे, अति साधारण। अन्न उन पात्रों में पकाना तथा चटाई पर सोना प्रारम्भ किया। भयानक गर्मी के दिन थे, लुओं के झोंके शरीर को झुलसाए डालते थे, धरती-आसमान तप रहे थे, शरीर से पसीना चू रहा था और सुधीन्द्र चटाई पर निश्शब्द पड़े थे।

पास में सुधा बैठी, करुण दृष्टि से उन्हें देख रही थी।

उसने कहा—"स्वामी, एक पंखा तो ला दो, कितनी गर्मी है ?" सुधीन्द्र आखें फाड़-फाड़कर सुधा को देखने लगे। सुधा के मुख की जगह उन्हें दीख पड़ा कि मानों वीरेन्द्र की चिता धाँय-धाँय जल रही है, वीरेन्द्र का कलेजा जल रहा है। वे तड़प-कर सुधा से बोले—

"नहीं सुधा, यह कष्ट उससे बहुत कम है। थोड़े-से जलते कोयले तुम इस चटाई पर और बिछा दो।"

दिन-पर-दिन बीतते गये। यह दम्पति यहाँ अज्ञात-वास में बैठकर ऐसा भयानक शरीर-कष्ट सहते रहे।

५२

चैत के दिन थे। अमृतसर में बैसाखी का मेला था। इस बार दूर-दूर के लोग उसमें आए। बड़ी भीड़ थी। राजनैतिक उत्तेजना के कारण मेले में सरगर्मी आगई थी। नगर के कुछ नेता लोग कैद कर लिये गए थे। कईओं को भाषण करने से रोक दिया गया था। नगर में घुड़सवार पल्टन और पुलिस प्रबन्ध कर रही थी। नगर के प्रतिष्ठित जन भी शान्ति के लिये दौड़-धूप कर रहे थे। फिर भी नगर में दगा होगया। उत्तेजित भीड़ ने कई योरोपियन व्यक्तियों को मार डाला। सरकारी इमारतें जला दीं। फलतः नगर में मार्शल-लॉ जारी कर दिया गया।

गर्मी बड़ी तेज थी। नगर में मार्शल-लॉ जारी था। नगर में भीड़ बनाकर चलना, तथा रात को घर से निकलना निषिद्ध

था। अपमान और भय के कारण लोग घरों में छिपे बैठे थे। सब प्रकार की सभाएँ करना रोक दिया गया था। रायसाहेब, प्रतिष्ठित नागरिक थे। उन्हें कॉन्स्टेबिल बना दिया गया था। इससे उनके आत्म-सम्मान पर बहुत चोट लगी थी।

मधुसूदन अपने कमरे में बैठे, निर्जन सड़क को देख रहे थे। दोपहर ढलने लगी थी। उन्होंने सुना, एक लड़का कनस्तर पीट-पीटकर जलियानवाला बाग में सभा होने की घोषणा कर रहा है। इसके कुछ पूर्व-ही सैनिक अफसर सभाबन्दी की घोषणा कर गये थे।

मधुसूदन अपना कौतूहल रोक न सका। उन्होंने सभा में जाने का निर्णय कर लिया। उन्होंने हाथ पर बँधी घड़ी की ओर देखा। साढ़े तीन बजे थे। वे उठे, कपड़े पहिने और धीरे-धीरे नीचे उतरे।

शिशु उनसे बहुत हिल गया था। पिता को बाहर जाता देख, वह मचल बैठा—हम भी बाजार जायँगें। मधुसूदन, खतरे को सोच न सके। थोड़ा निषेद करने पर उन्होंने उसे हँसते हँसते उठाकर कन्धे पर रख लिया। उन्होंने घर में किसी से भी सभा में जाने की बात नहीं कही। वे सभा में चले गये।

दिन छिपते-छिपते भयभीत आदमी सड़कों पर दौड़ने लगे। ठीक बात कोई नहीं बताता था। कोई कहता था, गोली चल रही है। कोई कहता था, नगर के सब आदमी तोप से उड़ा दिये जावेंगे।

रायसाहेब संध्या समय घबराए हुए घर में आए। उन्होंने पूछा—मधु कहाँ है?

उनकी स्त्री ने कहा—तीन-चार घण्टे होगये। बच्चे को लेकर गये हैं; अभी लौटे नहीं।

"गया कहाँ वह ?" रायसाहेब ने चिन्तित स्वर में कहा। फिर उन्होंने भुनभुनाकर आप-ही आप कहा—वहाँ गोली चल गई, कहीं वह वहीं तो नहीं गया।

रायसाहेब बहुत व्यग्र हो उठे। उन्होंने घड़ी में देखा, आठ बजने में कुछ ही मिनट बाकी हैं। आठ बजे के बाद नगर में घूमने से गोली मार देने की आशा थी। परन्तु वे पुत्र की आग बर्दाश्त न कर सके। उन्होंने कहा—"मैं जाकर देखता हूँ।" गृहिणी ने रोका, परन्तु वे चले ही गये।

वे सीधे जालियानवाला बाग में पहुँचे। वहाँ का हाल देखकर उनका कलेजा धक् हो गया! देखा, वहाँ खून जहाँ तहाँ बिखर रहा था, और लाशों के ढेर लगे थे। जो लोग जिन्दा थे, वे कराह रहे थे। रायसाहेब भयभीत दृष्टि से सबको देखते आगे-आगे बढ़ रहे थे। बगल से एक आवाज आई—'कृपा कर जरा मेरा पैर उठा दीजिये।" राय साहेब ने देखा—एक आदमी दीवार में फँसा है, और वह लोहू-लुहान है। उन्होंने उनका पैर उठाकर निकाल दिया। उसने साहेब को पहचान कर कहा—"आप हैं, देखिए, वह भैया गोली खाकर पड़े हैं। जान है कि नहीं।" राय साहेब पागल की भाँति दौड़े, और कटे वृक्ष की भाँति मधुसूदन की लाश पर गिर पड़े। मधुसूदन मर चुके थे, और बच्चा रोकर, थककर उनकी छाती पर सोगया था। उन्होंने बालक को गोद में छिपाकर इधर-उधर सहायता के लिये देखा। परन्तु वहाँ कोई न था। मधुसूदन की लाश लहू से लथपथ थी। धरती भी खून में तर थी।

दो तीन आदमी और लाशें ढूँढ रहे थे। रायसाहेब ने पुकारकर कहा—"भाइयों, जरा मदद दो तो मैं बेटे की लाश को सूखे में रख दूं।" उन्होंने आकर लाश को सूखे में रख दिया।

एक बारह वर्ष के बालक ने रोकर कहा—"आज रात को यहीं रहिए, कहीं जाइए मत। रायसाहेब ने देखा कहीं जाना निरापद नहीं। चुपचाप लाश के पाश बैठ गये। बालक एक बार भूख से रोया, फिर सो गया। घण्टे-पर-घण्टे बीतने लगे। कुत्ते रहकर भूँक उठते थे। बीच-बीच में गधे भी रेघनें लगते थे। रायसाहब ने वह भयानक रात वहीं व्यतीत की।

५३

अकस्मात् मधुसूदन की मृत्यु का तार पाकर सुधीन्द्र के हृदय की मनोगति ही रुक गई। सुधा उस समय भोजन कर रही थी, सुधीन्द्र कैसे उससे यह बात कह सकेंगे—नहीं सोच सके। वे सुधा के सामने जाकर धरती पर बैठ गये। उनकी चेष्टा देखकर सुधा ने थाली छोड़ दी। उसने पति के सामने आकर कहा—"क्या बात है ?"

सुधीन्द्र बोले नहीं। सुधा की दृष्टि तार पर पड़ गई, उसे पढ़ते ही वह चीत्कार करके गिर गई। वीरेन्द्र की मृत्यु के कारण इसके मस्तिष्क में विकार आ गया था ही, इस घटना से तो वह मृतप्राय हो गई। उसका शरीर पीला पड़ गया। आँखें पथरा गईं, बदन ठण्डा पड़ गया। सुधीन्द्र बहुत घबड़ा गये। वे 'सुधा-सुधा' चिल्लाने लगे।

कुछ देर में होश आने पर सुधा आँखें फाड़-फाड़कर पति की ओर देखने लगी। सुधीन्द्र ने बहुत-कुछ सान्त्वना दी, पर सुधा की हालत नहीं सुधरी। वह रात-भर उसी अवस्था में पड़ी रही।

प्रातःकाल उन्होंने सुधा को लेकर अमृतसर को प्रस्थान किया। सुधा तो अभी पागल की भांति थी, यशोदा को देखते ही वह मूर्छित हो गई। रायसाहेब का मुख मुर्दे के समान हो गया था। सहानुभूति के एकाध शब्द भी सुधीन्द्र उस परिवार के सामने नहीं कह सके। उस दुःखी परिवार के साथ सुधीन्द्र अपने दुःख को मिलाकर रहने लगे। दिन बीतते गये, पर सुधीन्द्र की उदासी न गयी। मधुसूदन और राजेन्द्र की मृत्यु ने उन्हें हिला दिया था।

रात अंधेरी थी और कमरे में सन्नाटा था। भाँति-भाँति के सजावट के अमीरी सामान से भरा हुआ था और बिजली के प्रकाश से जगमगा रहा था। पर सुधीन्द्र खिड़की से बाहर दृष्टि किये, दूर अनन्त आकाश में टिमटिमाते तारों को एकटक देख रहे थे। उनके हृदय में अँधेरा था और वह रात भी उनके हृदय की तरह ही काली और गम्भीर होने लगी थी। अब उन्हें एक सुखद मुख का स्मरण हो आया। उस मुख पर उठते यौवन का तेज और स्वास्थ्य की लाली, सुखी जीवन की मस्ती और उच्च शिक्षा और कुलीनता की एक शोभा फूटी पड़ती थी। उसी फ्रान्स के भयंकर मैदान में पञ्जाब-केशरी सिखों के रणबंका झुरमुठ में, भारी कोट पहने, संगीन हाथ में लिये सब से आगे, वही मुख, वैसी ही उत्फुल्लता, वैसी ही निर्भयता और दृढ़ता से सब से आगे दीख पड़ा। वही मुख अग्रसर होकर साँप की तरह रेंगता हुआ

शत्रुओं की खाई पर टूटकर एकाएक चोट करने लगा। उस भयंकर मार को शत्रु न सहकर भाग गये और वह उनकी मशीनगन पर खड़े होकर यूनियन जैक हाथ में लेकर तीन बार चिल्लाया—'ग्रेट ब्रिटेन की जय! ग्रेट ब्रिटेन की जय! ग्रेट ब्रिटेन की जय!"

इतना विचारते-विचारते वे बहुत ही चञ्चल हो उठे। अब उन्होंने उसी अन्धकार में आँख गाड़कर देखा। उसी भयंकर मैदान की बर्फीली रात में एक तम्बू के भीतर वही मुख बाँधकर बेसुध पड़ा है। शरीर के घावों पर मानों वे स्वयं यत्न से पट्टी बाँधकर उसे जाग्रत् करने का उपाय कर रहे हैं। कुछ देर के उपचार के बाद धीरे धीरे उसने नेत्र खोले हैं। उस मुख पर एक मुस्कराहट आई है, और उसमें से एक ध्वनि निकली है "तुम अपने काम में मुस्तैद हो।" इतना कहकर उसने उनके हाथ पर अपना हाथ धर दिया है।

इतना विचार चुकने पर उनके मुख से एक गहरी सांस निकली। उसी विचार-तरंग में लीन होकर उन्होंने देखा—उस मृत्यु-क्षेत्र से हमलोग स्वदेश लौट आये हैं। 'विक्टोरिया क्रॉस' के तमगे से उसका शिशु खेल-खेलकर गोदी में हँस रहा है, और उसके पुत्र-जन्म के आनन्द-उत्सव में मित्र-मण्डली को प्रीति-भोज दिया जा रहा है। उसी विक्टोरिया-क्रास को छाती पर लटकाये, ब्रिटिश सैनिकों का पूरा सजीला वेश सजे वही मुख, वैसी ही उत्फुल्लता से, परिहास और स्वागत-सत्कार करता फिर रहा है।

इतना सोच चुकने पर मानों उनकी विचार-धारा का तार टूट गया। उन्होंने दोनों हाथों से अपनी आँखों को बन्द कर लिया। अब मानों वे कुछ होश में आये। उन्होंने मन-ही-मन

कहा—'उस बात को तो आज डेढ़ वर्ष बीत गया। तब आज वह सुन्दर मुख कहाँ है? कुछ दिन पूर्व ही तो इन आँखों ने उसे देखा था। हम दोनों ने एक साथ भोजन किया था। उनको गोद में शिशु था, और उसे वे छाती से लगाये किस मस्ती से बात कर रहे थे। परन्तु वे पागल कुत्ते की तरह गोली के शिकार हो गये। उनका अपराध यही था कि वे शिशु को साथ लेकर व्याख्यान सुनने गये थे। रात-भर उनकी लाश वहीं पड़ी रही, और ३ वर्ष का शिशु उस भयंकर रात में रात-भर उनकी छाती पर पड़ा रोते-रोते सो गया। ओफ़! क्या यह सच है? गोले और गोलियों की बौछार में ऊँची छाती करके जिस वीर ने सिपाही का सबसे बड़ा कर्तव्य-पालन करके उच्च सम्मान पाया, वह निरीह पक्षी की तरह गोली का शिकार हो गया? अपने ही घर पर, अपने ही द्वार पर! यह तो विश्वास के योग्य भी नहीं है, पर यह सच ही है। हे परमेश्वर! क्या वह गया? वह वीरत्वपूर्ण यौवन, वह प्रफुल्ल जीवन, वह अकपट प्रेम गया! गया! हाय गया। सब अन्धकार!' इतना विचारते-विचारते उनके नेत्रों से अविरल अश्रु-धारा बह चली, और वे चुपचाप नीरव रोने लगे। आँसुओं की धार उँगलियों में से बह चली।

बड़ी देर तक रो चुकने पर उनका मन कुछ हल्का हुआ। स्वप्न छिन्न-भिन्न हो चुका था। अब वे इस बात पर विचार करने लगे—आखिर किस अपराध में वे मारे गये?

अब वे मित्र के मुख को भूल गये। वे उन सैकड़ों, हजारों निरीह पुरुषों की इस निर्दय हत्या पर विचार करने लगे। मानों उनके आँखों के सामने लोग तड़प-तड़पकर बिलबिला रहे हैं। उनकी आँखों के सामने खून की नदी बह रही है।

धीरे-धीरे क्रोध और क्षोभ उनके मन में भरने लगा। किसने यह कायरतापूर्ण नर-हत्या की? इस बात के मस्तक में आते ही हठात् गोली की तरह एक नाम एकाएक उनके मस्तक में घुस गया। एक प्रतिष्ठित उच्च सैनिक अफसर ने इस कलंक में हाथ लाल किये हैं। कुछ दिन पूर्व वह उनके साथ कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर फ्रांस में लड़ रहा था। इतना बार-बार विचारकर वे उसकी परिचित सफेद मूछों की बूढ़ी मूर्ति का ध्यान करने लगे।

वे विचारने लगे। वह एक वीर, पुराना अनुभवी सिपाही है। सिपाहीपने में ही उसकी उम्र गई है। मैं भी सिपाहियों के जीवन का अनुभव कर आया हूँ। लोहे से लोहा बजाकर शत्रु को परास्त करना सिपाही का कर्तव्य अवश्य है, पर, निरीह हाहाकार करती, भागती जनता पर गोली बर्साना—यह कैसा सिपाहीपन है? यह कैसा कर्तव्य है? यह तो हत्या है? हत्या से भी अधिक घृणित है। किसी सिपाही के लिये तो यह एक ऐसा कलंक है कि जिसका कोई जोड़ हो-ही नहीं सकता।

मार्शल-लॉ की अवज्ञा? वे सोचने लगे।

अच्छा यह मार्शल-लॉ नागरिकों पर जारी ही क्यों किया गया? नगर के निवासियों से और फौजी कानून से वास्ता ही क्या है? मान लिया जाय, नगर के लोग उत्तेजित हैं। पर क्या सारा नगर विद्रोही है? स्त्री और बच्चों से भरे हुये व्यापार और कारबार में संलग्न ऐसे नगर को कुछ उत्तेजित बेसमझ लोगों से भयभीत होकर ऐसी निठुराई से दलित करना, किसी शक्तिशालिनी सरकार के लिये क्या लज्जा और कलंक की बात नहीं है। छी! छी! विभीषिका भी कैसी—

एकदम हत्या, खून ! एक तरफ कानून नर-हत्या के रोकने को कठोर दण्ड निर्माण करता है, दूसरी ओर ढेर-के-ढेर निरीह नर-नारियों को ऐसी नृशंसता से खून करने की आज्ञा भी देता है, तब यह कानून क्या हुआ, पाखण्ड हुआ। कभी न्याय नहीं कहा जा सकता—और प्रजा के लिए वह कभी हितकर नहीं है।

अब उनकी विचार-धारा एकाएक राजनीति के तूफानी समुद्र में जा पड़ी। वे सोचने लगे—आखिर किसलिए कानून को मानने के लिये प्रजा पर इतना दबाव डाला जाता है ? प्रजा पशुओं की तरह बिना कान-पूँछ हिलाये क्यों कानून को मानने को मजबूर की जाती है ? कानून चाहे प्रजा के मुख को बलात् बन्द कर दे, चाहे फाँसी दे, चाहे बे-आबरू करे, कुत्ते की तरह गोली मार दे, प्रजा को वह कानून ईश्वरीय विधान की भाँति सहना ही पड़ेगा। वाह ! यह तो सरासर प्रजा पर जंगली पशु की तरह शासन करना हुआ।

धीरे धीरे राजनीति से निकलकर इनके मन में क्रान्तिकारी विचार उठने लगे। अब वे सोचने लगे, यही गौरवास्पद अँग्रेजी कानून है ? इसीलिये सारे संसार में यह धूम मची हुई है कि अँग्रेजों के समान किसी का कानून नहीं है ?

नहीं, नहीं। ऐसे कानूनों को कभी नहीं स्वीकार करना चाहिये; जहाँ नागरिकता के अधिकार फूँक डाले गये, जहाँ मनुष्यत्व के अधिकार को कुचल दिया गया, जहाँ नंगी स्वेच्छाचारिता हू-हू करके नृशंस नृत्य करती है, जहाँ हाहा-कार की रौरव-नदी बहती है, जहाँ दुख-दर्द-अशान्ति से लोग आपे से बाहर होकर चिल्लाते हैं, जहाँ निरीह जनों का खून करके उन्हें शान्त और शिष्ट बनाने की चेष्टा की जाती है।

इतना सोच चुकने पर मानों उनके हाथ में से, वे जिस विचार-पतङ्ग को उड़ा रहे थे, उसकी डोरी छूट गई। शून्य अन्धकार में उनका मन उड़ने लगा। वे घबराकर अपनी विचार की डोरी को पकड़ने के लिये मानों मन-ही-मन हाथ-पैर मारने लगे। शीघ्र ही फिर वे विचार धारा में पड़ गये।

अच्छा, जब लोगों ने उस सैनिक-आज्ञा की अवहेलना करने का साहस किया था तब जिन्हें मरने का साहस नहीं था, वे क्यों इस सभा में आये थे? गोली चलते ही वे भागे क्यों? गाय की तरह डकराये क्यों? पञ्जाब! पञ्जाब! हाय पञ्जाब! अभी उस दिन फ्रान्स के मैदान में जिन पञ्जाब के नौनिहालों ने लोहा लेकर बहादुरी की तस्वीर खींच दी थी, उसी पञ्जाब के बच्चे अपने घर के द्वार पर ऐसी नामर्दी से मरें?—रोते हुए, भागते हुए!

उनके मस्तक में हलचल मच रही थी। वे बोले—'समझ गया। सब ज़ाहिर में आ गया। इस अमलदारी ने पहले हमें नामर्द बनाया। चुने हुए नौजवान क्लर्क बन गये, रईसज़ादे ऐयाश बन गये, ज़हरीले बुजुर्ग रायबहादुर बन गये, स्त्रियाँ बेपर्द बन गईं, बच्चे अनाथ बन गये।—हाय-हाय बन नहीं गये, बना दिये गये!"

अब उन्होंने अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक भारतवर्ष की इस भयङ्कर अपमानित अधोगति पर विचार करना शुरू किया। रात ज्यों-ज्यों गम्भीर होती गई, त्यों-त्यों उनकी विचार धारा भी गम्भीर होती गई। उन्हें दीखने लगा—अब से ६० वर्ष पहले पञ्जाब में जो जोम था, पञ्जाब के जवानों की छाती में जो गर्मी थी, आज वह नहीं है। सिर्फ पञ्जाब ही क्यों, सारे भारत में एक ठण्डी आज्ञाकारिता और दीनतापूर्ण आधीनता

के जीवन को छोड़, और कुछ नहीं है। जातीय सङ्गठन और आत्माभिमान की बात तो बहुत दूर है, मनुष्यों को साधारण कर्तव्य का ज्ञान भी नहीं है।

वे सोचने लगे—अच्छा, यह अमन-अमान क्या वस्तु है? —सिर्फ सिर झुका हुआ निर्जीव जीवन। सरकार भी इसी को पसन्द करती है, और देश के सभी बड़े-बड़े आदमी भी यही कहते है। पर क्यों छ टे लोगों को वह अच्छा नहीं लगता है? वे क्यों अशान्त होते, पिटते-मरते और बर्बाद होते हैं?

समझ में आरहा है। जिन्हें भर-पेट रोटी मिल गई है, जिन्हें मौज के सामान और सत्तायें मिल गई हैं, जिनकी गोद और आँखें भर गई हैं, उन्हें अमन के सिवाय और क्या सूझेगा? किसलिये वे झगड़ों को पसन्द करेंगे? परन्तु जिनके जीवन संग्राम-क्षेत्र बन गये हैं, जिनके पेट में दाना पड़ने के लिए धर्म-ईमान, स्वास्थ्य और मनुष्यता के खण्ड-खण्ड हो जाते हैं, जिनकी स्त्रियाँ असहायों की तरह मज़दूरी करती हैं, जिनके बच्चे कौवे और कुत्तों की तरह पलते हैं, जो जागते में खून-पानी एक करते हैं और सोते में जिनके मन रोते हैं, उन्हें अमन कहाँ है? वे और कब तक सिर झुका हुआ जीवन बर्दाश्त करें? क्या दबाकर उन्हें अमन में रखा जा सकता है? और अमन चाहनेवाले बड़े लोग क्या इस प्रकार अमन पा सकते हैं? ऐसा हो ही नहीं सकता।

यह सम्भव नहीं है कि सर्व-साधारण प्रजा के कष्टों को कम किया जाय? ज़मींदार के घर में सर्वस्व भरा रहता है, फिर भी वह अपना पावना किसान से चुकाने के लिए उसके हल-बैल, बासन तक कुर्क करा लेता है। व्यापारी कारीगरों को अच्छी तरह निचोड़कर रख देता है। सरकार ही क्या अपने

नौकरों को बेअन्दाज़ फ़ालतू तनख्वाह देने के लिए प्रजा की ग़रीबी की परवाह न कर, निर्दयतापूर्वक टैक्स नहीं लगाती ? यह सब क्या अमन बने रहने के ढङ्ग हैं ? ग़रीब, दीन-दुःखी, जिनके जीवन के साथ अमीर, हाकिम और सुखियों के जीवन मिले हुए हैं, क्या यह उचित नहीं है कि वे परस्पर प्रेम, सहानुभूति और एक दूसरे की सुविधा ख़याल रखकर रहें ? मगर नहीं, समाज में तो घोर स्वार्थ है। अपनी चिन्ता और अपने लिए प्रत्येक पुरुष मर रहा है। दूर कहाँ जायँ, इसी घर को देख लिया जाय। कैसा सजा हुआ, कैसा रोशनी से धक्-धक् कर रहा है, और बाहर कैसा अन्धकार, सन्नाटा और भयङ्करता फैली है। कितने लोग मर रहे हैं, कितनी विधवायें तड़प-तड़प कर रो रही हैं, कितने घायल चीख रहे हैं, क्या इस ऐश्वर्य-भवन पर इसका कुछ प्रभाव पड़ा है ?

इतना विचारने पर उन्होंने खिड़की के बाहर अन्धकार में गढ़ा हुआ अपना मुख, बिजली से चमचमाते हुए कमरे में फेरा; मानों उनकी विचार की धारा टूट गई हो। वे चौंककर एकाएक उठ खड़े हुए, और एक-एक करके कमरे की प्रत्येक वस्तु को देखने लगे। क्षण-भर में उनके मन में यह धारणा उत्पन्न हो गई कि मनुष्य ने जो सामाजिक उत्तरदायित्व को छोड़कर अपनी पूरी सत्ता को अपने लिए समझ लिया है, यही सबसे बढ़कर नाशकारी हुआ है।

इतना विचारते-विचारते उनकी दृष्टि कोच पर बैठी हुई सुधा के ऊपर पड़ी। वे सब विचारों को भूलकर उसके पास जाकर नर्मी से बोले—"सुधा, तुम अभी गर्मी में यहीं बैठी हो, अभी तबियत सुधरी नहीं ? जाओ, सो रहो।" सुधा एक मासिक पत्रिका पढ़ रही थी। उस पत्रिका से दृष्टि उठा, कुछ

मान भरे में कहा—"तुम्हारा अन्धकार-निरीक्षण समाप्त हो गया न ?"

सुधा की बात सुनकर सुधीन्द्र के हृदय में एक उद्वेग उत्पन्न हो गया, परन्तु उसे मन-ही-मन छिपाकर उन्होंने कहा—"तो तुम यहाँ बहुत देर से बैठी हो ? मुझे तो कुछ खबर ही नहीं।"

सुधा ने उसी तरह कुपित स्वर में कुछ व्यंग मिलाकर कहा—"तुम अगर सोते होते तो जगाती ही, पर जब तुम जागते बैठे हो, और कमरे में पूरा प्रकाश हो रहा है, तब भी तुम्हें किसी बात की खबर न पड़े तो बात ही दूसरी है।"

अब उन्होंने फिर एक दृष्टि कमरे में डाली। एक विषाद की रेखा उनके होठों पर आई और गई। उन्होंने उदास स्वर में कहा—सचमुच कमरे की तरफ मेरा ध्यान ही न था।"

सुधा ने जरा तीव्र स्वर में कहा—"क्या अन्धकार इस प्रकाशित सजावट से कहीं अधिक सुन्दर है ?

सुधीन्द्र की उदासी बढ़ रही थी. उन्होंने उसी उदास स्वर में कहा—"मुझे तो ऐसा ही मालूम होता है सुधा। ऐसे-ऐसे हजार कमरे भी क्या उसे नष्ट कर सकते हैं ? यह सजावट तो उपहासास्पद-सी है।"

जिस प्रकार उन्होंने पत्नी की बात नहीं समझी थी, उसी तरह सुधा ने भी उनकी बात का मर्म नहीं समझा। वह कुछ अधिक रुष्ट होकर चुप बैठी, फिर पत्रिका के पन्ने उलटने लगी। अब उन्होंने समझा। उन्होंने देखा, सुधा ने कमरे के सौन्दर्य की ही बात नहीं कही थी। उसने एक और सौन्दर्य की तरफ भी संकेत किया है। उन्होंने यह ख़याल करके कि मुझसे

कठोर उत्तर बन गया है, नर्मी से कहा—"नाराज़ मत हो सुधा, आज मेरा मन बहुत ख़राब हो रहा है। तुम्हें शायद नहीं मालूम....."

बीच में बात काटकर सुधा ने दुःखी स्वर में कहा—"अब थोड़ी देर और अन्धकार का सौन्दर्य निरीक्षण कर लो। परन्तु अन्धकार ही को देखने से क्या होगा ?"

उस समय यदि सुधीन्द्र के मन की अवस्था ठीक होती तो वे बात-की-बात में सुधा को हँसा देते। पर इस समय इस व्यंग को सुन, वे मर्माहत से खड़े सोचने लगे—"हाय रे स्त्री-जाति ! मानो मुझे स्वाधीनता से विचार करने, सोचने का भी अधिकार नहीं है। क्या विवाह होने पर स्त्री पुरुष की, और पुरुष स्त्री का सर्वस्व हो जाता है ? उन्हें प्रेम, सुख, सम्पत्ति भोग करने का अकंटक अधिकार मिल जाता है ? कर्तव्य क्या उनके सामने कुछ है ही नहा ? और उस प्रेम-सम्पत्ति और सुख में क्या और कोई भागीदार हो ही नहीं सकता ? वह सब एक कोठरी में बन्द होकर दो ही व्यक्ति भोग करें, यही क्या विवाह के पवित्र बन्धन का हेतु है ? तब तो विवाह एक तुच्छ स्वार्थ का शर्तनामा है। वे महान् वेद-मन्त्र क्या इसी गठ-बन्धन की विरद गाते है ? यह विवाह-बन्धन तो कभी ऐसा बन्धन नहीं हो सकता कि जिसका तारतम्य परलोक तक हो। यह तो भोग का ठेका है !....."

वे यही सोच रहे थे कि इतने में सुधा ने कहा—"चलो, भोजन तो कर लो। ठण्डा होकर सब मिट्टी हो गया है। तुम इतना भी नहीं विचारते कि भोजन की इतनी ढील से कितने आदमी भूखे बैठे रहते हैं।"

सुधीन्द्र ने कहा—"ओह ! तुमने भोजन भी नहीं किया ? मैं तो कहना ही भूल गया था, कि इस समय मुझे भोजन की इच्छा नहीं है; तुम जाकर खा-पी लो, और आराम करो।"

सुधा ने तिरछी नज़र से पति की कुपित-मुद्रा देखी। डरकर कहा—"और तुम ?"

"मैं ज़रा यहाँ बैठूँगा सुधा, मेरा जी हाहाकार कर रहा है।"

सुधा ने कुछ उत्तर न दिया। वह फिर पत्रिका को लेकर कोच पर उदास मन से बैठ रही।

सुधीन्द्र उसके पास बैठकर नर्मी से उसका हाथ अपने हाथ में लेकर बैठ गये। एकाएक सुधा की आँखों में आँसू आ गये और वे पत्रिका के ऊपर टपाटप गिरने लगे।

कुछ देर तक वे चुपचाप उदास मुख से सुधा का वह निस्पन्द रोना देखते रहे। कुछ ठहरकर उन्होंने सहानुभूति के स्वर में कहा—'सुधा, कहो तो, अपने दुःख से रोती हो या मेरे दुःख से ?"

कुछ देर रो लेने पर सुधा ने आँसू-भरी आँखों से पति को देखकर कहा—'क्या स्त्रियों के प्रति पुरुषों को ऐसी ही बेपरवाही का बर्ताव रखना चाहिए ?"

सुधीन्द्र ने उसका हाथ थपथपाकर कहा—"तुम व्यर्थ ही इतना दुःखी हो रही हो सुधा, क्या तुम नहीं जानतीं, मेरे प्राण तुममें अटके रहते हैं ?"

सुधा ने भरे गले से कहा—"क्या मैंने कोई कठोर बात कह दी ? कठोर बात से कलेजे में ज़ख्म नहीं होता है ? आख़िर तुम मेरे स्वामी ही हो। पर तुम इतना नहीं विचारते

कि ३ घण्टे से मैं भोजन के लिये बुलाने आकर यहाँ बैठी हुई हूँ, पर तुमने एक बार नज़र उठाकर भी मेरी ओर नहीं देखा। नित्य ही तो ऐसी उदासीनता रहती है। अच्छा तुम कहो तो मैं किस बात में तुम्हारे योग्य नहीं हूँ ? मैं क्या करूँ, जिससे तुम सुखी हो सको ?"

सुधीन्द्र ने बहुत ही महानुभूति के स्वर में कहा—"सुधा, प्यारी, ऐसी बात क्यों सोच रही हो ? मैं तो सदा तुम्हारे सुख और प्रसन्नता के लिये ध्यान रखता हूँ। आज मैं सचमुच बहुत दुःखी था। इसी से तुम इतना नाराज़ होगई ?"

"पुरुषों को अपने दुःख-सुख और चिन्ता की बातें क्या अपनी स्त्रियों से कहनी ही नहीं चाहिये ? तुमने मुझे इतना पढ़ाया-सिखाया, सो क्या इसलिये ?" फिर कुछ गम्भीर स्वर में कहा—"स्त्रियों का स्वभाव बहुत कोमल होता है। पुरुषों पर नित्य नई चिन्ताएँ और कठिनाइयाँ आती हैं, और जाती हैं। तब व्यर्थ स्त्रियों को चिन्तित करनेसे क्या लाभ है ? उनके फूल-से दिल को प्रफुल्ल रखना ही पुरुषों का कर्तव्य है।" अन्तिम वाक्य सुधीन्द्र ने खुशामद के तौर पर पत्नी को खुश करने के लिये कहा था।

सुधा ने ज़रा करारे स्वर में कहा—"और स्त्रियों ने, पतियों के साथ युद्ध में, वन में और राज-सभाओं में बराबर कन्धे-से-कन्धा मिलाकर जो काम किया है।"

अब सुधीन्द्र ने कुछ मुस्कराकर कहा—"स्त्रियों की वह शक्ति आज कहाँ है ? जिस दिन स्त्रियों के वे दिन फिरेंगे, उसदिन सूरज-चाँद का रङ्ग ही बदल जायगा सुधा।" इतना कहते-कहते वे एकाएक उदास होगये।

इस उत्तर से सुधा के मन पर कुछ चोट लगी। उसने समझा, पुरुष हमीं को अयोग्य समझते हैं, किन्तु वे स्वयं भी कितने हीन और पतित होगये हैं, इस बात का कुछ ख़याल नहीं करते। उसने उस बात को पीकर कहा—"मैं तो पहले ही कहती थी कि तुम मुझे अपने योग्य नहीं समझते।—और यह तो पुरुषों का स्वभाव ही है कि वे स्त्रियों को अपने से सदा तुच्छ समझते हैं।"

सुधीन्द्र ने तत्काल अपने पिछले वक्तव्य की कठोरता समझ ली। अब वे अपनी स्त्री के गले में स्नेह बाँह डाल, मधुर स्वर से बोले—"प्रिये, ऐसा क्यों कहती हो? मैं तो तुम्हें पाकर परम सुखी हुआ हूँ और तुम्हें अपने जीवन की एक परम प्रिय संगिनी समझता हूँ।"

इस दुलार से मानवती सुधा की छाती फूल उठी और उसके मुख पर लाली आगई, पर उसने उस आनन्द को छिपाकर व्यङ्ग्य क्रोध के स्वरमें कहा—"हटो, ऐसी झूठी बातें बनाना तो पुरुषों का स्वभाव है।"

सुधीन्द्र ने और भी दुलार से कहा—"तो क्या तुम मुझे ऐसा झूठा आदमी समझती हो?"

एकाएक सुधा प्रगल्भा बन गई। उसने सिर उठाकर कहा—"अच्छा, तुम मेरे सिर पर हाथ रखकर क़सम खाओ कि तुम मुझे संसार में सब से अधिक प्यार करते हो।"

कदाचित् यह प्रश्न कल किया जाता, तो क्षण-भर में स्वीकृति का उत्तर मिल जाता, पर आज तो सुधीन्द्र के मन में घोर परिवर्तन होगया था वे इस प्रश्न को सुनकर एकाएक इस तरह चौंक पड़े, जैसे साँप को देखकर मनुष्य चौंक उठता है।

क्षण-भर में उनके मन में भावों का तूफान उठ आया। वे सोचने लगे—क्या पुरुष को स्त्री को संसार-भर में सब से अधिक प्यार करना चाहिये ? इस प्यार में क्या मनुष्य-जन्म के महान उद्देश्य भी चाहे नष्ट होजाय ! नहीं, यह तो सर्वथा अनुचित है। उन्होंने कहा—"यह क्या बेवक़ूफ़ी का सवाल करती हो सुधा ?"

अब अनुकूल उत्तर पाने की आशा में और भी उत्फुल्ल नेत्रों से पति पर कटाक्ष करते हुए उसने कहा—'तुम्हें मेरी क़सम इस बात का तो जवाब देना होगा।"

"हाय ! कैसी बे-समझी है। क़सम खाना बहुत छोटे लोग का काम है। तुम्हें कभी क़सम नहीं खानी चाहिये। वैसे ही क्या मैं कभी तुमसे कुछ छिपाता हूँ, अथवा झूठ बोलता हूँ, कहो ?"

सुधा ने इस मधुर फटकार की कुछ परवाह न करके उसी उत्साह-भरे स्वर में पति के कन्धे पर हाथ धरकर कहा—' तो कहो, सच्ची-सच्ची कहो; नहीं, मैं फिर क़सम दूँगी।"

सुधीन्द्र मर्माहत हुए। वे चुपचाप नीचे को देखते हुए उदास बैठे रहे।

अपनी ऐसी छोटी-सी बात का उत्तर न पाकर सुधा को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने स्त्रियों के स्वभाव-सिद्ध दुराग्रह के स्वर में कहा—"इस बात का जबाब तो देना ही पड़ेगा—बिलकुल ठीक-ठीक; नहीं तो मैं तुम्हें अभी क़सम देती हूँ।"

सुधीन्द्र ने घबराकर कहा—' ना ना, क़सम मत देना। तुम इस फ़ालतू बात के क्या पीछे पड़ी हो ? अच्छा, चलो कुछ भोजन करलूँ। कुछ कुछ भूख मालूम पड़ती है।"

इतना टालमटूल से शंकित और नाराज़ होकर सुधा ने पति के कन्धे पर रखा हाथ हटा लिया। उसने शंका-भरे स्वर में कहा—"तुम्हें ईश्वर की सौगन्ध, तुम सच-सच कहो कि क्या तुम मुझे संसार-भर में सब से अधिक चाहते हो ?"

'ईश्वर की सौगन्ध; मानों किसान के दरांत की तरह दर-दर करती उनके कलेजे को पार कर गई। क्रोध से उनका चेहरा लाल होगया, पर क्षण ही भर में वह पीला पड़ गया। उन्होंने धीमे कण्ठ से कहा—"नहीं।"

'नहीं, यह शब्द बन्दूक की गोली की तरह सुधा के मस्तक में घुस गया। उसे वह न सह सकी, वह हक्की-बक्की पति की ओर कुछ देर तक ताकती रही। उस के बाद भर्राई आवाज़ से उसने कहा—"क्या मैं रूप में कुछ कम हूँ ?"

सुधीन्द्र भी अब विवेचन को तैयार होगये थे। उन्होंने कहा—"नहीं।"

"तब मैं गुणों में हीन हूँ ?"

सुधीन्द्र के स्वर में दृढ़ता आ जाती थी। अब की बार उन्होंने कुछ दृढ़ स्वर में कहा—'नहीं।'

अब सुधा ने अधरोनी सूरत से कहा—"तब फिर तुम मुझे क्यों नहीं प्यार करते ?" इतना कहकर वह चुपचाप आँसू बहाने लगी।

सुधीन्द्र ने देखा पति स्त्री से जो सब से अधिक कड़ी और दुःखदाई बात कह सकता है, वही बात हठात् उनके मुँह से निकल गई है। पर क्या यह अत्याचार हुआ है ? बात तो सच्ची ही है। उन्होंने अब गम्भीर होकर सुधा से कहा—"जब तुमने इस प्रसंग को उठाया है, तो इस गम्भीर बात को समझ लो।

तुम पढ़ी-लिखी स्त्री हो। मैं आशा करता हूँ, समझकर इतना बुरा न मानोगी। मैंने जो कठोर बात कही है, वह सच्ची तो है ही, नीति की भी है।"

इसपर सुधा ने असन्तोष-मिश्रित क्रोध के स्वर में कहा—"नीति की? पति जिसे अग्नि और धर्म की साक्षी देकर पत्नी बनाता है, उसे वह प्रेम नहीं करता, और यह बात नीति की है? अच्छा, यह नीति पुरुषों की ही है, या स्त्री इस नीति की बात कह सकती है?"

अब सुधीन्द्र ने कहा—'स्त्री और पुरुषों के लिए समान ही नीति होनी चाहिये। स्त्री भी यह कह सकती है। बल्कि उसे कहना और समझना चाहिये कि वह संसार की सब वस्तुओं से अधिक अपने पति को प्यार नहीं कर सकती।"

स्त्री ने उतावली से कहा—"तब गीता, स्मृति और रामायण-आदि सब एकदम झूठ है? पतिव्रत-धर्म मानों कुछ है ही नहीं?" इतना कहते-कहते घमण्ड से तनकर स्वामी की ओर देखने लगी।

पत्नी के इस भाव से आनन्दित होकर सुधीन्द्र ने नर्मी से कहा—"पतिव्रत-धर्म जैसा पुण्य-माहात्म्य है, वैसा ही पत्नी-व्रत भी है, परन्तु प्रेम करना, उसे केवल सुख-ऐश्वर्य के उपभोग में अटका रखना, यही पातिव्रत्य नहीं है सुधा।"

स्त्री ने हठ के स्वर में कहा—"पति को सुख देना और सेवा करना पातिव्रत्य नहीं है, तो क्या पति की हत्या करना पतिव्रत-धर्म है?"

पिछली बात सुधा ने क्रोध में आकर कही, पर सुधीन्द्र ने गम्भीर स्वर में कहा—

'ऐसा भी अवसर है, जब पतिव्रता पति की हत्या तक करती है।"

"सर्वनाश, तुम अपने धर्म और शिक्षा को रहने दो, मैं उन्हें नहीं सुनना चाहती।" इतना कहकर सुधा चलने को उठ खड़ी हुई।

पन्ना का हाथ पकड़कर सुधीन्द्र ने मृदु कोमल स्वर में कहा—"नहीं, सुधा, ठहरो, बहुत ही गम्भीर विचारणीय बातें ज़बान पर आगई हैं, जो कम-से-कम स्त्रियों के सामने ज़बान पर नहीं आनी चाहियें। जो हो, अब कुछ देर गम्भीरतापूर्वक इस विषय पर विचार लेना चाहिए। यह तुम भली भाँति जानती हो कि मैं तुम्हें कितना प्यार करता हूँ, और मैं भी तुम्हारे हृदय के प्यार से उत्तम नहीं, परन्तु यदि हम लोग पर-स्पर एक-दूसरे को संसार की सब वस्तुओं से बढ़कर चाहते हैं, तो ऐसा हमें नहीं करना चाहिए। यह घृणास्पद स्वार्थ है।

'तुमने मुझसे पूछा—क्या मैं तुम्हें संसार की सब वस्तुओं से अधिक चाहता हूँ? और मैंने कहा—नहीं। तब तुम्हें दुःख हुआ। तुम्हारी दृष्टि, रूप और गुण पर गई। क्या तुमने यह समझा कि तुम्हारे आसन पर किसी दूसरी स्त्री का हिस्सा है, जिसका रूप-गुण तुमसे बढ़कर है? यदि तुमने यही सोचा है, तो मैं कहूँगा, तुमने अपने पति का भारी तिरस्कार किया।

"तुम्हें मैंने बारम्बार प्रेम की व्याख्या बताई है। जिसके लिए अधिक-से-अधिक त्याग किया जाय, उसके लिये अधिक-से अधिक प्रेम करना कहा जायगा। त्याग ही का सात्विक नाम प्रेम है, और प्रेम की क्रिया का नाम प्यार। क्या स्त्री पति के लिए और पति स्त्री के लिए ही त्याग कर सकते हैं? उनका जगत् में और कोई कर्तव्य नहीं?—उत्तरदायित्व भी

नहीं ? पति-पत्नी के स्वार्थियों को तो सभी जानते हैं, फिर जिन दो प्राणियों के स्वार्थ परस्पर एक-दूसरे से बढ़कर हैं, वे परस्पर त्याग करें, दूसरे शब्दों में प्रेम करें—तो यह कोई बहुत बड़ी बात नहीं। प्रेम और त्याग की प्रशंसा तो उसके लिए है, जिससे मनुष्य को कष्ट पहुँचा हो, जो प्राणों का बैरी हो, अथवा जिस त्याग का कोई बदला ही नहीं।"

सुधा गम्भीरता से पति की बात सुन रही थी। सुधीन्द्र और भी गूढ़ भाव से कहने लगे—

"देखो सुधा, जब दम्पति परस्पर अपने जीवन को संयुक्त करते हैं, तब वे समझते हैं, हम दो अभिन्न हुए। हम दो एक प्राण, दो तन हैं; जैसा कि तुम समझती हो। तुम इसी बात को सहन नहीं कर सकीं, न-कि यह कि तुम्हारा पति तुम्हें सब से अधिक प्यार नहीं करता; क्योंकि तुम्हें इस बात का घमण्ड है कि तुम अपने पति को संसार में सब से अधिक प्यार करती हो। यह बात है न ?"

सुधा ने बिगड़कर कहा—"मैंने कब घमण्ड किया था ?"

सुधीन्द्र ज़रा हँस दिये। वे बोले—"वह घमण्ड तुम्हें दीख नहीं पड़ता, मुझे दीखता है। परन्तु सुनो, जब तुम पुत्र-रत्न को प्राप्त करोगी, तो देखोगी की तुम्हारे उस अखण्ड प्रेम में जो केवल पति के लिए सुरक्षित है, एक हिस्सेदार पैदा होगया है, और वह पति से अत्यन्त पवित्र है। पति का शरीर केवल बाह्य दृष्टि से तुम में संयुक्त है। वह पृथक् चीज़ है। उससे केवल आत्मा की एकता का सम्बन्ध है। परन्तु पुत्र को। तो तुमने उत्पन्न किया है, उसका शरीर से बना है, वह तुम्हारी आत्मा का एक अंग है, उसे क्या तुम पति से बढ़कर प्यार न करोगी ?"

सुधा के मन में पुत्र की बड़ी लालसा थी। अपने वैवाहिक जीवन के ७ वर्ष उसने प्रति क्षण पुत्र की कामना में व्यतीत किये थे। उसकी गोद एक पुत्र से परिपूर्ण हो, इस भावना से ही वह विभोर हो उठती थी। पति उसकी इस आकांक्षा, को जानते थे। इस बार वह मर्म-स्थल पर चोट खाकर रोने लगी। उसने कुछ कहना चाहा, पर कह न सकी। सुधीन्द्र ने फिर कहा—

"रोती क्यों हो, मैं तो विवेचना की बात कह रहा हूँ, तुम कुछ और समझीं। मेरा कहना यह है, सन्तान से प्यार करना भी उतना ही नगण्य है, जितना पति से।"

सुधा ने प्रश्नसूचक दृष्टि से पति को देखा। सुधीन्द्र ने कहा—

"मनुष्य सामाजिक जीव है, मिलकर रहना उसका जीवन है। सामाजिक उत्तरदायित्व का प्रेम पर अधिक भार है। क्या तुम कह सकती हो सुधा, राम ने पिता की आज्ञा से राज्य को क्यों त्यागा, धोबी के कहने से सीता को क्यों त्यागा, भीष्म ने पिता के लिये आजन्म ब्रह्मचर्य-व्रत क्यों रक्खा? युद्ध-क्षेत्र में क्यों योद्धा हँस-हँसकर सिर कटाते हैं? राजपूतानियाँ क्यों जलकर खाक होगईं, क्यों उन्होंने वीर पति और पुत्र को कमर में तलवार बाँधकर युद्ध-क्षेत्र में कट-मरने के लिये भेज दिया और स्वयं जल मरीं? वीरता, ओज, त्याग, तेज—यह सब प्रेम के उत्कृष्ट रूप है।"

सुधीन्द्र यह कहकर चुप होगये। वे कुछ गहरी बात सोचने लगे। उन्होंने कहा—

"सुधा, तुम्हारी भाँति मैं भी तो इसी मोहान्धकार में फँसा

हूँ। हम-तुम जिसे प्रेम समझते हैं, वह तो मोह है। उसमें त्याग तो बहुत थोड़ा है; भोग अधिक है। इसी बातको ले लो, मैंने आज भोजन नहीं किया। अब तुम घण्टों से यहाँ इस प्रतीक्षा में बैठी रहीं कि मैं तुम्हें देखूँ। तुमने समझा—मैं यहाँ आऊँ और कोई मुझे न देखे। कैसा अपमान! इसे तुम न सहन कर सकीं; तुम्हें मान हो आया। यही तो भोग है। यह इन्द्रियों की वस्तु है, सच्ची वस्तु—जिसे प्रेम कहते हैं, वह आत्मा की वस्तु है। सुधा, आज मधु को खोकर मैंने अचानक इस तथ्य को जाना। वीरेन्द्र की जलती हुई चिता गत ८ मास से निरन्तर आखों में रही है। मुलतानी लूओं के झोंके जब हरिद्वार में जलाते थे, तो मैं सोचता था, धधकती चिता से भी बढ़कर हैं ये?—और मेरे कलेजे में ठण्डक पड़ जाती थी परन्तु मधु की इस मृत्यु को क्या कहूँ? उसके प्यार में बँधकर मैं उसके पीछे परछाईं की भाँति युद्ध-क्षेत्र में गया; क्योंकि मैं उसे रोक न सकता था। मुझे जाना पड़ा। पर आज वह निरपराध इस प्रकार अनायास ही मारा गया। ओह! क्या करोड़ों नर नारियों से परिपूर्ण भारतवर्ष इतना अरक्षित है? अपने घर और देश में भी हमारे प्राण सुरक्षित नहीं? कल मधु गया, उसके साथ और सैकड़ों गये आज या कल औरों की भी बारी आजायगी। क्या इस सार्वजनिक भय से मुझे और तुमको भी अपने देश के मनुष्यों को निर्भय करना ठीक नहीं? वे मारनेवाले भी तो किसी के पति, पुत्र, बन्धु हैं। सुधा, उनकी मृत्यु को दरगुज़र करके अपने प्यार का हम दोनों ही उपयोग करें? नहीं-नहीं हमारे प्यार में, हमारे पड़ोसियों का, देश का, मनुष्यमात्र का, प्राणीमात्र का हिस्सा है। उस प्रेम को बन्द कोठरी में केवल आपस ही में उपयोग करना कदापि उपयुक्त नहीं। हम

यदि यह कहें कि हमपर एक-दूसरे को संसार में अधिक-से-अधिक प्रेम करते हैं, तो यह हमारी नादानी है। सुधा, हमें अपना प्रेम विश्व को प्रदान करना चाहिए और विश्व के लिए आवश्यकता होने पर हमें व्यक्तिगत प्रेम के विच्छेद सहन करने चाहियें। हमें देश पर, जाति पर, समाज पर जूझ मरना चाहिये। हमारे प्रेम मे प्राणी-मात्र का हिस्सा है।"

सुधा विचलित हो रही थी। उसके आँसू सूख रहे थे। वह गम्भीरता से पति के गूढ़ प्रवचन सुन रही थी। सुधीन्द्र ने कहा—"इतिहास के पृष्ठ जो रक्त से भरे हैं, बलिदान के जो सहस्रों उदाहरण हम देख पाते हैं, उनका रहस्य यही तो है? आओ सुधा मेरी प्यारी सुधा, आज हम देश-भक्ति का व्रत लें। हम प्रतिज्ञा करें कि हम अपने प्रेम को अपने देश के बच्चे-बच्चे के लिये प्रदान करते हैं।"

सुधा धीरे-धीरे पति के चरणों में झुक गई। उसने कहा—"स्वामी, आप मुझे उन्नत मार्ग बताइये। मैं अधम नारी हूँ, इतनी बात कहां समझूँगी? इसी शरीर और आत्मा को आप अपने साथ उन्नति-पथ पर ले दौड़िये। मेरी प्रार्थना यही है कि दासी को अधम या दुर्बल समझकर पीछे मत छोड़ना।"

सुधा रोने लगी। सुधीन्द्र ने उसे खींचकर छाती से लगा लिया। कुछ देर ठहरकर उन्होंने कमरे में एक दृष्टि डालकर कहा—"देखो, सब से अधिक शैतान तो यह कमरा है। यह सब विदेशी वस्तुओं से परिपूर्ण है। यह इस समय हमारा उपहास-सा कर रहा है। मैं अपने देश को, अपने देश की बनी वस्तुओं को प्यार करूँगा।"

उन्होंने इधर-उधर देखा, और एक डण्डा लेकर कमरे के

काँच के सामान, रेशमी पर्दों, कीमती तस्वीरों—सभी को तोड़ने-फोड़ने लगे। सुधा पत्थर की मूर्ति की भाँति बैठी रही।

सहसा रायसाहेब ने कमरे में प्रवेश करके देखा, वहाँ की सभी वस्तु टूट-फूट गई हैं। सुधीन्द्र पागल की भांति प्रत्येक चीज को चूर मूर कर रहे हैं। रायसाहेब बोले नहीं, चुपचाप खड़े देखते रहे।

सुधीन्द्र ने उन्हें देखा, तो पास आकर विनीत स्वर में कहा—'मैंने आपकी सब विदेशी चीजें नष्ट कर दी हैं। आप जो चाहें, मुझे दण्ड दीजिये। परन्तु मैं आपके ये विदेशी वस्त्र भी नष्ट करूँगा। इन्हें उतार दीजिए।"

रायसाहेब ने सुधीन्द्र के सिरपर हाथ रखकर कहा—

"सुधीन्द्र, तुम इस बुढ़ापे में मेरे जीवन की सबसे बड़ी भूल को सुधार लो, इन विदेशी वस्त्रों को जला दो। परन्तु मेरी आत्मा जो विदेशी हो गई है, उसका क्या करोगे?"

वे उन्मत्त की भाँति मधुसूदन की पूरी कद की तस्वीर की ओर दौड़े, और उसे छाती से लगाकर विलाप करना प्रारम्भ किया—"हाय मेरे बच्चे, तू सच्चे सिपाही की भाँति युद्ध-क्षेत्र में गया, और लौट आया। अन्त में कीड़े की भाँति मरा। मेरे वीर पुत्र, यह देश की गुलामी का कारण है। किसी भी स्वाधीन देश का तेरे-जैसा पुत्र इस भाँति न मरेगा। मैं इस गुलाम देश में गर्व से प्रतिष्ठित व्यक्ति की भाँति नहीं रह सकता। मैंने अपने खिताब और पेन्शन भी त्यागी।"—यह कहकर अपने वस्त्र उतारने लगे।

घर-भर वहाँ एकत्रित था। बीच में कीमती विदेशी वस्त्रों का ढेर था। सुधीन्द्र ने सब में आग लगा दी। वह पाप की भाँति भस्म हो गया। उसदिन सब किसी ने उपवास किया।

५४

आँधी और तूफान की भांति देश का राजनैतिक वातावरण उमड़ चला, और देखते ही देखते सुधीन्द्र और सुधा उसके कर्णधार हो गये। पञ्जाब और उत्तर-भारत में सुधीन्द्र की कलम और जबान ने आफत ढा दी थी। जहाँ सुधीन्द्र की वक्तृता की बात होती, जनता टिड्डी-दल की भाँति उमँड़ पड़ती। सुधीन्द्र की वाणी में आग थी, वह जलाती थी। उनका गहन अध्ययन, उत्कट चरित्र—यह सब कुछ देश के अनुराग में रँगा जा रहा था। दस वर्ष प्रथम भी उन्होंने असहयोग का साथ दिया था। पर उन्होंने क्रियात्मक रूप में कुछ भी नहीं किया था। मधुसूदन की मृत्यु ने उसके मन को विचलित कर दिया था। उधर विप्लववादियों से सम्बन्ध रखने के कारण राजेन्द्र बिना न्याय-विचार किये अनिश्चित समय के लिये किसी अज्ञात प्रदेश को भेज दिये गये हैं। इन्हीं सब कारणों ने मिलकर सुधीन्द्र को विक्षिप्त बना दिया।

सुधा पति की शिक्षा तथा भाई का घाव खाकर देश की जोगिन बन गई थी। उसने एक महिला-संघ का संगठन किया था, और देश की महिला-समाज को पर्दे और गुलामगीरी से मुक्त करने का बीड़ा उठाया था। राय साहेब ने इस आग में कूदने से सुधीन्द्रको बचाने की बहुत चेष्टा की, परन्तु वे रुके नहीं।

युवकों के हृदय सुधीन्द्र के साथ थे। सुधीन्द्र युवकों के प्राण थे। वे अहिंसा-तत्व के माननेवाले थे। पञ्जाब के क्रान्तिवादी-दल ने उन्हें घेरा। परन्तु उन्होंने सब को साफ़ जबाब दे दिया! खुली क्रान्ति उनका सिद्धान्त था।

सुधीन्द्र की बढ़ती हुई शक्ति देख, शासकगण चिन्तित होरहे थे। उच्चाधिकारियों का ध्यान इस नवीन केन्द्रीय सत्ता की ओर था। अन्त में उन्हें अनेक ग़ैर-क़ानूनी कार्य करने तथा फ़ौजी क़ानून भंग करने के अपराध में गिरफ़्तार कर लिया गया। जिस समय वे पकड़े गये, वे एक सभा में भाषण करने गये थे, जिसके न करने की सूचना अधिकारी प्रथम ही दे चुके थे। सुधीन्द्र उस आज्ञा की भद्र अवज्ञा करना चाहते थे। सभा-स्थल पर ही उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया। उसी समय सुधा ने सभा-मंच पर आकर घोषणा की—"पूज्य पति के स्थान पर यदि आप आज्ञा दें तो मैं वक्तृता दूँगी।" सभा-भवन हर्ष-ध्वनि और जय जयकार से गूँज उठा। उस हर्ष के समुद्र में तैरते हुए सुधीन्द्र जेल चले गये, और उनके कुछ मिनटों बाद ही साध्वी सुधा भी।

दोनों एक-ही जेल में बन्द थे। दोनों पति पत्नी एक-हृदय थे। धर्म और समाज ने, आत्मा और शरीर ने उन्हें एक किया था। परन्तु विधान के भीषण बन्धन उसके बीच में थे।

पहली ही पेशी में सुधा को नौ मास की साधारण सज़ा मिली। परन्तु सुधीन्द्र के मुक़दमे ने खूब रँग पकड़ा। सुधीन्द्र ने अपनी पैरवी नहीं की। उन्होंने अपने को राज-भक्त स्वीकार करने से इंकार कर दिया। उनके विरुद्ध कोई क्रियात्मक कारण न थे। परन्तु उन्होंने स्वतन्त्र देशों से इस सम्बन्ध में पत्र-व्यवहार करने प्रारम्भ कर दिये थे, और खुल्लमखुल्ला अपने को साम्राज्यवाद का शत्रु कहते थे। वे राज-द्रोही प्रमाणित हुए।

मार्शल-लॉ का युग तो था ही। उन्हें दस वर्ष का दीपान्तर-वास का दण्ड मिला। उनकी सब सम्पत्ति भी ज़प्त कर ली गई।

अब सुधा और उनमें सिर्फ़ एक दीवार का अन्तर था। वे उस अन्धकारपूर्ण नर्क-समान द्वीप में खूनियों और डाकुओं के साथ रहने के लिये यात्रा के मुहूर्त की प्रतीक्षा कर रहे थे। रह-रहकर उनका मन विचलित होरहा था। परन्तु जेलजीवन, कालापानी यह सब कुछ उन्हें याद न आता था। वे एक मन, एक प्राण होकर सिर्फ़ सुधा के विषय में सोचा करते थे;—वह सुधा, जो उनके जीवन की संगिनी थी, जिसने उनका हाथ पकड़कर उन्हें नवीन जीवन, उत्साह और बल दिया था।

कभी-कभी सुधा के समाचार उन्हें मिल जाते थे। पर वे सुखद न होते थे। उन्हें ख़बर मिलती थी कि सुधा जेल में बीमार रह रही है। दोनों ने देश में जो ज्वाला जलाई थी, उससे इनके देखते-देखते ढेर युवक युवतियां जेल में भर गई थीं। सुधा भी अब अकेली न थी। फिर भी उसने सुधीन्द्र में प्राण अटका रखे थे। सुधीन्द्र के बिना वह कैसे रह सकती थी? फिर भी उसने मन को बहुत समझाकर धीरज दिलाया था। ये दोनों प्राणी परस्पर के लिये छटपटाकर रह जाते थे। इनके लिये एक ही सुख की बात थी। वह यह कि दोनों एक दूसरे के लिये कल्याण-कामना करें; और यही दोनों का एक-मात्र काम रह गया है।

———

५५

जेल में सुधा बहुत बीमार है। वह इतनी कमजोर होगई है कि उठ-बैठ भी नहीं सकती। यह सुनकर वे अधीर होगये! कोमलता और स्नेह की प्रतिमा को, भोली बालिका को अन्ततः कहाँ ला डाला! डाक्टरों ने कहा है कि सुधा को क्षय का सन्देह है, और उसकी उचित चिकित्सा चल रही है।

अभी कालेपानी की यात्रा में तीन दिन शेष थे! सूचना उन्हें मिल चुकी थी। क्या अब कभी सुधा देखने को न मिलेगी? क्या जीते-जी दो प्राणी, जो परस्पर गुथ गये हैं, छिन्न-भिन्न होजावेंगे? एक बार वे सुधा को देखने के लिये अधीर हो उठे।

उन्होंने जेल-अधिकारियों से सुधा से मिलने की आज्ञा माँगी। राय साहेब के उद्योग से आज्ञा मिल गई।

मई का गर्म दिन था। तीन बजे के समय पुलिस के कड़े पहरे में सुधीन्द्र जेल के स्त्री-विभाग में लाए गये। राय साहेब और उनकी पत्नी तथा अभागिनी यशोदा भी आई थीं। कुछ देर द्वार पर प्रतीक्षा के बाद ये लोग भीतर ले जाए गये।

एक साधारण कमरे में लोहे की जेल की चारपाई पर सुधा पड़ी थी। उसका मुँह सफेद होरहा था। सुधा की माता झपटकर पुत्री से लिपट गई। वे बारम्बार उनका मुँह चूमने लगीं। आँखों से आँसुओं की धारा बह रही थी। सुधा अपने उमड़ते हृदय को रोक रही थी। राय साहेब एक खम्भे की आड़ में खड़े आँखें भिगो रहे थे।

सुधीन्द्र सुधा के बिछौने के पास जा' तकिया ठीक करने के बहाने अपना उद्वेग छिपा रहे थे। उनकी आँखें लाल होरही थीं। होठ फड़क रहे थे। सुधा ने मुस्कुराकर उनकी ओर देखा। आँखें भर आईं। उसने धीमे स्वर से कहा—"जरा मुझे सहारा देकर उठा लो।" सुधीन्द्र ने सुधा को गोद में उठाकर बैठा दिया। जिस समय सुधीन्द्र झुककर सुधा को उठा रहे थे, यशोदा ने आँचल से माला निकालकर दोनों के गले में डाल दी। इसके बाद वह फूट-फूटकर रो उठी। माता ने दुखियारी बहू को सान्त्वना दी। राय साहेब यह करुणा दृश्य देखकर हट गये। सुधा ने अवसर पा, पति से कहा— 'स्वामी, ईश्वर ने हमें इस तपस्या का फल देने की ठान ली है। मैं शीघ्र ही आपकी गोद भरूँगी।" उसने मन्द हास्य से पति की ओर देखा। वह हास्य बहुत ही अधिक मूल्य का था। सुधीन्द्र ने हँसना चाहा, पर वे केवल डबडबाई आँखों से पत्नी को देखते रह गए। वे पत्नी को चूम भी न सके।

अब तक एकाध शब्द वे बोल सके थे। परन्तु अब वे मौन होगये। आँखें भरकर लाल होगई। बहुत यत्न किया, परन्तु आँसू न रुके। सुधा ने भी पति की गोद में आँसू ढरका दिये।

जेल का सब-इन्स्पेक्टर मोटर के पास खड़ा था। उसने जरा तेज आवाज में कहा –' सिर्फ़ पाँच मिनट में आप यह मुलाकात खतम कर दीजिए।"

मानों ममता और मोह के बीच क्रूर शासन मानवी लिबास में खड़ा था। सुधीन्द्र धीरे-धीरे सुधा का सिर तकिये पर रख-कर उठ खड़े हुए। अभी भी उनके हाथ में सुधा का हाथ था। वे क्षण प्रेम-स्वर्ग के सुख का अनुभव कर रहे थे। सुधा ने

राय साहेब की ओर देखकर क्षीण स्वर से कहा—

"बाबूजी!"

राय साहेब बालक की भाँति रोकर पुत्री की चारपाई पर फिर गिर पड़े। उस समय सुधा ने असीम साहस से कहा—"बाबूजी, आप इतने अधीर होते हैं? छीः!" फिर वह हँसने की चेष्टा करने लगी। अन्त में कुछ क्षण के लिये सब चुप हुए। बिदाई का समय आगया था। सुधा के प्राण एक बार छटपटा गये। उसने पति की ओर सापेक्ष दृष्टि से देखा। सुधीन्द्र उसके निकट गये। सुधा ने हाथ बढ़ाकर पति के चरण छुए। वह साहस करके बिछौने से धरती पर घूम गई। उसकी इच्छा एक बार पति के चरण चूमने की थी, परन्तु सुधीन्द्र ने लपककर उसे गोद में उठा लिया। लोक निहाज का बन्धन न रह सका। सुधीन्द्र ने सुधा को हृदय से लगाकर चूम लिया। सबकी आँखें भर आईं।

एक कर्कश आवाज आई—'समय होगया।' सुधीन्द्र वीर दर्प से खड़े होगये। जितनी ऊँचाई पर वे तन सकते थे, तन गये। उन्होंने कहा—"सुधा, हिम्मत और आशा न त्यागना; हम फिर मिलेंगे।"

"अवश्य मिलेंगे स्वामी!" सुधा ने पागल की भाँति चीत्कार करके कहा।

सुधीन्द्र ने कहा—"सुधा, तुमने जो संदेश दिया, वह और तुम्हारा प्रेम मेरे साथ है। मैं प्रत्येक क्षण आनन्दित रहूँगा। सुधा अब बोल न सकी। वह फूली हुई आँखों से पति को देखने और आँसू बहाने लगी।

इन्स्पेक्टर ने फिर कुछ कहना चाहा। इससे प्रथम ही

सुधीन्द्र जेल की मोटर में बैठ गये। उन्होंने पीछे फिरकर सुधा को न देखा। उन्होंने भरी हुई आँखों से रायसाहेब और सास का अभिवादन किया।

गाड़ी उन्हें लेकर उड़ चली—अज्ञात अन्धकारमय प्रदेश को। और दुःख और वेदना की शिला छाती पर रखकर रायसाहेब घर लौटे।

सुधा बेचारी फूल-सी सुधा, नन्हें से पति-तेज को गर्भ में धारण किये उन मनहूस दीवारों के दुर्गम दुर्ग में अकेली असहाय रह गई !!

———

५६

जेल और कालेपानी के यन्त्रणामय जीवन का वर्णन यहाँ हम छोड़ देते हैं। समझ लीजिये, कालेपानी की जेल में जो सभी को भुगतना पड़ता है, वही सब सुधीन्द्र को भी भुगतना पड़ा। सुधीन्द्र ने अद्भुत धैर्य और अध्यवसाय से वह भयानक कष्ट सहा। वह कष्ट शारीरिक और मानसिक दोनों ही प्रकार का था। उन मनहूस दीवारों के भीतर मनुष्य पशुओं से भी बदतर हालत में रहते थे। सुधीन्द्र ने समझ लिया कि जब मेरा देश सामूहिक रूप से गुलाम है, तो मुझे मानवीय अधिकार का दावा त्याग ही देना चाहिये। वे खुशी से पशु की भाँति रहने, खाने, काम करने और सोने लगे।

शुरू में परिश्रम और थकान से उनका बदन टूट जाता था। दिनभर उन्हें ज्वर रहने लगा। गालियाँ और मार एवं तिरस्कार वे सहन न कर सकते थे। उनका मन तिलामिला उठता था, पर धीरे-धीरे उन्होंने सब कुछ सहन करना सीख लिया। उन जैसे बहुतों को वहाँ के जीवन की साँसत भुगतनी पड़ती थी। वे जहाँ तक सम्भव हो सकता था, सबको किसी-न किसी भाँति सहायता देते, कई बार वे रोगी और कमजोर कैदियों के बदले काम कर देते; उनके अपराधों को अपने सिर लेकर दण्ड भुगतते। उनके इस व्यवहार से वे जेल के अधिवासियों के लिए देवता बन गये थे।

तीन वर्ष उनके साथ सख्तियाँ की गईं। वहाँ उन्हें बहुत से खूँखार मनुष्यों, नामी डकैतों और खूनियों से परिचित होने और उनके सहवास में रहने का अवसर मिला। उन्होंने सदा सबका उपकार किया, सबको सत्परामर्श दिया। बहुत बार भारी विपत्तियों से उन्हें बचाया। उनसे कुछ सीखा भी। आज तक संसार जिस पहलू को अन्धकार में डाले हुए है, उसपर उन्होंने खूब अध्ययन किया।

तीन वर्ष बाद वे 'मेट' बना दिये गये, और उनसे दफ्तर के चपरासी का काम लिया जाता रहा। परन्तु जेलर उनकी प्रतिभा, योग्यता एवं गम्भीरता और शान्त-स्वभाव पर मुग्ध था। वह उन्हें अधिक-से-अधिक आराम पहुँचाता तथा हल्का काम देता था। उसी के उद्योग का यह फल था कि वे अवधि से पूर्व ही छूटकर घर आ गये थे।

जब वे कालेपानी की उस भयानक जेल में कोल्हू के बैल बनकर तेल पेर रहे थे, तब उन्होंने इस बात की आशा त्याग

दी थी कि अब वे फिर जीते-जागते देश जा सकते हैं इस भयानक यन्त्रणामय जीवन के दस वर्ष वे काट सकेंगे, यह बात वे स्वप्न में भी नहीं सोच सकते थे। वे सब को भूलने की चेष्टा करते थे। सुधा का कोमल और आधीन एवं आतुर हृदय उनके मनोराज्य में चक्कर मार रहा था। जब वे वापस लौटे, तो उन्हें सबसे प्रथम सुधा के देखने की आशा हुई। सुधा के ध्यान में उन्होंने मार्ग काटा। दूसरा ध्यान उन्हें सुधा के उस संकेत पर होताथा, जो चलती बार उसने कहा था। उसे समझकर उनके हृदय में रक्त उछलने लगता था। वे सोचते थे क्या मेरा पुत्र अब चलता-फिरता, बोलता-चालता होगा? अरे, वह सात वर्ष का होगा! सात वर्ष! उन्होंने उँगली पर गिनकर सात तक गिनती गिनी। फिर वे हँस दिये। परन्तु तुरन्त ही वे गम्भीर हो गये। हे परमेश्वर! इन सात वर्षों में क्या कुछ और न हो गया होगा? चलती बार जेल से वे अपने लोहे के प्याले को साथ ले आये थे। वह उनका सुख-दुःख का साथी मित्र था। जेलर से वह उन्होंने माँग लिया था।

देहात के छोटे-से स्टेशन पर पुलिस ने सुधीन्द्र को उतारकर स्वतन्त्र कर दिया। 'अब वे जो-चाहे जहाँ जा सकते हैं'—यह वाक्य उनके कानों में देव-वाक्य-सा प्रतीत हुआ। पुलिस-आफीसर ने आवश्यक लिखा-पढ़ी की, सुधीन्द्र के दस्तखत लिये, कुछ पैसे उनके हाथ पर रक्खे, और उसी गाड़ी में चलता बना। सुधीन्द्र ने एकबार चारों तरफ दृष्टि उठाकर उस चिर परिचित स्टेशन को देखा। बहुत भीड़ न थी, परन्तु जो लोग वहाँ थे, वे मानों सुधीन्द्र को देख ही नहीं रहे थे। सात वर्ष बाद अपने-को फिर स्वाधीन देखकर उन्होंने

परमेश्वर को धन्यवाद दिया। कालेपाली का भयानक जीवन, जेलर की यम-मूर्ति, पठान वार्डरों के रोमांचकारी जुल्म—सब कुछ उनकी आँखों में फिर गये। उन्होंने अपने ऊपर दृष्टि की, और धीरे-धीरे वे स्टेशन के बाहर चल दिये।

बस्ती स्टेशन से चार मील के अन्तर पर थी। बहुत-से इक्के जा रहे थे उन्होंने पुलिस-अफसर के दिये पैसों पर घृणा की दृष्टि की थी। जिसने बैल की भाँति कोल्हू चलाया है, वह अब इक्के में क्या बैठेगा? उन्होंने पैसे वहीं फेंक दिये, और पोटली के वस्त्र भी। सिर्फ वह लोहे का प्याला—अपने सुख-दुख का जीवनसंगी, अपने हाथ में रक्खा। वे धीरे-धीरे पैदल ही बस्ती की ओर बढ़े।

जब वे बस्ती में घुसे तो सूरज छिप गया था। अँधेरा बढ़ गया था। उन्होंने फिर अपने फिर अपने अद्भुत वेश की तरफ घृणापूर्ण दृष्टि डाली—नंगे पैर और बढ़ी हुई दाढ़ी। वे धड़कते कलेजे से चले। वे सोचते थे कि सुधा से इस वेश में कैसे मिल सकूँगा? उसकी तो छाती फट जायगी। और वह मेरा पुत्र!

उन्हें दूर से उनका वह सुपरिचित घर दीख पड़ा। उनके हृदय में हिलोरें उठने लगीं। वे फिर सोचने लगे—इन्हीं दीवारों के परे तो मेरी सुधा है, और मेरा वह प्यारा पुत्र, जिसे मैं सुधा की कोख में छोड़ गया था। अवश्य अब वह पैरों चलने लगा होगा। सुधा ने उसे 'पिताजी' कहना अवश्य सिखा दिया होगा। मैं अभी उसे छाती से लगाकर कलेजा ठण्डा करूँगा। अरे, सुधा के प्राण तो हरे हो जायेंगे। मेरा बेटा, मेरा बेटा! उन्होंने विभोर होकर दोनों हाथ फैला दिये। उनकी आँखों से प्रेम और आनन्द के आँसू बहने लगे।

घर का द्वार खुला था, और उसमें से प्रकाश की झलक आ रही थी। घर में लोग हैं, यह स्पष्ट था, पर सुधीन्द्र एकाएक घर में नहीं जा सके। द्वार पर एक कुँआ था. वे उसी की जगत पर बैठ गये। खूब अँधेरा हो गया था, वे द्वार पर दृष्टि दिये बैठे रहे। एक स्त्री घर से निकली, और चली गई। थोड़ी देर बाद कोई मोहल्ले का बालक घर में घुस गया। सुधीन्द्र सोचने लगे—अपने ही घर में मेरा घुसना कितना कठिन हो रहा है!

थोड़ी देर में कोई व्यक्ति घर से बाहर निकला। सुधीन्द्र ने पहचान लिया, राजाराम है। उन्होंने कुछ स्पष्ट स्वर में उन्हें पुकारा। राजाराम ने सुनकर उधर देखा। उसने ठिठककर कहा—"कौन है, कौन है?"

सुधीन्द्र बोले नहीं; बैठे रहे।

राजाराम ने निकट आकर कहा—"कौन हो—भाई?"

दूसरे ही क्षण वे सुधीन्द्र से लिपटकर रोने लगे। सुधीन्द्र का हृदय भी उमड़ आया। राजाराम उन्हें घर के भीतर ले आये। भीतर आकर उन्होंने देखा—घर में सन्नाटा है, न वह शोभा है, न चहल-पहल। सिर्फ राजाराम की पत्नी घर में है, वही घर का काम-धन्धा करती फिर रही है। घर की दीवारें मानों कृतज्ञ के समान खड़ी हैं। घर की सफाई-मरम्मत भी मुद्दत से नहीं हुई है। तब क्या और लोग यहाँ नहीं हैं?

सुधीन्द्र ने धैर्य धरकर पूछा—"और सब लोग कहाँ हैं?"

राजाराम कोई उत्तर न देकर रोने लगे।

सुधीन्द्र ने शंकित चित्त से पूछा—"पिताजी कहाँ हैं?"

राजाराम ने आँसू पोंछते हुए कहा—"तीन वर्ष हो गये उन्हें.....आपके बाद भाभी के गम में वे घुल-घुलकर....."

राजाराम पूरा वाक्य नहीं कह पाये। वे आवेग के मारे रोते-रोते सुधीन्द्र गोद में गिर गये।

सुधीन्द्र के प्राण मानों आँखों में आ गये। उन्होंने राजाराम को खूब जोर से हिलाकर कहा—

"कहो-कहो भाभी की क्या बात कहते थे ? तुम्हारी भाभी कहाँ है ? सुधा—सुधा कहाँ है ?"

राजाराम बोल न सके। सुधीन्द्र की गोद में पड़े बालक की भाँति हिचकियाँ लेते रहे।

जिस गाय का बछड़ा मर जाता है, उसके समान डकराकर सुधीन्द्र ने उच्च स्वर से पूछा—"सुधा—कहाँ है सुधा ?"

राजराम ने सिर उठाया। आँसुओं से भीगी आखें सुधीन्द्र के मुख पर डालकर कहा—"उन्हें ६॥ वर्ष होगया। आपके जाने के बाद वे छूट गई थीं पर उन्होंने किसी का बन्धन नहीं माना। वे तीव्र गति से आन्दोलन में भाग लेने लगीं। उनके भाषणों से लोगों के कलेजे दहल गये। अन्त में भैया ! वे फिर जेल गईं। सारे पंजाब और उत्तर-भारत के पत्रों में उनकी यशोगाथा छपी थी, इस बार जेल वे सिर्फ़ दो मास ही रह पाईं—वहाँ उन्हें बहुत कष्ट दिये गए। वहीं समय से पहिले प्रसव हुआ और उसके दो दिन बाद ही....."राजाराम फिर फूट पड़े।

"तो सुधा अब नहीं है न ? आह। तुमने इतनी देर लगादी, और मेरा वह बेटा !" सुधीन्द्र ने उन्मत्त की भाँति आकाश की ओर हाथ पसारकर कहा—"अरे, वह बिना मुझसे विदा लिये ही चली गई, एक शब्द भी नहीं कहा—वाह !" वे उठ खड़े हुए।

उनकी चेष्टा को देखकर राजाराम डर गये। उन्होंने कसकर सुधीन्द्र को पकड़कर कहा—

"भैया, जो होगया सो होगया, अब सब्र कीजिए। आप आगये, बहुत हुआ। सब्र ही करना पड़ेगा।"

"वे क्या यहीं मरीं थीं ?"

"नहीं, मुलतान जेल में, उनका शरीर रायसाहेब को मिल गया था। मैं..."

सुधीन्द्र ने राजाराम का और वक्तव्य सुना नहीं। उन्होंने उसी उन्मत्त भाव से कहा—

"खूब रहा! वाह सुधा, तुमने खूब मेरा अनुसरण किया, खूब मेरा मतलब समझा, खूब मुझसे आगे-आगे चल दीं! मैंने कालेपानी से यहां तक दौड़ लगाई, पशु से फिर मनुष्य बना, मुर्दा से जिन्दा बना, सिर्फ तुम्हारे लिये,—पर तुम तो चली ही गईं, इतनी जल्दी! ऐसी निर्मोही! वाह सुधा, तुम खूब रहीं!"

एक बार वे 'ही-ही' करके हँसने लगे, पर तुरन्त ही धरती में लोट-लोटकर रोने लगे। एकाएक उन्होंने उठकर कहा—

"अरे हाँ, और मेरा बेटा! मेरा बेटा! मेरा पुत्र!" उन्होंने खूब कसकर राजाराम को जकड़ लिया, और कन्धा पकड़कर झकझोर डाला।

"वह तो जन्म के कुछ घण्टों बाद ही....."

"खूब बेटेजी, माँ से भी बढ़ गये! बहुत ठीक, तब पिता-पत्नी और पुत्र का तो हिसाब-किताब बराबर रहा। और, सुमित्रा कहाँ है? वह भी मर गई क्या?"

राजाराम ने नीची नजर करके कहा—

वह अपने पिता के घर है। हमने बहुत बुलाया, नहीं आती है।"

"और राजेन्द्र ? राजेन्द्र की कुछ खोज-खबर है ?"

"-मैं तीन मास पहिले जेल में उनसे मिला था, अभी उसके छूटने में एक वर्ष और है।"

"जयगोपाल कहाँ है ?"

"उस पापी का बात इस समय छोड़िये। वह क्या सामने तिमञ्जिली पक्की हवेली खड़ी है,—वह उसी की है, पिताजी को थोड़े-थोड़े रुपये देकर तुम्हारी सब जमीन-जायदाद अपने नाम से खरीद ली, अब तो वह लाखों की सम्पत्ति का स्वामी है।"

सुधीन्द्र ने कुछ देर एकटक उस भवन के झरोखों से आती हुई बिजली की रोशनी को देखा। वे कुछ बड़बड़ाए।

कुछ देर सुधीन्द्र चुपचाप बैठे रहे। राजाराम ने कुछ देर ठहरकर कहा—"कपड़े बदलिये, स्नाना कीजिये, जो होना था हो गया।" सुधीन्द्र मानो चौंक पड़े। उन्होंने नींद से जागते हुए व्यक्ति की भाँति कहा—

"तुम्हारे पास कुछ रुपये इस समय होंगे न ?"

"हाँ हाँ, हैं।"

"तब, दो।"

"कितने ?"

"दस-पाँच।"

राजाराम घर में जाकर रुपये ले आये। उनमें से कुछ

रुपये लेकर सुधीन्द्र उठ खड़े हुए। राजाराम ने कहा—

"कहाँ जा रहे हैं ?"

"अमृतसर जाऊँगा ?"

"ऐसी जल्दी क्या है ? कपड़े बदलिये, भोजन कर लीजिये। दो-चार दिन में स्वस्थ होकर जाइये।"

सुधीन्द्र ने हँसकर कहा—स्वस्थ होकर ? खूब रही !"

राजाराम ने बहुत हठ की, सुधीन्द्र ने सुना नहीं। वे बिना एक बूँद जल हलक में डाले, उल्टे पैर स्टेशन की ओर चले। इस समय आधी रात व्यतीत हो चुकी थी।

उस भयानक रात के सन्नाटे में सुधीन्द्र अकेले, नङ्गे-पैर, पैदल, भूखे-प्यासे, थके, इस भाँति जा रहे थे, जैसे डाल का टूटा हुआ सूखा पत्ता हवा के तीव्र झोके से कहीं का-कहीं उड़ा जा रहा हो।

५७

दुनियाँ सो रही थी। कुत्ते कभी-कभी नींद से चौंक पड़ते थे और आहट पाकर भौंक उठते थे। सड़क पर रोशनी जल रही थी, पहरेदार दूर-दूर चिल्ला रहे थे। सुधीन्द्र धीरे-धीरे एक के बाद दूसरी सड़क पार करते हुए उस सोते हुए नगर में जा रहे थे।

राय साहेब के मकान पर आकर वे रुक गये। उन्होंने बड़ी देर तक उस द्वार को देखा। फिर वे टकटकी लगाकर

ऊपर सुधा के कमरे की खिड़की को निहारते रहे। वह बन्द थी, और उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ—जैसा अँधेरा ही उसमें भरा हुआ है। वे किसी को पुकार न सके। वे चुपचाप सीढ़ी पर बैठ गये।

पास के घण्टाघर ने टन से १ का घण्टा बजाया। घण्टे की आवाज सुनकर वे चौंक पड़े। उन्होंने एक बार खड़े होकर फिर किसी को पुकारने की इच्छा की, पर पुकार न सके। कुछ सोचकर वे वहाँ से चल दिये। जब अमृतसर में रहते थे, उनके अनेक मित्र हो गये थे। उन मित्रों से उनकी बेहद घनिष्ठता हो गई थी। एक मित्र डाक्टर थे। सुधीन्द्र उन्हीं के दरवाजे पर पहुँचकर रुक गये। उन्होंने सोचा कि पुकारें फिर सोचने लगे —उनकी पत्नी है, देवी के समान साध्वी और एक छोटा-सा सुन्दर शिशु है फूल के समान कोमल। उनकी सुखद गृहस्थी है, प्यारी नींद है. मैं उनकी नींद में बाधा क्यों दूँ ? इस वेश में मैं वहाँ क्यों जाऊँ ? कोल्हू का बैल बनकर मैं अब किसी सभ्य-समाज में भी जा सकता हूँ ?—पत्नी, पुत्र, पिता-माता, परिजन—सबसे छिन्न-भिन्न होकर भी क्या मैं किसी सद्गृहस्थ को मुँह दिखा सकता हूँ ? छी छी !" वे कुछ देर उनके बन्द द्वार पर बैठकर सोचने लगे।

पहरेदार ने आकर सन्देह से पूछा—

'कौन हो तुम ?'

"एक गरीब मुसाफिर।"

"यहाँ क्यों बैठे हो ?"

"भूखा-प्यासा और थका हुआ हूँ।"

पहरेदार ने निकट आकर गौर से देखा। कहा—

"पक्के चोर मालूम पड़ते हो ? थाने चलो।"

"चलो भाई।" सुधीन्द्र उठ खड़े हुए।

पहरेदार ने कहा—"कुछ टेंट में हो तो निकाल—नहीं बच्चा लदोगे १॥ साल को।"

'टेंट में कुछ नहीं है भाई।"

पहरेदार ने घूरकर कुछ देर देखा—फिर एक धक्का देकर कह उठा—"चल भाग यहाँ से खब्बीस! यहाँ मेरा पहरा है।"

पहरेदार का धक्का खाकर सुधीन्द्र वहाँ से चल दिये। वे गलियों का चक्कर काटते हुए एक दूसरे मित्र के द्वार पर पहुँचे। ये महाशय वकील थे; रायसाहेब के सम्बन्धी भी। यहाँ आकर भी सुधीन्द्र आवाज न लगा सके। वे ऊपर को सिर किये बड़ी देर खड़े रहे, फिर वहाँ से चल दिये।

तीन बज चुके थे। तब सुधीन्द्र कई जगह घूम फिरकर फिर रायसाहेब की ड्योढ़ी पर आ गये। थकान, भूख और नींद ने उन्हें बेहाल कर रखा था। वे वहीं सीढ़ियों पर लेट गये, लेटते ही आँख लग गई।

भोर हो रहा था। एकाध पक्षी जागकर बोल रहे थे, ठंडी और भीनी हवा चल रही थी। नौकर ने उठकर आँख मलते-मलते दर्वाजा खोला, सीढ़ियों पर किसी को पड़ा देख, वह आग बबूला हो गया—साले को मरने की कहीं जगह ही नहीं है!' यह कहकर उसने एक लात जमाकर कहा—"उठ, ओ अभागे; भाग यहाँ से।"

सुधीन्द्र हड़बड़ाकर उठ बैठे। उन्होंने नौकर की आवाज पहचानकर कहा—"कौन रघुनाथ, तुम हो?"

रघुनाथ ने झुककर देखा—तुरन्त जमाई बाबू को पहचानकर उनके पैरों में गिर गया। उसने रोते रोते कहा—"क्षमा करना भैया, मुझसे अपराध बना।"

सुधीन्द्र ने उसे छाती से लगाकर कहा—"रघुनाथ ! प्यारे रघुनाथ ! कहो, सब लोग भीतर कुशल से तो हैं ?" उन्होंने उसे और जोर से छाती से लगा लिया।

रघुनाथ की हिल्कियाँ बँध गई थीं। वह छूटकर भीतर भागा। क्षण-भर बाद रायसाहेब गिरते पड़ते बाहर आये। सुधीन्द्र के पास आकर वे ठोकर खाकर गिर गये। सुधीन्द्र ने उन्हें उठाया। रायसाहब लिपट गये। घर के सब स्त्री-पुरुष वहाँ जुट गये।

दिन निकल आया था। सुधीन्द्र रायसाहेब के पैरों में सिर देकर पड़ गये। उन्होंने देखा—अब ये वे रायसाहेब नहीं हैं, जिनका चेहरा लाल-लाल दलकता था, और जो शेर की तरह दहाड़ते थे। अब वे सूखी हड्डियों के ढेर थे, शरीर काला पड़ गया था, चेहरा सूख गया था, सुधीन्द्र ने हाहाकार करके कहा—"आपने यह दशा अपनी कर ली !"

रायसाहेब ने ठण्डी साँस ले, सूखे गले से कहा—

"चलो बेटा भीतर, अपनी सास के भी दर्शन कर लो। चलाचली का वक्त है, खूब आये।"

सुधीन्द्र अधीर होकर भीतर आए। गृहिणी रोगशैया पर पड़ी थी, अर्धमूर्छा में थीं। यशोदा ने पुकारकर कहा—

"अम्माजी, नन्दोई भाई आए हैं।"

वृद्धा ने आँख फाड़कर देखा—सुधीन्द्र चारपाई की बगल में बैठ गए। वृद्धा ने होश में आकर देखा, उनके सिर पर हाथ फेरा, और उनकी आँखों से आँसू बहने लगे। उनके मुँह से शब्द निकला—

"अच्छे आए मेरे बेटे !"

थोड़ी देर में सुधीन्द्र के आने का समाचार सब इष्ट-मित्रों में पहुँच गया। सब लोग दौड़े आए। अभी तक सुधीन्द्र ने न कुछ खाया था, न पिया था। उनके शरीर पर भी वही मैले वस्त्र थे। दाढ़ी बढ़ी हुई थी, चेहरा सूखा था। सब ने आग्रह करके उनकी हजामत कराई, स्नान कराया और कुछ खिला-पिलाकर आराम करने को कहा। परन्तु सुधीन्द्र सब कामों से निपटकर वृद्धा के पलँग के निकट आ पहुँचे. और अपने हाथ से सुश्रूषा करने लगे। उनकी तत्परता और चिकित्सा की व्यवस्था-सेवा से गृहिणी बहुत कुछ स्वस्थ हो गईं परतु जिस दिये का तेल जल जाय, उसकी लौ कब तक बलेगी? कलेजे का घाव साधारण न था। वह घुल चुकी थीं। दूसरे दिन उसने सबको बुलाकर इकट्ठा किया। इसके बाद उसने कहा,—

"अब मेरा समय भैया के पास जाने का आ गया। मैं वहाँ जाकर सुखी होऊँगी, आपलोग मेरा रंज न करना।" फ़िर उसने रायसाहब को लक्ष्य करके कहा—

"सुधीन्द्र को सुखी करके मेरे पास आना नाथ!" इसके बाद उसके सूखे गालों पर आँसू बह चले। उसने सुधीन्द्र के सिर पर हाथ धर के कहा—

"बेटे, तुम्हारी माँ की बहुत तारीफ सुनी थी। उनके दर्शन अब स्वर्ग में होंगे। पुत्र, जीवन से निराश न होना। अन्त तक अपने आप से लड़े जाना।"

सुधीन्द्र ने सिर झुका लिया। वह चुप हो गयीं। उसी रात को गृहिणी ने प्राण त्यागा।

५८

अब सुधीन्द्र को पेशेवर देश-सेवकों ने घेर लिया। उन्हें देश की सेवा के क्या-क्या काम करने चाहिये, इसकी बढ़-बढ़कर तजवीजें होने लगीं। बढ़ावा दिये जाने लगे। सुधा के और उनके पुराने कारनामे गाए जाने लगे। सुधीन्द्र चुपचाप सब की सुनते रहे; किसी को भी किसी प्रकार का जबाब नहीं दिया। धीरे-धीरे सब विलीन होने लगे।

जेल जाने के प्रथम सुधीन्द्र ने अपना पत्र और प्रेस अपने एक मित्र के सुपुर्द कर दिया था। उनके सामने भी वे ही उसके कार्यकर्त्ता और सब-कुछ थे। जेल जाने पर उन्होंने उन्हें सब भाँति कानूनी तौर पर मुख्तार बना दिया था।

सात साल में उनमें बहुत परिवर्तन हो गया था। प्रेस तो उन्होंने दिवालिया बना बनूकर बेच दिया था। जो रुपया बैंक में था, वह भी कर्जे में चला गया था। परन्तु अब वे स्वयं बड़े प्रसिद्ध लीडर बन गये थे। खद्दर पहनते थे, और कांग्रेस की प्रत्येक हलचल में भाग लेते थे। प्रेस-आदि के सम्बन्ध में सुधीन्द्र प्रथम ही सुन चुके थे। जब मिलने आये तो सुधीन्द्र ने उनसे अपनी चर्चा नहीं की। उन्होंने कुछ प्रसङ्ग चलाना चाहा, तो सुधीन्द्र ने उन्हें रोक दिया। मिलने के वे दिन भी न थे, न वह हृदय-ही था। जीवन में गाँठें पड़ गई थीं। सब मिलनेवालों की भाँति वे भी धीरे-धीरे कम आने लगे। सुधीन्द्र को अपने जीवन पर विचार करने का बहुत समय मिला।

सुधीन्द्र ने सबसे मिलना-भेंटना एकबारगी ही त्याग दिया, मिलनेवाले बिना मिले ही लौटने लगे। वे अपनी कोठरी में

प्रायः दिन-रात पड़े सोते रहते। पढ़ना-लिखना भी वे त्याग बैठे। महीनों वे बाल नहीं बनवाते, कई-कई दिन तक नहाते भी नहीं; मैले और फटे वस्त्र पहिने पड़े रहते। रायसाहेब ने बहुत समझाया, रोये-पीटे परन्तु कुछ भी नतीजा नहीं निकला। यशोदा सुधीन्द्र की सब भाँति सेवा करने की यत्न करती थी। रायसाहेब की छोटी कन्या राधा विधवा होकर यहीं रहती थी। वह बहुधा सुधीन्द्र से आँख बचाकर उनका बिछौना ठीक कर जाती, सुराही में पानी भर जाती। वह सुधीन्द्र के सामने लजाती थी। 'जीजाजी, का मधुर शब्द अब उसके मुँह से नहीं निकल पाता था, सुधीन्द्र बहुधा टकटकी बाँधकर उसे देखा करते थे। उसका पूरा यौवन अभी तक विकसित नहीं हुआ था, फिर भी वह मुर्झा गई थी। इस घर की श्री-ही नष्ट हो गई थी। सुधीन्द्र को वे दिन याद थे, जब वे प्रथम बार सुसराल गये थे, अनिर्वचनीय आनन्द और उल्लास पाया था। भीतर सुधा का शृङ्गार हो रहा था। वह बालिका क्षण भर में भीतर और क्षण-भर में बाहर तितली की भाँति उछलती फिरती थी। उस समय शायद अदृश्य हँस रहा था·····समय ने आज हरे भरे गृहस्थ को सूखा और वीरान बना दिया।

सुधीन्द्र के कुछ मित्र अब भी सुधीन्द्र को सुखी और प्रसन्न किया चाहते थे। वे उन्हें अपने घर आमन्त्रित करने का हठ करते, भोजन कराना चाहते थे, पर सुधीन्द्र साफ इनकार कर देते। उनकी हठ देखकर मित्रों ने उनसे आग्रह करना त्याग दिया।

वे अपने चारों ओर शून्य ही-शून्य देखते थे। उन्हें अपने हृदय का हाहाकार स्पष्ट सुनाई देता था। जीवन उन्हें दुःखपूर्ण हो रहा था। किसी वस्तु में उन्हें रस न था, आकर्षण न था,

तुम्हें तो इस भाँति देखकर मेरे प्राण सूखते हैं, मैं तुम्हें रोते नहीं देख सकता। रोओ मत राधा, मेरी बहिन, मेरी पवित्र बहिन !" सुधीन्द्र एक बार काँप उठे, और फिर उनकी आँखों से भी जल-धार बह चली।

यशोदा ने आँसू पोंछकर भरे कण्ठ से कहा—"अब आप भी मत रोइये, मुझे एक धरोहर आपके सुपुर्द करनी है, जीजी ने मरती बार वह मुझे दी थी।"

सुधीन्द्र पागल की भाँति मुँह फाड़कर राधा की ओर देखने लगे। उनके हृदय की गति रुक गई।

राधा बैठ गई। उसने धरती पर दृष्टि गाड़कर कहा—"जीजी अपना पुत्र आपको सौंप देने को मुझे दे गई थीं। वह सात वर्ष से मेरे पास है, यह बात किसी को भी मालूम नहीं, जीजी की ऐसी ही आज्ञा थी।"

"पुत्र ? सुधा का पुत्र !!" मेरा पुत्र !!" सुधीन्द्र आवेग के मारे उठ खड़े हुए। वे झपटते हुए राधा के पास पहुँचे। उन्होंने एक प्रकार से चीखकर कहा—"मेरा पुत्र ! मेरा पुत्र !!"

राधा भयभीत होगई। उसने कहा—"शान्त होकर बैठिये।"

सुधीन्द्र ने आपे से बाहर होकर कहा—"कहाँ है मेरा पुत्र ? मेरा प्यारा पुत्र ! अरे, मुझे बताओ, मुझे दिखाओ।"

राधा ने आँचल से एक छोटी सी शीशी निकालकर सुधीन्द्र के हाथ में दे दी।

सुधीन्द्र ने काँपते हाथों से उसे हाथ में लिया, और धुन्ध-भरी आँखों से देखा। उस छोटी-सी शीशी में स्प्रिट में डूबा हुआ एक चार मास का गर्भ-पिण्ड है। उसके सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग स्पष्ट होरहे हैं। उन्होंने दोनों हाथों से उसे खूब जोर से छाती से लगाकर कहा—'तो क्या यही मेरा पुत्र है ?"

"जी हाँ।"

"और तुमने उसे ७ वर्षों से छिपाकर यत्न से रखा ?'

"जी हाँ, जीजी ने मरती बार कहा था, मेरे पुत्र को नष्ट न करना। वे जब कभी जीवित लौटें, उनकी गोद में इसे देना, और कहना, अब तो आप बेटे के बाप हुए।"

"सुधा ने यह कहा था ?" सुधीन्द्र ने आँखें फाड़कर कहा।

"जी हाँ, और यह भी कि यदि वे जीवित न लौटें·····

"तब ? तब क्या करने को कहा था, राधा ?"

"उन्होंने कहा था—'इसे तुम जब तक जीओ, पास रखना और अपने साथ चिता पर ले जाना, पर यदि उन्हें सौंप सको, तो ऐसा ही करने को उन्हें कह देना'।"

सुधीन्द्र के नथुने फूल गये। दोनों हाथों से उन्होंने उस पिण्ड को छाती में जोर से दबा लिया, फिर आकाश की ओर देखकर कहा—

"ऐसा ही होगा राधा, तुमने हम लोगों पर बड़ा अहसान किया। हम लोग जन्म-जन्म तुम्हारे ऋणी रहेंगे।"

सुधीन्द्र की अधीरता राधा न देख सकी। वह वहाँ से उठकर चली गई। वह दिन-भर अपने कमरे में पड़ी रोती रही।

— ——

उपसंहार

दूसरे दिन सब ने उठकर देखा, सुधीन्द्र वहाँ नहीं थे। सिवा एक धोती और कुर्ते के—जो शरीर पर थी—और सब कुछ वहीं था। बहुत कुछ खोज-जाँच की गई, पर उनका कुछ भी पता न चला।

× × ×

२० वर्ष बाद राधा और यशोदा तीर्थयात्रा को निकली थीं। एक दिन सन्ध्या-समय काशी में दशाश्वमेध घाट पर उन्होंने एक अर्द्ध-विक्षिप्त को देखा। उसका शरीर अत्यन्त घिनौना हो रहा था; शायद वर्षों से उसने स्नान नहीं किया था। उसके शरीर पर फटे हुए चिथड़े थे। वे मैल से बिलकुल गन्दे हो रहे थे। बाल बढ़कर बेतरतीब होरहे थे। उसका शरीर बहुत कृश था।

राधा और यशोदा घाट पर बैठी पूरियाँ खा रही थीं। जब खाना लगभग समाप्त कर चुकीं तो वह पागल उनके पास धीरे-धीरे आकर खड़ा होगया। उसकी इच्छा थीकि वे लोग खाकर जब दोने फेंकें तो वह उठा ले। २-३ कुत्ते भी वहाँ इसी इच्छा से खड़े थे, उन्हें उसने दुत्कार दिया।

राधा ने उसकी ओर ध्यान से देखा। सहस उसके हाथ का ग्रास छूट गया। राधा ने देखा, पागल के हाथ में एक छोटी-सी शीशी है। उस शीशी को पहचानकर वह उठ खड़ी हुई। उसने घबराकर कहा—"भाभी। देखो तो!"

यशोदा ने देखा और वह भी खाना छोड़, पागल की तरफ आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगी। उनकी यह दशा देख, पागल ने घबराकर अपनी शीशी खूब कसकर मुट्ठी में दबाकर छाती से लगा ली, और क्षण-भर उसने दोनों स्त्रियों को आँखें फाड़-फाड़-कर देखा। फिर वह एक चीत्कार करके वहाँ से भागकर भीड़ में मिल गया। दोनों स्त्रियाँ बहुत यत्न करने पर भी उसका कुछ पता न पा सकीं।

समाप्त